Sāṅkhyakārikā of Īśvarakṛṣṇa
- Edited with a commentary,
Tattvaprabhā, Anvaya and translation
in Hindi by Ramāśaṅkara Tripāṭhī
- and also a commentary yuktidīpikā by some anonymous author. Benares, 1970.

(25)

सांख्य कारिका

७८

ईश्वर कृष्ण

ईश्वरकृष्णविरचिता

सांख्यकारिका

डॉ० रमाशङ्करत्रिपाठिविरचितया तत्त्वप्रभाख्यया व्याख्यया
अज्ञातकर्तृकया युक्तिदीपिकाख्यया विवृत्या च विभूषिता

राष्ट्रभाषाव्याख्यानादिकर्ता सम्पादकश्च

डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी

व्याकरणाचार्यः, एम. ए., पी-एच. डी., संस्कृतपालिविभागः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी—५

प्रकाशक

बालकृष्ण त्रिपाठी

बी० २/२४२, भदैनी, वाराणसी

प्रकाशक:

बालकृष्ण त्रिपाठी

बी० २/२४२, भदैनी, वाराणसी।

प्रथमं संस्करणम् : १९७०

मूल्यम् :

मुद्रक :

मोहनलाल

केशव मुद्रणालय

पाण्डेयपुर पिसनहरिया, वाराणसी–२

Dedicated

To

Dr. Siddheśwara Bhaṭṭacharya, as a token of sincere respect and gratitude.

प्राक्कथन

अभी पी-एच० डी० की उपाधि लेकर निकला ही था कि सौभाग्य से भक्तिहृदय 'वन' महाराज के स्नातकोत्तर महाविद्यालय (Post graduate college) वृन्दावन में संस्कृत के अध्यापन का सुअवसर मिल गया। वहाँ अपेक्षाकृत अन्य कठिन विषयों के साथ ही दर्शन पढ़ाने का भार मेरे कन्धों पर डाला गया। दूसरे लोग इस कार्य में भले ही कठिनाई समझते रहे हों, किन्तु मेरे लिये यह सामान्य बात थी। फलतः सफलतापूर्वक अध्ययन-अध्यापन का क्रम चलता रहा। विद्यार्थियों को सांख्यकारिका की कारिकाओं के ही साथ गौडपादभाष्य तथा तत्त्वकौमुदी भी पढ़ाई जाती थी। तत्त्वकौमुदी एवं गौडपादभाष्य के विस्तार तथा कुछ काठिन्य को देखकर विद्यार्थियों ने सांख्यकारिका पर मुझसे संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्या लिखने का बहुत बार अनुरोध किया। वे मेरे प्रति सर्वदा अत्यन्त श्रद्धालु तथा विनम्र रहे। अतः उनके अनुरोध को अस्वीकार करना मेरे लिये कठिन था। फलतः मैंने तत्काल सांख्यकारिका पर तत्त्वप्रभा नामक संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्या लिखना प्रारम्भ कर दिया। सांख्यकारिका तथा सांख्य के अन्य कतिपय प्रकाशित ग्रन्थों को पूज्य स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती के वृन्दावनस्थ आश्रम के पुस्तकालयाध्यक्ष मुनिकल्प पं० हरिहरनाथ जी पाण्डेय ने सस्नेह उपलब्ध करा दिया। बस, क्या था? पुस्तकविषयक कठिनाइयों के दूर होते ही काय द्रुतगति से आगे बढ़ने लगा। फलतः चार-साढ़े चार महीने में अधिकांश कार्य समाप्त कर लिया गया। इसी समय १३ फरवरी १९६८ को काशीहिन्दूविश्वविद्यालय की सेवा करने का सुयोग मुझे मिला। मैं तुरन्त वाराणसी चला आया और कार्य का समापन यहीं हुआ।

तत्त्वप्रभा के प्रकाशन की बात चल रही थी। इसी बीच कुछ विद्वानों ने सुझाव दिया—अपनी व्याख्या के साथ प्राचीन टीका युक्तिदीपिका को देकर इस ग्रन्थ को आप क्यों नहीं प्रकाशित कराते? बात विचारणीय मालूम हुई। विचार करने पर आचरणीय प्रतीत हुई। फिर कार्य की ओर अग्रसर हुआ। कलकत्ता और वाराणसी

से प्रकाशित युक्तिदीपिका का मनन आरम्भ किया। कुछ यहाँ उपलब्ध हस्तलेखों से भी सहायता ली गई। यथासम्भव शुद्ध पाठ की दिशा ठीक होते ही हस्तलेख प्रेस में भेज दिया गया। यद्यपि इस कार्य में काफी कठिनाइयों का भी सामना मुझे करना पड़ा किन्तु मेरे हिमालय जैसे उत्तुङ्ग उत्साह ने इन कठिनाइयों को कभी भी तृण से अधिक गौरव नहीं प्रदान किया। और अब यह कार्य अपने परिनिष्ठित रूप में विद्वानों विचारकों, आलोचकों और विद्यार्थियों की सेवा में उपस्थित है। यदि इससे मानवता और विचार–सरणि को कुछ भी प्रकाश मिल सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

युक्तिदीपिका अत्यन्त प्राचीन टीका है। इसे प्रकाशित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। किन्तु दुःख है कि प्रयास करने पर भी इसके विद्वान् लेखक के विषय में कुछ भी ज्ञात न हो सका। जो लोग वाचस्पति मिश्र को इसका कर्ता मानते हैं, उनका विचार भ्रामक है; उपेक्षणीय है। युक्तिदीपिका को वाचस्पति से भी प्राचीन होना चाहिए।

अपनी इस कृति को मूर्तरूप देने में मुझे जिन विद्वान् लेखकों की कृतियों से प्रेरणा तथा सहायता मिली है, उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ।

अन्त में मैं अपने उन सहयोगियों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मेरी सहायता की है।

रामनवमी — रमाशङ्कर त्रिपाठी

वि० सं० २०२७ — १५–४–१९७०

प्रस्तावना

महामुनि कपिल के द्वारा प्रचारित सांख्य-सिद्धान्त सभी दर्शनों में प्राचीनतम है। उपनिषदों[1], रामायण, महाभारत तथा पुराणों में—सर्वत्र यह सिद्धान्त भरा पड़ा है। इसके प्रचार को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह दर्शन पुराने जमाने में बहु-प्रचारित तथा लोक-प्रिय दर्शन रहा। अन्य दार्शनिकों की ही तरह बौद्धों के ऊपर भी सांख्य का बड़ा प्रभाव पड़ा है। गौतमबुद्ध के मौलिक सिद्धान्त सांख्य से ही लिये गये हैं। दुःख की सत्ता, वैदिक कर्मकाण्ड की हेयता, ईश्वर की सत्ता पर अनास्था आदि सिद्धान्तों को बुद्ध ने सांख्य दर्शन से ग्रहण किया है।

सांख्यदर्शन तत्त्वदर्शन भी कहा जाता है। इसमें तत्त्वों की गणना की गई है। तत्त्वों की कल्पना तथा सृष्टि-प्रक्रिया में उनका योग तथा स्थान-निर्देश—ये सब कुछ सांख्याचार्यों के अपने पूर्ण मौलिक सिद्धान्त हैं। बाद के सभी दर्शनों ने सांख्य की इस तत्त्व-प्रक्रिया का पूर्ण या अधिकांश उपयोग किया है। तात्त्विक प्रक्रिया के निरूपण के लिये प्रायः सभी दर्शन सांख्य के ऋणी हैं।

'सांख्य' नाम पड़ने का कारण

सांख्य-सिद्धान्त में सृष्टि की उत्पत्ति के साधन के रूप में पच्चीस तत्त्वों की कल्पना की गई है। इनमें प्रकृति कर्त्री और अचेतन तथा पुरुष तटस्थ एवं चेतन कहा गया है। सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था ही प्रकृति है। प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसे बुद्धितत्त्व भी कहा गया है। बुद्धितत्त्व से अहङ्कारतत्त्व तथा अहङ्कारतत्त्व से पञ्चतन्मात्राएँ और एकादश इन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इनमें पुरुष चेतन है और बाकी सब अचेतन।

इसी तत्त्व-गणना के कारण यह दर्शन सांख्य कहा जाता है—संख्यायन्ते=गण्यन्ते तत्त्वानि येन तत् सांख्यम्। तत्त्वों की गणना कर, उनके ठीक-ठीक रूपों को समझाकर प्रकृति एवं पुरुष का पृथक् भाव से ज्ञान कराना ही इस दर्शन का प्रधान ध्येय है। इस कारण से भी इसे सांख्य कहते हैं—संख्यायते प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरूपोऽवबोधो सम्यग्ज्ञाप्यते येन तत् सांख्यम्। सांख्यसार में इसी अन्तिम अर्थ को ही लेकर कहा गया है—

'शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।' इस तरह देखा गया कि 'सांख्य' शब्द संख्या तथा ज्ञान दोनों अर्थों को ध्यान में रखकर प्रयुक्त किया गया है। अथवा यह

---

१ विशेषतः कठ, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर तथा मैत्री में।

कह सकते हैं कि प्राचीन काल में संख्या शब्द से गणना एवं ज्ञान—ये दोनों ही अर्थ समझे जाते थे। इसी बात को सूचित करते हुए महाभारत में कहा गया है—

'संख्यां प्रकुर्वते चैव, प्रकृतिञ्च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत्, तेन सांख्यम्प्रकीर्तितम् ॥'

सांख्य-प्रणेता महर्षि कपिल

भारत के अतीत में कपिल नामक चार व्यक्तियों का विवरण उपलब्ध होता है। उनमें एक कलियुग में हुए, जो गौतम ऋषि के वंशज थे और जिनके नाम पर कपिल-वस्तु नगर की स्थापना हुई थी। दूसरे कपिल वे हुए, जो ब्रह्मा जी के मानस पुत्र थे तथा जो मूल ज्ञानी कहे जाते हैं। तीसरे कपिल अग्नि के अवतार थे। चौथे कपिल वे थे, जो देवहूति एवं कर्दम ऋषि के पुत्र थे।[1]

भागवत के तृतीय स्कन्ध में प्रजापति कर्दम और मनुपुत्री देवहूति का पुत्र कपिल ही विष्णु का अवतार बतलाया गया है और इसी को सांख्य का आदि प्रवर्तक भी माना गया है।[2] वस्तुतः पौराणिक वर्णन-पद्धति तथा भाषाडम्बर को ठीक रूप से समझकर विचार किया जाय तो देवहूति और कर्दम के पुत्र ही विष्णु के अवतार, ब्रह्मा जी के मानसपुत्र तथा अग्नि के अवतार थे। पुराणों में कपिल विषयक वर्णनों की विभिन्नताओं को देखकर कोलब्रुक, जैकोबी और मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कपिल को जो कल्पित व्यक्ति माना है उसमें भी प्रधान कारण है—पौराणिक पद्धति एवं वर्णन विषयक उनका अज्ञान। यदि वे पौराणिक प्रक्रियाओं को जानते होते तो कथमपि ऐसा न कहते।

सांख्य-साहित्य

सांख्यदर्शन का साहित्य अति विशाल है। सांख्य में इस समय 'तत्त्व समास' तथा 'सांख्यप्रवचन'—ये दो सूत्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पञ्चशिखाचार्य के द्वारा रचित 'षष्टितन्त्र' नामक विशाल ग्रन्थ भी कभी सांख्यदर्शन की महत्ता का डिण्डिमघोष करता था। किन्तु दुःख है कि आज वह अनुपलब्ध है। सांख्य के प्राप्त मूल ग्रन्थों में ईश्वरकृष्ण के द्वारा रचित 'सांख्यकारिका' अत्यन्त प्रसिद्ध तथा पूर्ण व्यापक ग्रन्थ है। वस्तुतः सम्प्रति उपलब्ध सांख्य-साहित्य की सारी आधारशिला सांख्यकारिका ही है। सांख्य के अन्य मौलिक ग्रन्थों की भाँति यदि काल के प्रवाह से सांख्यकारिका भी विलुप्त हो गई होती तो इतना निश्चय है कि दर्शन-जगत् से सांख्य का नाम कट गया होता या उद्धरणों में नामशेष रहा होता। सांख्यकारिका पर माठर-वृत्ति, गौडपादभाष्य, जयमङ्गला, सांख्य-

---

१–कृष्णशास्त्री तैलंग—सरस्वती (पत्रिका) अगस्त १९१६ ई०।

२–भागवत, स्कन्ध ३, अध्याय, २१, श्लोक ३२; अध्याय २४ श्लोक १९, ३६; अध्याय २५, श्लोक १।

तत्त्वकौमुदी तथा युक्तिदीपिका—ये प्राचीन टीकाएँ तथा सांख्यतरुवसन्त, सांख्यचन्द्रिका एवं तत्त्वप्रभा—ये अर्वाचीन टीकाएँ हैं। इनमें वाचस्पतिमिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी अति प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक टीका मानी जाती है। इनके अतिरिक्त अनिरुद्ध (१४५० ई०) ने 'सांख्यसूत्रवृत्ति', महादेव (१६०० ई०) ने सांख्यसूत्रवृत्तिसार', नागेश (१७०० ई०) ने 'लघुसांख्यसूत्रवृत्ति', विज्ञानभिक्षु (१६०० ई०) ने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' तथा सांख्यसार आदि ग्रन्थों को लिखकर सांख्यशास्त्र को महिमामण्डित किया है। विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावगणेश (१६५० ई०) ने 'सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन' नामक ग्रन्थ लिखकर सांख्य के सिद्धान्तों को विशदता से विवेचित किया है।

महर्षि कपिल के नाम से आज-कल दो ग्रन्थों की उपलब्धि है। इनमें पहला है—तत्त्वसमास और दूसरा है—सांख्यप्रवचनसूत्र। सांख्यप्रवचनसूत्र अत्यन्त आधुनिक है। किसी धूर्त विद्वान् ने सांख्यकारिका की कारिकाओं को तोड़-तोड़ कर सूत्र का रूप प्रदान कर दिया है और आवश्यकतानुरूप अपनी ओर से भी कुछ सूत्रों की रचना कर दी है। अतिसामान्य व्यक्ति भी सांख्यप्रवचनसूत्र की नवीनता को उसे पढ़ते ही समझ लेगा। 'तत्त्वसमास' बाईस (२२) सूत्रों का एक लघुकाय ग्रन्थ है। यह अपेक्षाकृत प्राचीन अवश्य है, किन्तु यह कपिल की ही कृति है कि नहीं, इस विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। फिर भी विशेषज्ञ लोगों का एक दल है जो इसे कपिल की कृति मानता है।

कपिल के शिष्य आसुरि थे। इनके नाम एवं सिद्धान्तों का उल्लेख प्राचीनग्रन्थों में बहुधा मिलता है। आसुरि के शिष्य थे—पञ्चशिख। ये ही 'षष्टितन्त्र' के प्रणेता थे। व्यासभाष्य में इनके कतिपय सिद्धान्तसूत्र उद्धृत किये गये हैं।

सांख्यकारिका

भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य में सांख्य-सिद्धान्त की विवेचना के अवसर पर सांख्यसूत्रों का उद्धरण न देकर सांख्यकारिका की कारिका को उद्धृत किया है। इससे सांख्यकारिका की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता प्रमाणित होती है। चीनी भाषा में इसका अनुवाद छठी शताब्दी में हुआ था। चीनी भाषा में यह कारिकाग्रन्थ 'हिरण्य-सप्तति'— स्वर्णसप्तति'— इस नाम से प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए यदि सांख्यकारिका की प्रसिद्धि के लिये एक सौ वर्ष का काल माना जाय तो ईश्वरकृष्ण का समय ईसा की चौथी शताब्दी ठहरता है। किन्तु वस्तुतः ईश्वरकृष्ण का काल इससे भी काफी पूर्व सिद्ध होता है। सांख्यकारिका के टीकाकार आचार्य माठर कनिष्क के शासन काल में थे। अतः ईश्वरकृष्ण कनिष्क (तीसरी ईस्वी) से पूर्व सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वरकृष्ण की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये दूसरी बात यह है कि—आधुनिक विद्वानों द्वारा ईस्वी प्रथम शतक

का अनुमान किये जाने वाले प्राचीन जैनग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' में 'काविलं, सट्ठितन्त्रं तथा माठरं के साथ 'कनगसत्तरी' (संस्कृत 'कनकसप्तति') नामक ग्रन्थों का उल्लेख है[1]। विद्वानों की धारणा है कि यह ईश्वरकृष्ण का 'सांख्यसप्तति', जिसे चीनी भाषा में 'हिरण्यसप्तति' 'स्वर्णसप्तति' कहा गया है, नामक ग्रन्थ ही है। इस बातको ध्यान में रखते हुए निश्चय होता है कि ईश्वरकृष्ण को ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद नहीं रक्खा जा सकता।

सांख्य के सिद्धान्त

सांख्यदर्शन ने सृष्टि के सञ्चालन, भोग एवं अपवर्ग के लिये पच्चीस तत्त्वों की कल्पना की है। इन तत्त्वों का वर्गीकरण चार तरह से किया गया है—(१ प्रकृति (२) विकृति (३) प्रकृति-विकृति, और (४) प्रकृति-विकृति से रहित पुरुष[2]। कोई तत्त्व केवल प्रकृति ही है, कोई केवल विकृतिमात्र है और कुछ प्रकृति तथा विकृति दोनों ही हैं तथा कोई न प्रकृति है तथा न विकृति ही। इनमें सत्त्व, रज एवं तम की साम्यावस्था प्रधान ही प्रकृति है। वह किसी का विकार नहीं है। उसका कोई उत्पादक नहीं है। यह प्रकृति ही महत् आदि तत्त्वों को उत्पन्न करती है। केवल उत्पादिका ही होने के कारण इसे प्रकृति कहते हैं। यही सारे जगत्प्रपञ्च का मूलकारण है। इसका कोई दूसरा तत्त्व मूलकारण अर्थात् उत्पादक नहीं है। प्रकृति-विकृतियाँ सात हैं—(१) महत् तत्त्व (२) अहङ्कार तथा (३) पञ्चतन्मात्राएँ। ये सात तत्त्व किसी न किसी तत्त्व से उत्पन्न होते हैं तथा किसी न किसी तत्त्व को उत्पन्न भी करते हैं। अतः ये प्रकृति= उत्पादक और विकृति = दूसरे से उत्पन्न हैं। विकृतियाँ सोलह हैं—(१) पाँच महाभूत तथा (२) ग्यारह इन्द्रियाँ। ये दूसरे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, किन्तु किसी को उत्पन्न नहीं करते हैं। पच्चीसवां तत्त्व न प्रकृति है और न विकृति है। यह न किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न ही करता है। यही पच्चीस तत्त्वों का समूह है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि सांख्य-दर्शन में पुरुष शब्द आत्मा तथा परमात्मा—दोनोंका वाचक है।

त्रिविध प्रमाण

सांख्याचार्यों ने दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान और आप्तवचन—इन तीन ही प्रमाणों को स्वीकार किया है। वे इन तीन ही प्रमाणों में अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव मानते हैं।

१–द्रष्टव्य अनुयोगद्वारसूत्र का ४१ वां सूत्र।

२ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ [सां० का० ३]

त्रिविध गुण

सांख्य के मत में तीन गुण होते हैं—सत्त्व, रजस् तथा तमस्। इन्हीं तीनों गुणों का वैषम्य (न्यूनाधिक-भाव) होने पर ही प्रकृति से सृष्टि उत्पन्न होती है। सत्त्वगुण लघु (हलका), प्रकाशक और आनन्ददायक होता है। रजोगुण स्वयं चञ्चल होता है और दूसरों को भी चञ्चल बनाता है। कार्य करने की दिशा में यह प्रेरणादायक कहा गया है। तमोगुण गुरु (भारी) तथा आच्छादक (अर्थात् रोकने वाला) होता है। यह निष्क्रियता तथा जडता का प्रतीक है।

पुरुष और प्रकृति

प्रकृति जड तथा अचेतन होती है। पुरुष चेतन तथा तटस्थ है। जिस तरह बछड़े के सामने आजाने पर गाय के स्तन से अपने-आप दूध बहने लगता है। यद्यपि वह दूध अचेतन होता है। उसी तरह पुरुष के संयोग से, उसकी छाया पड़ते ही, अचेन भी प्रकृति पुरुषार्थ में, सृष्टि आदि कार्यों में, स्वयं ही प्रवृत्त होती है। उसका यह प्रवर्तन एकमात्र पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिये होता है।

यद्यपि पुरुष अकर्ता है, तटस्थ है। तथापि उसे कर्ता कहा जाता है। जिस तरह स्वच्छ स्फटिक मणि के भीतर लाल जपाकुसुम रख देने से सफेद भी स्फटिक लाल मालूम पड़ता है, यद्यपि वह लाल नहीं है, उसी तरह प्रकृति के साहचर्य से प्रकृति का कर्तृत्व पुरुष में भी व्यवहृत होने लगता है, उसे कर्ता कहा जाता है। यद्यपि वह वस्तुतः कर्ता नहीं है। सांख्यदर्शन के आचार्य अनेक पुरुष मानते हैं।

मोक्ष

मोक्ष क्या है ? यह कैसे उपलब्ध होता है ? इसका क्या स्वरूप है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान प्रायः सभी दर्शनों ने किया है। औपनिषद सिद्धान्त की तरह सांख्य भी ज्ञान से ही मुक्ति मानता है। दुःखों का कारण अज्ञान है। दुःखों का विनाश, वस्तुतः उपशमन, विवेक-ज्ञान से ही होता है। विवेक-ज्ञान का अर्थ है—प्रकृति से अलग पुरुष के सच्चे रूप को समझना। सुख-दुःख तो बुद्धि भोगती है। बुद्धि के संसर्ग से पुरुष भी अपने-आपको सुख-दुःख का अनुभवकर्ता मानने लगता है, किन्तु यह यथार्थ अनुभव न होकर आरोपित अनुभव है। विवेक-ज्ञान से ही यह आरोप हट सकता है, अन्यथा नहीं। तत्त्वों के उपदेश एवं उनके स्वरूपज्ञान से विवेकज्ञान का उदय होता है। फिर क्या है ? सबको यथार्थ रूप से जानकर अपने आपको उनसे भिन्न रूपसे तत्त्वतः समझ कर ही पुरुष दुःखों से निवृत्ति प्राप्त करता है। दुःखों की यह आत्यन्तिक और सार्वकालीन निवृत्ति ही मोक्ष के नाम से जानी जाती है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

क्लेश, कर्म और विपाकादिरूप जल से अवसिक्त ही बुद्धि-रूपी भूमि में कर्मरूप बीज अङ्कुर पैदा करता है। तत्त्वज्ञान रूप ग्रीष्म से सुखा दी गई अथवा जलाकर ऊषर बना दी गई बुद्धिरूपी भूमि में कर्मरूपी बीज की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? अर्थात् कथमपि यह संभव नहीं। इस तरह तत्त्वज्ञान से क्रियमाण कर्म के निर्वीर्य होजाने पर, सञ्चित के भस्म हो जाने से प्रारब्ध कर्म की परिसमाप्ति तक जीवन्मुक्ति की अवस्था रहती है, और उसके बाद शरीर के विनष्ट हो जाने पर विदेहमुक्ति होती है। सांख्य की दृष्टि से यही यथार्थ मुक्ति है। विवेकज्ञान का सुमधुर फल है।

ईश्वर

महाभारत, उपनिषदों तथा पुराणों में प्रभूतरूप से वर्णित सांख्य ईश्वरवादी था। पुराणों में यत्र-तत्र छब्बीस (२६) तत्त्वों की बात आती है। सांख्य के पच्चीस (२५) तत्त्वों में एक ईश्वर को मिलादेने के अतिरिक्त यह और कुछ नहीं है। उस समय वेदान्त से उसमें विशेष अन्तर न था। किन्तु बाद का सांख्य नितान्त निरीश्वर वादी है। प्रकृति-पुरुष से ही समूचे जगत् का काम चल जाता है। अतः वे ईश्वर की सत्ता नहीं मानते। सांख्यकारिका भी ईश्वर के विषयमें एकदम मौन है। विज्ञान भिक्षु (१६ ई०) काशी के एक विद्वान् संन्यासी थे। इन्होंने 'सांख्य-सूत्र' पर 'सांख्यप्रवचनभाष्य' लिखकर सांख्य को स्पृहणीय ढंग से वेदान्त के पास लाने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने भाष्य में सांख्य को सेश्वर सांख्य बतलाने का प्रयास किया है। उनके मत से कर्तृत्वशक्ति से सम्पन्न ईश्वर के सान्निध्यसे ही जगत् की उत्पत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।[1]

सत्कार्यवाद

सांख्यदर्शन का 'सत्कार्यवाद' उसका अत्यन्त प्रसिद्ध तथा अन्य दर्शनों से पूर्ण विलक्षण सिद्धान्त है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पन्न होने के पूर्व, अर्थात् कारण-व्यापार होने से पूर्व, अव्यक्त रूप से अपने कारण में वर्तमान रहता है। जैसे कि तेल-रूप कार्य उत्पन्न होने के पूर्व अर्थात् कारणव्यापार होने के पूर्व अव्यक्त रूप से अपने कारण रूप तिल में अवश्य वर्तमान रहता है। यदि ऐसा न हो तो बालू से भी, मशीन में पेरने पर, तेल निकलने की सम्भावना होने लगेगी। अतः कहना पड़ेगा कि कार्य स्थूलरूप धारण करने के पूर्व कारण में अत्यन्त सूक्ष्मरूप से वर्तमान रहता है। वस्तुतः सांख्य के अनुसार कारण और कार्य में कोई भेद ही नहीं है। एक ही वस्तु जब कि वह अव्यक्त=अत्यन्त सूक्ष्म या पिण्डित रूप में रहती है कारण कही जाती है और

१—देखिये—'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' (सां० १।९६) का भाष्य ॥

वही जब व्यक्त=स्थूल रूप को धारण करती है, तब कार्य कही जाती है। इसके लिये सुवर्ण और कटक, कुण्डल अथवा मिट्टी और घट तथा दिया, कसोरा आदि का उदाहरण दिया जाता है। मूल सिद्धान्त है कि यदि तिल में तेल वर्तमान न हो तो चाहे कितना ही प्रयास किया जाय वह उससे उत्पन्न नहीं हो सकता। इस सत्कार्य-वाद सिद्धान्त को सांख्य ने सफलतापूर्वक अनेक तर्कों और युक्तियों से सिद्ध करने का प्रयास किया है।

• शास्त्र की प्रवृत्ति का कारण

सांख्य की प्रकृति भोग्य है अर्थात् वह दूसरे के उपयोग में आने वाला तत्त्व है। प्रकृति का भोक्ता पुरुष है। वस्तुतः प्रकृति का भोक्ता अन्तःकरण है, पुरुष नहीं क्योंकि पुरुष निःसङ्ग है तटस्थ है। फिर भी वह अपने को उसका भोक्ता मानता ही है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है लाल पुष्प के संयोग से निर्मल भी स्फटिक मणि लाल मालूम पड़ता है, जब कि वह वस्तुतः लाल है नहीं, इसी तरह निःसङ्ग भी पुरुष जब अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होता है तो अन्तःकरण के सुख एवं दुःखादि को अपने प्रतिबिम्ब (परछाई) में संक्रान्त देखकर उन्हें अपना ही सुख-दुःख समझने लगता है। जब कि स्थिति ऐसी है नहीं। अन्त में जब भ्रम दूर हो जाता है, उसे विवेकज्ञान हो जाता है, तब उसके त्रिविध दुःख विगलित हो जाते हैं और वह मुक्ति का भाजन होता है। इसी भ्रम को दूर करने के लिये, प्रकृति और पुरुष में पार्थक्य-ज्ञान कराने के लिये सांख्यशास्त्र की प्रवृत्ति है।

पुरुष-बहुत्व

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पुरुष अर्थात् आत्मा निःसङ्ग है। यह प्रकृति से भिन्न है, यद्यपि इसकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है 'मैं लिखता हूँ, 'मैं पढ़ता हूँ' आदि। यहाँ 'मैं' पुरुष को ही सङ्केत करता है। फिर भी सांख्यकारिकाकार ने निम्नलिखित कारिका में कतिपय युक्तियों को देकर इसकी सत्ता सिद्ध की है—

'सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥

सांख्यदर्शन पुरुष की अनेकता मानता है। वह पुरुषों की अनेकता सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियों को देता है। जैसे—

जनन-मरण-करणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥' (सां० का० १८)

इसी बात को सांख्य-सूत्र में इस प्रकार कहा गया है—'पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः।'
(सां० सू: ६।४५)

सदसत्ख्याति

सांख्याचार्यों का सदसत्ख्यातिवाद भी अत्यन्त रोचक है। इनके अनुसार जब शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है, 'इदं रजतम्' ऐसा ज्ञान होता है। तब 'इदम्' इस पद से होने वाला (अर्थात् 'इदं' के द्वारा वस्तु को निर्देश करके होने वाला) ज्ञान सत् है, यथार्थ है तथा 'रजतम्' यह ज्ञान असत् है। 'इदं रजतम्' इस तरह के ज्ञान में 'इदम्' पद से जिसको निर्देश किया जाता है वह चाक्षुष प्रत्यक्ष का निषय होता है। अतः 'इदम्' पद से होने वाला ज्ञान सत् है। 'रजतम्' इस पद से जिस (रजत) का बोध कराया जाता है, वह चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय बनता नहीं तथा बाद में होने वाले 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस ज्ञान से बाधित भी हो जाता है। अतः असत् है। इस तरह सत् और असत्—दोनो कोटियों का अवगाहन करने वाला, दोनों पक्षों को अपने में समेटनेवाला भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान ही सांख्यों के यहाँ 'सदसत्ख्याति' पद से कहा जाता है॥

—रमाशङ्कर त्रिपाठी

॥ राधादेव्यै नमः ॥

सांख्यकारिका

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके[१] हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

अन्वयः—दुःखत्रयाभिघातात्, तदपघातके, हेतौ, जिज्ञासा, (कार्या); (दृष्टेन, हेतुना), एकान्तात्यन्ततः, (तदपघातस्य), अभावात्, दृष्टे, सा, अपार्था, चेत्, (इति, वक्तुम्), न, (समीचीनम्) ॥ १ ॥

शब्दार्थः—दुःखत्रयाभिघातात्=आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—इन तीन प्रकार के दुःखों के प्रहार के कारण, तदपघातके=उनको (तीनों दुःखों को) दूर करने वाले, हेतौ=(शास्त्रीय) साधन या उपाय के विषय में, जिज्ञासा जानने की इच्छा, (कार्या=करनी चाहिए)। (दृष्टेन=प्रत्यक्ष या लौकिक, हेतुना उपाय से), एकान्तात्यन्ततः=एकान्ततः—अवश्य ही, तथा, अत्यन्ततः—पूर्णरूप से या सर्वदा के लिये, (तदपघातस्य तीनों प्रकार के दुःखों के विनाश=उपशम के), अभावात् न होने के कारण, दृष्टे=प्रत्यक्ष या लौकिक उपाय में (से), सा=वह जिज्ञासा अपार्था निरस्त अर्थात् हल हो जाती है, चेत्=यदि (ऐसा कोई कहे तो), इति-इस प्रकार, (वक्तुम्=कहना), न नहीं, (समीचनम्=ठीक है) ॥ १ ॥

अर्थः—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—इन तीन प्रकार के दुःखों के प्रहार के कारण उनको दूर करनेवाले (शास्त्रीय) साधन या उपाय के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिये। (प्रत्यक्ष या लौकिक उपाय से) अवश्य ही तथा सर्वदा के लिये (दुःखों के विनाश के) न होने के कारण (अर्थात् लौकिक उपाय से दुःख अवश्य ही समाप्त हो जाते हैं और सर्वदा के लिये समाप्त हो जाते हैं, ऐसी बात के न होने के कारण) प्रत्यक्ष या लौकिक उपाय से वह जिज्ञासा हल हो जाती है (अतः शास्त्रीय साधन की आवश्यकता नहीं है); यदि ऐसा कोई कहता है (तो उसका) इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है ॥ १ ॥

१—तदभिघातके—गौड, माठरः तदवघातके–जय०।

श्रीः

अशेषलेखनायकं विनायकं गुरूनपि, प्रणम्य
सांख्यदर्शनीयसांख्यकारिकाः समाः ।
परैर्विवृत्य दर्शिता अपि प्रबोधयन्नि-
वैतदीयतत्त्वदर्शने प्रभां प्रकाशयाम्यहम् ॥ १ ॥

रमाशङ्करशर्माऽस्मि त्रिपाठी मूलदर्शने ।
ज्ञानसारल्यदां व्याख्यां कुर्वे तत्त्वप्रभामिमाम् ॥ २ ॥

त० प्र०—लोके सन्ति बहूनि दुःखानि । तानि त्रिषु भागेषु विभक्तव्यानि । इत्थं दुःखानां त्रयः समवायाः जायन्ते—आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्चेति । लौकिकः जनः अहर्निशि दुःखमनुभवत्येव । अतः उच्यते दुःखत्रयाभिघातादिति—दुःखानां प्रतिकूलवेदनीयानां कष्टेति ख्यातानां त्रयं त्रयोऽवयवाः यस्य तत् त्रयं त्र्यवयवः समुदायः; तत् खलु आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च । तेषु आध्यात्मिकं द्विविधं शरीरसम्बन्धि मनोसम्बन्धि च, शारीरं मानसञ्चेत्यर्थः । शारीरमपि द्विप्रकारं—नैसर्गिकं त्रिदोषकारणञ्च । नैसर्गिकम् अशनायापिपासादि उत्पत्तौ बाह्यकारणान्तरराहित्यात् । त्रिदोषकारणं वातपित्तश्लेष्मणां न्यूनाधिक्यनिमित्तं ज्वरातिसारादि । मानसं कामक्रोधलोभादि मनोविकारजन्यम् । आत्मनि देहे मनसि वेति अध्यात्मम्; तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शारीरं मानसञ्चेति । सर्वं चैतदान्तरोपायसाधनत्वादाध्यात्मिकं दुःखत्रयमिति तत्त्वकौमुदी । आधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकन्तु यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशहेतुकं शीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकमपि च । तस्य दुःखत्रयस्य अभिघातात् परितः प्रतिकूलवेदनीयत्वात् जिज्ञासाहेतुकारणात्, तस्य दुःखत्रयस्य अपघातके शामके निरोधके वा; सांख्यमते सतः दुःखस्य विनाशः असम्भव । अतः शान्तावस्थापादनेन तस्य निरोधः एव वक्तुमिष्टः । हेतौ शास्त्रीये तत्त्वज्ञानरूपे उपाये, जिज्ञासा विविदिषा कार्येति शेष. । त्रिविधदुःखभञ्जनं तत्त्वज्ञानात्मकं शास्त्रोपलब्धिज्ञानम् अनेकजन्माभ्यासदुःखदुःसाध्यम् । अतः सति लौकिके सरले चोपाये तत्र न कस्यापि विवेकिनः प्रवृत्तिस्तद्यथा महर्द्धिसम्पन्नैः भिषजाम्वरैश्च द्विविधमपि शारीरं दुःखमनायासेन प्रमार्ष्टुं शक्यते जनानाम् । मानसमपि दुःखं मनोज्ञस्त्रीपानादिप्रियपदार्थसंयोजनेन लोकशत्रूणाम् उद्वेजकपदार्थानाञ्च वियोजनेन दूरीकर्तुं सुशकम् । आधिभौतिकं लोकपाटवेन रक्षादिना च उच्छेत्तुं शक्यम् । तृतीयस्य चाधिदैविकस्य मणिमन्त्राद्युपयोगः सुकरः उपायः उपदिष्टः शास्त्रेषु । अतः तत्र जिज्ञासायाः उत्पत्तेः न कोऽपि हेतुः । इति निराकरोति 'न' इति । कुतः ? 'एकान्तात्यन्ततोऽभावात्' । एकान्ततः अवश्यम्, अत्यन्ततः नित्यम्, लौकिकेन उपायेन अभिघातः न भवति । कस्यापि दुःखस्य लौकिकेन उपायेन विनाशः पूर्णतया

उपशमनं न भवति । सत्यपि आंशिके उपशमने कालान्तरे यथावसरं तद्दुःखं पुनः उत्पन्नं भवति इति प्रत्यक्षीक्रियते जनैः । अतः लौकिक हेतुः न दुःखत्रयाभिघातकः । तस्मात् जिज्ञासा विविदिषा न अपार्था न निष्फलीभूता । एतस्मात् दृष्टादन्यत्र दुःखत्रयस्य पूर्णोपशामके भाविनि कालेऽपि तदुत्पत्तौ अवरोधके हेतौ जिज्ञासा कार्येति ॥१॥

टिप्पणी—१–आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानसिक । शारीरिक दुःख पुनः दो प्रकार का होता है – नैसर्गिक और त्रिदोषजन्य । भूख, प्यास आदि नैसर्गिक शारीरिक दुःख हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में किसी बाहरी कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती । नैसर्गिक शारीरिक दुःख वात, पित्त तथा कफ की विषमता से उत्पन्न होता है । जैसे बुखार, अतिसार आदि । मानसिक आध्यात्मिक दुःख काम क्रोध आदि मनोविकार से उत्पन्न होता है ।

२—आदिभौतिक दुःख संसार के प्राणिमात्र तथा वृक्ष आदि स्थावर वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न होता है ।

२—आधिदैविक दुःख यक्ष, राक्षस, क्रूर ग्रह आदि तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि से होने वाला दुःख है ।

संसार के समग्र दुःख इन्हीं तीन वर्गों-आध्यात्मिक, आदिभौतिक तथा आधिदैविक—में विभक्त किये जा सकते हैं । यहाँ यह स्मरणीय है कि सांख्य सत्कार्यवादी है । अतः इसके मत से किसी भी दुःख का पूर्ण विनाश नहीं होता । हाँ उसका उपशमन अवश्य हो जाता है । यही दुःखों का अभिघात=विनाश कहा जाता है ॥ १ ॥

युक्तिदीपिका

वीतावीतविषाणस्य पक्षतावनसेविनः ।
प्रवादाः सांख्यकरिणः सल्लकीषण्डभङ्गुराः ॥ १ ॥
ऋषये परमायार्कमरीचिसमतेजसे ।
संसारगहनध्वान्तसूर्याय गुरवे नमः ॥ २ ॥
तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनिः ।
यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रयनिवृत्तये ॥ ३ ॥
न तस्याधिगमः शक्यः कर्तुं वर्षशतैरपि ।
भूयस्त्वादिति सञ्चिन्त्य मुनिभिः सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥ ४ ॥
ग्रन्थेनाल्पेन संक्षिप्य तदार्षमनुशासनम् ।
निबद्धममलप्रज्ञैः शिष्याणां हितकाम्यया ॥ ५ ॥

प्रतिपक्षाः पुनस्तस्य पुरुषेशाणुवादिनः ।
वैनाशिकाः प्राकृतिका विकारपुरुषास्तथा ॥ ६ ॥
तेषामिच्छाविघातार्थमाचार्यैः सूक्ष्मबुद्धिभिः ।
रचिताः स्वेषु तन्त्रेषु विषमास्तर्कगह्वराः ॥ ७ ॥
शिष्यैर्दुरवगाहास्ते तत्त्वार्थभ्रान्तबुद्धिभिः ।
तस्मादीश्वरकृष्णेन संक्षिप्तार्थमिदं कृतम् ॥ ८ ॥
सप्तत्याख्यं प्रकरणं सकलं शास्त्रमेव वा ।
यस्मात् सर्वपदार्थानामिह व्याख्या करिष्यते ॥ ९ ॥
प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता ।
पारार्थ्यञ्च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥ १० ॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं चूलिकार्थाः स्मृता दश ।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥ ११ ॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम् ।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥ १२ ॥
यथाक्रमं लक्षणतः कार्त्स्न्येनेहाभिधास्यते ।
तस्मादतः शास्त्रमिदमलं नानात्वसिद्धये ॥ १३ ॥
अल्पग्रन्थमनल्पार्थं सर्वैस्तन्त्रगुणैर्युतम् ।
पारमर्षस्य तन्त्रस्य बिम्बमादर्शगं यथा ॥ १४ ॥
तस्य व्याख्यां करिष्यामि यथान्यायोपपत्तये ।
कारुण्यादप्ययुक्तां तां प्रतिगृह्णन्तु सूरयः ॥ १५ ॥

आह, करिष्यति भवान् व्याख्याम् । इदं त्वादावुपन्यस्तं सर्वैस्तन्त्रगुणैर्युतमिदं तन्त्रमिति । के तन्त्रगुणाः, कियन्तो वेति ? उच्यते —

सूत्रप्रमाणावयवोपपत्तिरन्यूनता संशयनिर्णयोक्ति ।
उद्देशनिर्देशमनुक्रमश्च संज्ञोपदेशाविह तन्त्रसम्पत् ॥

सूत्राणि च प्रमाणानि च अवयवाश्च, सूत्रप्रमाणावयवाः । तेषाम् उपपत्तिः सूत्रप्रमाणावयवोपपत्तिः । उपपत्तिः सम्भव इत्यनर्थान्तरम् । अनन्योऽर्थोऽनर्थान्तरम् । उपपत्तिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते सूत्रोपपत्तिरित्यादि । आह, लक्षणोपेतसूत्रोपपत्तिरिति वक्तव्यम् । इतरथा हि अलक्षणोपेतस्यापि सूत्रस्य तन्त्राङ्गभावः स्यादिति । उच्यते—न, नान्तरीयकत्वात् । न ह्यन्तरेण लक्षणोपेतत्वं सूत्रत्वम् । अतो न वक्तव्यमेतदिति । आह, अथ सूत्रमिति कस्मात् ? उच्यते – सूचनात् सूत्रम् । सूचयति तांस्तानर्थविशेषानिति सूत्रम् । तद्यथा—कारणमस्त्यव्यक्तम् (का० १६), भेदानां परिमाणादिति (का० १५) । अत्र प्रतिज्ञाहेतू कण्ठोक्तौ । तयोरुपयोगि दृष्टान्तं साध्यसिद्धये

समर्थमिति कृत्वा मूलशकलादयोऽत्रान्तरमनभिहिता अप्येतस्मादवसीयन्ते। अथवा भोक्षोरुपसंहृतबहिष्करणान्तःकरणस्य तेषु तेष्वतीन्द्रियेषु अपि प्रधानादिष्वर्थेषु बुद्धिं सूचयतीति सूत्रम्। अथवा, सौक्ष्म्यात्तदनुपपत्तिरिति (का० ८) सूत्रम्। तद्यथा–

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अस्तोभमपुनरुक्तमित्यर्थः। तथा

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥

प्रमाणानि च प्रत्यक्षादीनि, तान्युत्तरत्र वक्ष्यति 'दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्च' (का० ४), 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमित्यादि' (का० ५)।

अवयवाः पुनर्जिज्ञासादयः प्रतिज्ञादयश्च। तत्र जिज्ञासादयो व्याख्याङ्गम्। प्रतिज्ञादयः परप्रत्यायनाङ्गम्। तानुत्तरत्र वक्ष्यामः। आह, अवयवानभिधानमनुपदेशात्। न हि यथा प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्युपदिष्टानि तथा अवयवा उपदिष्टाः। तस्मादवयवोपपत्तिरित्येतदसत्। भाष्यकारप्रामाण्याददोष इति चेत् स्यान्मतम्। यद्यपि सूत्रकारेणावयवोपदेशो न कृतस्तथाऽपि भाष्यकाराः केचिदेषां संग्रहं चक्रुः। ते च नः प्रमाणम्। तस्माद्युक्तमवयवोपपत्तिरिति। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? उत्सूत्रत्वात्। नह्युत्सूत्रं व्याचक्षाणा भाष्यकाराः प्रमाणं भवन्ति। तथाचैतदुत्सूत्रितमिति। उच्यते, न। लिङ्गात्। नैतद्युक्तमनुपदेशान्न सन्ति जिज्ञासादयः। किन्तर्ह्यनुपदिष्टमप्येषामस्तित्वं लिङ्गात् प्रतिपद्यामहे यदयमाचार्यो दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेताविति (का० १) जिज्ञासाप्रयोजनमाचष्टे। कारणमस्त्यव्यक्तमिति (का० १६) प्रतिज्ञां करोति। भेदानां परिमाणादिति (का० १५) हेतुमुपदिशति। नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गमिति (का० ४२) दृष्टान्तं द्योतयति। क्षीरस्य यथा तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य (का० ५७) इत्युपसंहरति। तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारीति (का० ३५) निगमयति। न चानभिप्रेतैराचार्याणां शास्त्रे व्यवहारो लक्ष्यते। तेन वयं लिङ्गात्प्रतिपद्यामहे सन्ति जिज्ञासादयोऽवयवाः शास्त्र इति। आह, सतामनुपदेशे प्रयोजनवचनम्। एवं चेन्मन्यसे—सन्ति जिज्ञासादयोऽवयवाः, शास्त्रे तेषामनुपदेशे प्रयोजनं वक्तव्यम्—अमुष्माद्धेतोराचार्येण नोपदिश्यन्ते, सन्ति च ते इति। उच्यते, प्रमाणान्तर्भावात्। प्रमाणेष्वन्तर्भाव एषामित्ययमुपदिष्टो हेतुरस्माभिः। अनुमानाङ्गं हि जिज्ञासादयः, तस्मात्तदन्तर्भूतास्ते इति न पृथगुपदिश्यन्ते। किञ्च, तन्त्रान्तरोक्तेः। तन्त्रान्तरेषु हि विन्ध्यवासिप्रभृतिभिराचार्यैरुपदिष्टाः। प्रमाणं च नस्ते आचार्या इत्यतश्चानुपदेशो जिज्ञासादीनामिति। आह न, प्रमाणानुपदेशप्रसङ्गात्। यदि च तन्त्रान्तरोपदेशादेवाऽवयवानामनुपदेशः, प्रत्यक्षादीन्यपि च तन्त्रान्तरेषूपदिश्यन्ते। श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्। सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्।

यो यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टस्स तत्रासस्तस्योपदेश आप्तवचनमिति तेषामप्यनुपदेशप्रसङ्गः। अथ सति तन्त्रान्तरोपदेशे प्रमाणान्युपदिश्यन्ते नावथवा इति, नन्वेतदिच्छामात्रमिति। उच्यते, पूर्व एव तर्हि परिहारोऽस्तु। अथवा पुनरस्तु तन्त्रान्तरोक्तेरित्ययमपि परिहारः। यत्तूक्तं प्रमाणानुपदेशप्रसङ्ग इति अत्र ब्रूमः--अयुक्तमेतत्। कस्मात्? प्रयोजनवतामुपदेशस्यादोषत्वात्। अनुपदेशो हि प्रयोजनवतश्चोद्यत इति युक्तमेतत्। उपदेशमेव तु सदोष इति कृत्वा कः प्रत्याचक्षीत? तस्मान्न किञ्चिदेतत्। किञ्चान्यत्, प्रधानोपदेशे गुणभूतान्तर्भावसिद्धेः। तद्यथा, तक्ष्णुहि चैत्र इत्युक्ते यावद्भिस्साधनविशेषैर्विना तक्षणं नोपपद्यते सर्वास्तांश्चैत्र उपादत्ते। तथा प्रत्यक्षादिषु प्रमाणेषूपदिष्टेषु यैरेषामविनाभावः सर्वाणि तान्युपादास्यामहे। किञ्चान्यत्, अन्यत्रापि तदनुष्ठानात्। न केवलमिह, अन्यत्राप्ययमाचार्यः प्रधानानामेवोपदेशं करोति। तदङ्गभूतास्तु तदुपदेशादेव प्रतीयन्ते। तद्यथा, कारणमस्त्यव्यक्तम् (का० १६), भेदानां परिमाणादिति (का० १५)। इतरथा हि दृष्टान्ताभावादसाधनमेतत्स्यात्। पश्यति त्वाचार्यो नादृष्टान्तं साधनं साध्यमाप्नोतीति कृत्वा प्रतिपादकाः प्रदिपादनकाले तन्त्रान्तरोपदिष्टानपि मूलशकलादीनाक्षेप्स्यन्ति इति। किञ्चान्यत्, अनुमाने भूतवदुपदेशात्। अतश्चैतदेवं यदमाचार्यस्त्रिविधमनुमानमाख्यातमिति (का० ५) ब्रवीति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? आख्यातस्य हि प्रत्याम्नाये भूतवाचिना शब्देनोपदेशो भवति। न चानेन पूर्वं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। आख्यातमिति चेत्, न तदाख्यातं क्वचिदिति शक्यं प्रतिपादयितुम्। सोऽयमनाख्यायापि यद्भूतवाचिनं शब्दमुपादत्ते तज्ज्ञापत्याचार्यस्तन्त्रान्तरक्लृप्तानामपीह सन्निवेशोऽङ्गीक्रियते। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? तन्त्रान्तरोपदिष्टोऽपि कर्मयोनीनां प्राणभेदादीनाञ्च लक्षणोपदेशस्संगृहीतो भवतीति सिद्धं तन्त्रान्तरोपदेशादवयवानुपदेशः। तस्मात्सूक्तमेवावयवोपपत्तिरिति।

अन्यूनता। पदार्थकात्स्न्र्यमशेषताऽन्यूनतेत्यभिधीयते। पदार्थाश्च दश चूलिकार्थाः, पञ्चाशत्प्रत्ययाः। तत्रास्तित्वमेकत्वं पञ्चभिर्वीतैः सिद्धम्। अर्थवत्त्वं कार्यकारणभावः। पारार्थ्यं संहत्यकारिणां परार्थत्वात्। अतएवान्यत्वम्। चेतनाशक्तेर्गुणत्रयाज्जन्ममरणकरणानाम् (का० १८) इत्येवमादिभिः पुरुषबहुत्वम्। पुरुषस्य दर्शनार्थं (का० २१) इति संयोगः। प्राप्ते शरीरभेदे (का० ६८) इति वियोगः। सम्यग्ज्ञानाधिगमात् (का० ६७) इति शेषवृत्तिः। तस्माच्च विपर्यासात् (का० १९) इति पुरुषस्याकर्तृत्वमित्येते दश चूलिकार्थाः।

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः॥ (का० ४७)

इति पञ्चाशत्प्रत्ययाः। सैषा षष्टिः पदार्थानाम्। तदुपपत्तिरन्यूनता।

संशयनिर्णयोक्तिः। संशयश्च निर्णयश्च तौ संशयनिर्णयौ, तयोरुक्तिस्संशयनिर्णयोक्तिः। सामान्याभिधानं संशयः। तद्यथा, महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपञ्च (का० ८)

इत्युक्ते संशयो भवति केन धर्मेण कार्यं प्रकृतिविरूपं केन वा सरूपमिति। विशेषाभिधानं निर्णयः। स च द्विविधः; शब्दतोऽर्थतश्च। शब्दतस्तावत् यथा हेतुमदादिभिः कार्यं प्रकृतिविरूपम्, त्रैगुण्यादिभिः प्रकृतिसरूपमिति। अर्थतस्तद् यथा, तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः, एते स्मृता विशेषाः (का० ३८)। किं कारणम् ? यस्मात् शान्ता घोराश्च मूढाश्च (का० ३८)। अशान्तघोरमूढत्वात्तन्मात्राण्यविशेषाः।

उद्देशनिर्देशम्। उद्देशश्च निर्देशश्च उद्देशनिर्देशम्। सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति इति द्वन्द्वैकवद्भावः। सङ्क्षेपवचनमुद्देशः। तद्यथा, एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः (का० ४६)। विस्तरवचनं निर्देशः। तद्यथा, पञ्च विपर्ययभेदा भवन्ति (का० ४७)। भेदस्तमसोऽष्टविधः (का० ४८) इत्यादि।

अनुक्रमश्च। पदार्थानामानुपूर्व्या सन्निवेशोपदेशोऽनुक्रमः। तद्यथा, प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः (का० २२) इत्यनेन।

संज्ञोपदेशौ। संज्ञिप्रत्यायनार्थः शब्दः संज्ञा। सा च द्विविधा। अर्थनिबन्धना स्वरूपनिबन्धना च। तत्रार्थनिबन्धनाऽर्थवशेनाऽर्थक्रियापेक्षा। जात्याद्यर्थस्वरूपान्तर्भावी यथाऽर्थस्तथाभूतमेव संज्ञिनं प्रत्याययति। तद्यथा, पाचको लावक इति। स्वरूपनिबन्धना पुनः संज्ञिप्रत्यायनोपायमात्रम्। स्वरूपमात्रोपकारिणी विनाऽवयवार्थं समयवशादतथाभूतमपि संज्ञिनं प्रत्याययति। तद्यथा, गजकर्णोऽश्वकर्ण इति। प्रयत्नतो भगवतः परमर्षेरार्षेण ज्ञानेन सर्वतत्त्वानां स्वरूपमुपलभ्य संज्ञां विदधतो नास्ति स्वरूपनिबन्धनः शब्दः। तद्यथा, प्रधीयन्तेऽत्र विकारा इति प्रधानम्, पुरि शेते इति पुरुष इत्यादि। तन्मतानुसारिणामप्याचार्याणां ताभिरेव संव्यवहारान्नास्त्यपूर्वसंज्ञाविधानम्प्रत्यादरः। उपदेशः इतिकर्तव्यताफलसमाख्यानमुपदेशः। तद्यथा,

> एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
> अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ (का० ६४)

एते सूत्रोपपत्त्यादयस्तन्त्रगुणाः।

इतिकरणं प्रकारार्थम्। एवम्प्रकारा अन्येऽपि द्रष्टव्याः। तद्यथा, उत्सऽर्गोऽपवादोतिदेश इत्यादिः। तत्रोत्सर्गः प्रकृतिविरूपं (का० ८) व्यक्तम्, सरूपं (का० ८) चेत्यपवादः। तथा तद्विपरीतः (का० ११) इत्युत्सर्गः, तथा च पुमान् (का० ११) इत्यपवादः। सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि व्यक्तं, तथा प्रधानम् (का० ११) इत्यतिदेशः, इत्येवमन्या अपि तन्त्रयुक्तयः शक्या इह प्रदर्शयितुम्। अतिप्रसङ्गस्तु प्रकृतं तिरोदधातीति निवर्त्यते। सिद्धं तन्त्रयुक्तीनां सम्बन्धोपपत्तेस्तन्त्रमिदमिति।

किञ्च तन्त्रान्तराऽविरोधात्। यदि खल्वपीदमपि प्रकरणं स्यात् तन्त्रान्तरे पातञ्जलपञ्चाधिकरणवार्षगणप्रभृतीनामन्यतमस्य शेषभूतं स्यात्। तैश्चाप्यविरोधस्तत्र तत्रेति

वक्ष्यामः। पूर्वतन्त्रशेषभावादिति चेत्, तुल्यम्। एतान्यपि पूर्वतन्त्रशेषभूतानि, तेषामपि प्रकरणत्वप्रसङ्गः। अथ मतम् सकलपदार्थसंग्रहात्तन्त्रान्तराण्येतानि, एवमिहापि सकलपदार्थसङ्ग्रहात्तन्त्रान्तरत्वमभ्युपगन्तव्यम्। तस्माद्युक्तमेतत्तन्त्रमिदम्। इत्युपोद्घातः॥

आह, किंगुणविशिष्टाय शिष्याय पुनरिदं तन्त्रं व्याख्येयमिति। उच्यते – जिज्ञासवे मतिमते मीमांसकायार्थिनेऽभ्युपगताय शिष्याय व्याख्येयं शास्त्रम्। कस्मात्? परमर्षिप्रामाण्यात्। यस्माद् भगवान् विद्वाग्रजः परमर्षिर्भगवदासुरेर्जिज्ञासामुपलभ्योत्तरगुणविशेषसम्पदं च व्याख्यातवान्। रज एव दुःखं। तन्निराकरिष्णोर्विवेकोऽयं सत्त्वात् सत्त्वं चास्मान्नानेत्येवमादिना वचनप्रतिपाद्योऽयमर्थो महद्भिश्चोक्तः। तस्माद्रजोदुःखोपघातोपघातकजिज्ञासोः सत्त्वाद्धर्मादिकुशलमूलविपाकोत्पित्सोर्दुःखत्रयनिवृत्तय इदं शास्त्रं प्रवृत्तम्। तदर्थात्परिणम्यते शिष्यस्येति। कथं नाम शिष्यस्य निःश्रेयसेन योगः स्यादित्येवमर्थमिदं व्याख्यानं क्रियत इति।

आह, यदुक्तं जिज्ञासवे व्याख्यानं कर्तव्यमिति तत्र कुतः पुनरियं जिज्ञासा कस्मिन् वाऽर्थे भवतीति? उच्यते—यत्तावदुक्तं कुतः पुनरियं जिज्ञासा भवतीत्यत्र ब्रूमः –

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा

दुःखं रज इत्यनर्थान्तरम्। दुःखयतीति दुःखं भवतीति। त्रयमिति संख्यापदं सर्वद्रव्यविषयं, दुःखशब्देन विशिष्यते। प्राधान्याच्च व्यतिरिक्तबुद्ध्या गृह्यमाणं सम्बन्धित्वादाधारस्य भेदनिबन्धनायाः षष्ठ्या निमित्तत्वं प्रतिपद्यते दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम्।

अभिहन्यतेऽनेनेत्यभिघातः। कः पुनरयमभिघातो नाम? उच्यते - योऽसावुपर्युक्तदुःखत्रयेणान्तःकरणेन चेतनाशक्तेरभिसम्बन्धः। तस्माद्दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा।

यदुक्तं कस्मिन्नर्थे भवतीति तत्राह—

तदपघातके हेतौ।

अपहन्तीत्यपघातकः, तस्यापघातकस्तदपघातकः। आह, तदपघातके इति समासाऽनुपपत्तिः, प्रतिषेधात्। कर्तरि यौ तृजकौ ताभ्यां सह षष्ठी न समस्यते। तस्मात्तस्यापघातक इति वक्तव्यम्। उच्यते– न, शास्त्रे दर्शनात्। "तत्प्रयोजको हेतुश्च" (पा० १।४।५५) इति शास्त्रे दृष्टः प्रयोगः। पदकारश्चाह– जातिवाचकत्वात्। तथा कदाचिद् गुणो गुणिविशेषको भवति,कदाचिद् गुणिना गुणो विशिष्यत इति चूर्णिकारस्य प्रयोगः। तस्मादनवद्यमेतत्।

अयं तु पिण्डार्थः। त्रिविधेन दुःखेनाभिहतो ब्राह्मणस्तदपघातकं हेतुं जिज्ञासते। को नामाऽसौ हेतुः स्याद्यो दुःखत्रयमभिहन्यादिति।

आह, दुःखशब्दावचनमादावमङ्गलार्थत्वात्। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च मङ्गलेनाभिहतसंस्काराः शास्त्रार्थानाशु प्रतिपद्यन्ते। दुःखमित्ययञ्चाऽमङ्गलार्थः शब्दः, तस्मान्नारब्धव्यः शास्त्रादाविति। उच्यते–न, वाक्यस्यार्थे

प्रयोगात् पदस्यानर्थक्यादमङ्गलार्थत्वानुपपत्तिः । वाक्यमर्थप्रत्यायनार्थं प्रयुज्यते, विशिष्टार्थाभिधानात्, न पदम् । तथा हि पदार्थव्यतिरेकेण विशिष्ट एव वाक्यार्थः प्रतीयते, केवलं तु पदं सामान्यार्थादप्रच्युतं विशिष्टार्थाभिधानासमर्थम् । अतएव न विवक्षितार्थप्रत्यायनयोग्यतयोपादीयते । तद्यथा—देवदत्तेत्ययं शब्दः कर्तृवाचकत्वेनोपात्तः, सर्वक्रियाविषयत्वात्, नान्तरेण कर्मक्रियाशब्दौ विशिष्टार्थः प्रतीयते । तथा गामिति कर्म, सर्वक्रियाकर्त्रभिधाननिमित्तत्वात् । तथा अभ्याजेति क्रिया, सर्वकर्मकर्तृविषयत्वात् । यदा तु देवदत्त गामभ्याज शुक्लामित्युच्यते तदा देवत्तेन गोशब्देन कर्मान्तरेभ्यो विच्छिद्य स्वात्मन्यवस्थाप्यते । क्रिया च गोशब्दश्च सर्वकर्तृभ्यो देवदत्तकर्मतया व्यवस्थाप्यते । कर्तृकर्मणी चाभ्याजिक्रियायाः साधनभावेनैव नियम्येते । शुक्लशब्दो गोशब्दश्च गोशब्दं सर्वगुणविषयमाधेयान्तरेभ्यो व्यवच्छिद्य स्वात्मन आधारत्वे नियम्य, तद्विषयतां प्रतिपादयतीत्यनेन क्रमेण विशिष्टो वाक्यार्थः । केवलानान्तु पदानां सामान्यार्थात् प्रच्युतानाम्विशेषानभिधानादानर्थक्यम् । आह च—

> पृथङ्निविष्टतत्त्वानाम्पृथगर्थाभिपातिनाम् ।
> इन्द्रियाणां यथा कार्यमृते देहान्न लभ्यते ॥
> तथैव सर्वशब्दानाम्पृथगर्थाभिधायिनाम् ।
> वाक्येभ्यः प्रविभक्तानामर्थवत्ता न लभ्यते ॥ इति

एवं सति कुतोऽयं निश्चयप्रतिलम्भो यद्दुःखशब्दोऽयममङ्गालार्थो यावता सन्दिह्यत एव, अयं किं स्वार्थप्रतिपत्त्यर्थमुपात्तोऽथ हेयत्वायेति । वाक्यस्य तु मङ्गलार्थत्वम्, दुःखप्रहाणार्थमुपादानात् । यद्धि दुःखप्रहाणार्थं वाक्यमुपादीयते तन्मङ्गलार्थं दृष्टम् । तद्यथा, व्याध्यपगमः स्यादलक्ष्मीर्मा भूदिति । दुःखप्रहाणार्थञ्चेदं वाक्यमुपात्तं तस्मान्मङ्गलार्थमिदम् । तत्र यदुक्तं दुःखशब्दावचनमादावमङ्गलार्थत्वादित्येतदयुक्तम् ।

आह, त्रयग्रहणानर्थक्य, गुणैकत्वात् । दुःखं रज इति प्रतिपन्नो भवान्, तच्चैकं शास्त्रे पठ्यते । तस्मात्त्रयग्रहणमनर्थकमिति । निमित्तभेदाद् भेदोपचार इति चेत्, स्यान्मतम् । यद्यपि एकं दुःखं तथापि निमित्तानामध्यात्माऽधिभूताऽधिदैवलक्षणानां भेदादस्य भेदोपचारः करिष्यत इति । तच्च नैवम् । कस्मात् ? निमित्तानन्त्येन गुणानन्त्यप्रसङ्गात् । आध्यात्मिकं हि द्विविधं, शारीरं मानसञ्च । शारीरं तावद्वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । तथा मानसं कामक्रोधलोभमोहविषादभयेर्ष्याऽसूयारत्यविशेषदर्शननिमित्तम् । आधिभौतिकञ्च मनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकं शीतोष्णवातवर्षाशन्यवश्यायावेशनिमित्तम् । तत्र निमित्तभेदात्त्रित्वप्रतिज्ञस्य गुणानन्त्यप्रसङ्गः; स च नेष्टस्तस्मान्न निमित्तभेदात्त्रित्वम् । उच्यते—यदुक्तं रजस एकत्वात् त्रित्वानुपपत्तिः; तस्य निमित्तभेदात् त्रित्वोपचार इति सत्यमेतत् । यत्तूक्तं निमित्तानन्त्येन गुणानन्त्यप्रसङ्ग इति तदयुक्तम् । कस्मात् ? भेदेऽपि सति वर्णसंख्यावद्व्यवस्थानोपपत्तेः । तद्यथा, चत्वारो वर्णा

इत्यस्याः संख्यायाः सति पैप्पलादादिभेदे तेषां ब्राह्मणत्वादिव्यतिरेकाभावान्न संख्यान्तरहेतुत्वं नो खल्वपि वर्णाव्यतिरेकादेकत्वं भवति । एवं त्रीणि दुःखानीत्यस्याः संख्यायाः सति शारीरादिभेदे तेषामाध्यात्मिकादिव्यतिरेकासम्भवान्न सङ्ख्यान्तरहेतुत्वं नो खल्वपि दुःखाव्यतिरेकादेकत्वं भवितुमर्हति । किञ्चान्यत्, निमित्तभेदाद् भेदोपचार इति भवानेव प्रतिपन्नः । न चोपचारः परमार्थ इत्यलमस्थाने यत्नेन ।

आह—अभिघाताज्जिज्ञासायामतिप्रसङ्गः; सर्वेषां सम्भवात् । यथासुरेर्दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा भवतीत्येतदिष्टं तेन सर्वेषामभिघातोऽस्तीति सर्वेषां जिज्ञासाप्रसङ्गः । अथ सति दुःखाभिघाते कस्यचिज्जिज्ञासा भवति कस्यचिन्नेति । नन्वेवमिच्छामात्रम् । प्राक्प्रसङ्गाच्च । प्रागप्यासुरेर्जिज्ञासाया दुःखत्रयाभिघातो न चास्यात्यन्तिके हेतौ जिज्ञासा बभूव । तेन किं प्राप्तम् ? पश्चादस्य यतो बभूव तद्वक्तव्यम् । यथाऽन्यत्र ब्रह्मणोऽभ्यासनिमित्तादधर्मक्षयात् पूर्वधर्मानुग्रहाच्च विविदिषा, तथाऽन्येषां कुशलमूलाभ्यासपरिपाकात् । न चापदिष्टमतो लघूक्तमेतत् । किञ्चान्यत्, तदपघाताच्चाऽनिर्मोक्षोऽकृत्स्नत्वात् । मोक्षो हि कामरूपाऽऽरूप्यधातुत्रयादिष्यते । दैवमानुष्यतिर्यग्योनित्रयाद्वा । एकदेशश्च संसारस्य दुःखत्रयम् । तस्मात्प्रयोजनमप्ययुक्तम् । किञ्च निमित्तान्तरसद्भावाद्दिव्यकामध्यानसुखानपेक्षस्यापि विविदिषा सम्भवति, न केवलं तापोद्विग्नस्यापि । तस्मान्निमित्तमप्ययुक्तम् । किञ्चान्यत्, उभयथा चाऽसम्भवात् । परिकल्प्यमाना खल्वपीयं जिज्ञासा पुरुषस्य वा स्याद् गुणानां वा । किञ्चातः ? तन्न तावत्पुरुषस्य सम्भवति । कस्मात् ? नैर्गुण्याभ्युपगमात् । इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखधर्माधर्मज्ञानसंस्काराणामात्मगुणत्वं न भवद्भिरभ्युपगम्यते । न गुणानाम्, आचेतन्यात् । न ह्यचेतना घटादयो हिताहितप्राप्तिपरिहारं जिज्ञासमाना दृश्यन्ते । न च चेतना भवतां गुणाः, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि प्रधानमिति (का० ११) वक्ष्यमाणवचनात् । किञ्चान्यत्, तत्त्वान्तरानुपपत्तेः । न च गुणपुरुषव्यतिरिक्तं वस्तुतस्तत्त्वान्तरमस्ति यस्य जिज्ञासा परिकल्प्यमाना परिकल्प्येत । तस्मादनुपपन्ना जिज्ञासा ।

उच्यते । यदुक्तमभिघाताज्जिज्ञासायामतिप्रसङ्गः, सर्वेषां तत्सम्भवादिति । अत्र ब्रूमः- न, अभिघातत्वेनाऽप्रतिपत्तेः । यद्यप्यविशिष्टोऽभिघातस्तथापि सर्वे नैनमभिघातत्वेन प्रतिपद्यन्ते । तथाहि, सत्स्वाध्यात्मिकादिदुःखेष्वर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसासु च प्रीत्यभिष्वङ्गादेषां न विषयेषूद्वेगापद्वेषौ । न च विषयपरित्यागो भवति । तस्मान्नाऽविशिष्टोऽभिघातः । विशेषेऽभिघातबुद्धेर्निमित्ताभिधानमिति चेत् ? अथापि स्याद्येयमसति विशेषे सर्वप्राणभृतामासुरेरेव भगवतो दुःखत्रयाभिघातबुद्धिर्भवति, न पुनरन्येषामित्यत्र निमित्तमभिधानीयम् । न ह्यन्तरेण निमित्तमसौ विशेषोऽवस्थापयितुं शक्यत इति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? प्रश्नाऽसम्बन्धात् । कुतो जिज्ञासा भवतीत्येवं चोदकेन पूर्वमकारि प्रश्नस्तस्याश्च साक्षात् कारणमभिघातः, कारणान्तराणामनभिधानादित्यस्यैव निर्देशः कृतः । यत्तु खल्विदानीं कारणकारणमपि पृच्छ्यते तदनवस्थाप्रसङ्गभयान्नोच्यते । अथ निर्बन्धः

क्रियते, तेन पूर्वधर्मानुग्रहस्य कुशलमूलाभ्यासपरिपाकस्य कारणकारणत्वमस्माभिर्न प्रतिषिध्यत इति तदेव किं न गृह्यते ? एतेन प्राक्प्रसङ्गः प्रत्युक्तः । यत्तूक्तं तदभिघाते चाऽनिर्मोक्षोऽकृत्स्नत्वादित्येतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? शास्त्रार्थाऽनवबोधात् । अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पञ्चधा भवति, मानुष्यश्चैकविधः (का० ५३) इत्येतावानस्माकं संसारः । न तु तद्व्यतिरिक्ताः कामरूपारूप्यधातवः क्वचिदपि सिद्धाः । चतुर्दशविधे च संसारे या सुखमात्रा सा दुःखभूयस्त्वात्तच्छब्दवाच्या भवतीति । तथा चोक्तम्—

अत्र जन्मजरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं समासेन ॥ (का० ५५)

दृश्यते च लोके भूयसा ग्रहणम् । तद्यथाऽऽम्रवनमिति । तस्मात् कृत्स्नविकल्पप्रतिषेधोऽयम् । यत्पुनरेतदुक्तं दिव्यकामध्यानसुखाऽनपेक्षस्यापि विविदिषासम्भवान्निमित्तमयुक्तमिति तदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? उत्तरत्र प्रतिषेधात् । इष्टमेवैतत्सङ्गृहीतम् । तथा चोत्तरसूत्रेण प्रतिषेत्स्यत्याचार्यः "दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः" (का० २) । तस्माद्दिव्यसुखानपेक्षस्यापि युक्ता विविदिषा । ध्यानसुखमपि क्षयातिशयौ नातिवर्तते । तदप्यत्रैव सङ्गृहीतम् । तस्मात्प्रतिषेध्य एवायं पक्ष इति न किञ्चिदभिधीयते । यदप्युक्तमुभयथाऽसम्भवाज्जिज्ञासाऽनुपपत्तिरिति, अस्तु गुणानां जिज्ञासा । यत्तूक्तमाचेतन्यादसम्भव इति सत्याचेतन्ये बुद्धेरिच्छादिसद्भावमुत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामः । तस्मादुपपन्ना जिज्ञासा ।

आह—तच्छब्दानर्थक्यं प्रतिपदमसम्बन्धात् । योऽयमाचार्येण तच्छब्दः सूत्रे पठितोऽस्य खलु प्रतिपदमसम्बन्धात् स्वल्पामप्यर्थवत्तां नोपलभामहे । तस्मान्नैनमपुष्कलार्थमध्येष्यामह इति । उच्यते—कथं हि नाम प्रयोक्तृपारतन्त्र्याच्छब्दस्य शब्दान्तरेण सम्बन्धो न स्यादिति ? आह, न ब्रूमोऽविद्यमानसम्बन्धोऽसम्बन्धः, किन्तर्ह्ययुक्तसम्बन्धो यः स खल्वसम्बन्धः । तद्यथा, अनाचारो माणवक इति द्रव्येण क्रियाशक्तित्वान्न शक्यं किञ्चदनाचारवता क्षणमप्यवस्थातुम् । अयुक्तं त्वाचरन्ननाचार इत्युच्यते । तथा चास्य तच्छब्दस्य प्रतिपदं सम्बन्धो न युक्तस्तस्मादनर्थकस्तच्छब्दः । आनन्तर्याज्जिज्ञासाशब्दस्येति चेत्, स्यान्मतम् । अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा (महाभाष्य १-१-४२) इत्यनया युक्त्या जिज्ञासाशब्दस्य तच्छब्देनाभिसम्बन्धः शक्य इति । तच्च नैवम् । कस्मात् ? तदपघाते प्रयोजनासद्भावात् । न हि जिज्ञासाऽपघाते किञ्चित् प्रयोजनमस्तीति सत्यपि सम्बन्धे न तच्छब्देनार्थः । अभिघातस्येति चेत् ? अथापि स्याद्यदि जिज्ञासापघातेन किञ्चित्प्रयोजनमस्तीति । अतस्तत्सम्बन्धो नेष्यते । तेन तर्ह्यभिघातशब्देनास्याभिसम्बन्धः करिष्यते । तथा चाऽपि तच्छब्दोऽर्थवान् भविष्यतीति । एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? निमित्ताऽवस्थाने पुनः पुनरुत्पत्तेः । नैमित्तिकोऽयमभिघातस्तस्य निमित्तवत्त्वादात्यन्तिकोऽपघातो न

स्यात्। इतरथा ज्वरनिमित्तको दाह इव शीतद्रव्यसंस्पर्शात् शान्तोऽपि निमित्तावस्थानात्पुनः पुनः प्रवर्तते इत्यफलत्वमस्य व्यायामस्य। त्रयशब्दस्येति चेत् न, पारतन्त्र्यात्। आश्रयपरतन्त्रा हि संख्या, तस्या नाऽन्तरेणाश्रयोपघातमपघातः शक्यः कर्तुम्। आनर्थक्यञ्च समानमिति सुतरां तच्छब्देन नार्थः। दुःखशब्दस्येति चेत्स्यान्मतम् यद्येतेषाम्पदानामभिसम्बन्धे यथोक्तदोषोपपत्तिः, दुःखशब्दं तर्हि तत्-शब्देनाभिसंभन्त्स्यामः। तस्मिन्नेष निषेधो विशतीति। तच्च नैवम्। कस्मात्? अनेकपदव्यवधानात्। कथमनन्तरवृत्तिना सर्वनाम्नाऽनेकपदव्यवहितस्य दुःखशब्दस्याभिसम्बन्धः शक्येत प्रतिपादयितुम्? तस्मान्न किञ्चिदेतत्। किञ्चान्यत्। उपसर्जनत्वात्। अयं खल्वपि दुःखशब्दः समास उपसर्जनीभूतः। न चैकस्मिन्काले शब्दस्य प्रधानत्वमुपसर्जनत्वं च युक्तितः सम्भवति। प्रधानस्य च पदान्तरेणाऽभिसम्बन्धः। तस्माद्विवादास्पदमेवैतत्सूत्रम्। किञ्चान्यत्। नित्यानामपघातानुपपत्तेः। इह नित्यानामपघातः कर्तुं न शक्यते। तद्यथा पुरुषाणाम्। अनित्यानाञ्चापघातो दृष्टः। तद्यथा, ज्वरादीनाम्। नित्यञ्च दुःखम्। तस्मात्तदपघातेऽभ्युत्थानानर्थक्यम्। वृत्त्यपघाते तदपघात इति चेत्, स्यात्पुनरेषा बुद्धिः। सत्यं नित्यानामपघातो न युक्तितः सम्भवति। न तु वयं गुणलक्षणस्य दुःखस्यापघातं ब्रूमः, किन्तर्हि वृत्तिरस्याभिभूयत इति। तच्च नैवम्। कस्मात्? उक्तोत्तरत्वात्। उक्तमत्रोत्तरं निमित्तावस्थाने पुनः पुनरुत्पत्तेरिति। तस्मादयमप्यमार्गः। किञ्चान्यत्—अविशेषात्कल्पयित्वाऽपि वृत्त्यपघातं वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वाद् वृत्त्यपघाते वृत्तिमदपघातः प्राप्त इति नास्ति कश्चिद्विशेषः। तस्मात् कृशोऽयं परिहार इति नार्थस्तच्छब्देन।

उच्यते—यदुक्तं तच्छब्दानर्थक्यं, प्रतिपदमसम्बन्धादित्यस्तु दुःखशब्देनाभिसम्बन्धः। तत्सम्बन्धे यथोक्तदोषोपपत्तिरिति चेत्, स्यान्मतम्। यदि तर्हि तच्छब्दस्य दुःखशब्देनैवाऽभिसम्बन्धोऽभ्युपगम्यते तेन येऽस्माभिः पूर्वमभिहिता दोषास्ते प्रसज्यन्ते। तस्मात् प्रतिषिद्धस्य पक्षस्य परिग्रहे साहसमात्रमिति। एतच्च नैवं, कस्मात्? प्रतिविधानात्। सत्यमसति प्रतिविधाने साहसमात्रं स्यात्। प्रतिविधीयते तु, तस्माददोषोऽमिति। किन्तदिति चेत् स्यान्मतम्। उच्यतान्तर्हि किन्तत् प्रतिविधानं यस्यावष्टम्भेनानेकदोषव्याहतोऽप्ययं पक्ष आश्रीयते। न ह्यनुक्तमस्माभिराकारमात्रेण शक्यं प्रतिपत्तुमिति। उच्यते—बाढम्। यत्तावदुक्तमनेकपदव्यवधानान्न दुःखशब्दस्य तच्छब्देनाभिसम्बन्ध इत्यत्र ब्रूमः—न, अनभ्युपगमात्। यो ह्यनन्तरकृतं शब्दस्य शब्दान्तरेण सह सम्बन्धमाचष्टे तत्प्रत्ययमुपालम्भः स्यात्। वयन्त्वर्थकृतं सम्बन्धमाचक्ष्महे। तथा चोक्तम्—

यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतस्त्वसमानानामानन्तर्येऽप्यसम्भवः ॥

किञ्चान्यत्—शास्त्रे दर्शनात्। शास्त्रे च व्यवहितानामपि सर्वनाम्नामभिसम्बन्धो दृश्यते। "यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ" वित्यत्रार्थकृतश्च सम्बन्धः

शब्दानामभ्युपगतः। ङ्याप्प्रातिपदिकात्, बहुषु बहुवचनम्, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः, अलुगुत्तरपदे, इत्येवमादीनां सम्बन्धाभ्युपगमः। तथा "अनड्वाहमुदहारिणि भगिनि वहसि या त्वं शिरसि कुम्भमवाचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति" वार्तिके दृष्टान्तः। न ह्यत्र सत्यानन्तर्ये शिरसाऽनडुहो वहनं, कुम्भस्य वा सरणमुपपद्यते। यथा चाऽत्र व्यवहितानामभिसम्बन्धस्तथेहाऽपि द्रष्टव्यः। यत्पुनरेतदुक्तमुपसर्जनत्वात्पदान्तरेणाऽनभिसम्बन्ध इति। एतदनुपपन्नम्। कस्मात्? समासादपोद्धारे बुद्धया व्यवस्थितस्य स्वातन्त्र्योपपत्तेः। सत्यमुपसर्जनस्य पदान्तरेणाभिसम्बन्धो नोपपद्यते। न तु वयं समासवृत्तेरेव तच्छब्देनाभिसम्बन्ध इति प्रतिपद्यामहे, किन्तर्हि समासादपोद्धृतस्य बुद्धिव्यवस्थितस्योपजनितस्वातन्त्र्यस्य शब्दान्तरेण सम्बन्धमिच्छाम इति। अथैतदनिष्टम् "योगप्रमाणे च तदभावे दर्शनं स्यात्" अथ शब्दानुशासनं, केषां शब्दानाम्" इति चैवमादीनाम्प्रयोगाणां रोधः प्राप्नोति। अनिष्टश्चैतत्। यत्पुनरेतदुक्तम्—नित्यानामपघाताऽनुपपत्तेर्वृत्त्यपघाते च तदपघातप्रसङ्गादिति, एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? गुणशक्तेः प्रयोजनोपरमे सत्यात्मकल्पेन व्यवस्थानाभ्युपगमात्। नैतदभ्युपगम्यते गुणस्योच्छित्तिर्भवति, वृत्तिर्वाऽस्याऽभिभूयते। किन्तर्हि पुरुषार्थनिबन्धना चरितार्था शक्तिरस्य पुरुषार्थप्रवृत्तौ प्रयोजनासद्भावादात्मकल्पेन व्यवतिष्ठत इत्येतद्विवक्षितम्। तस्माद्युक्तमेतत्तदपघातके हेतौ जिज्ञासा प्रवर्तत इति।

दृष्टे साऽपार्था चेत्

स्यादेतत् प्रत्यक्षो दुःखप्रतीकारहेतुरस्ति। तस्य समतिक्रमे किं प्रयोजनम्? तद्यथा, शारीरस्य तावदयमपगमहेतुरनेकद्रव्यरसायनोपभोगः। मानसस्यापि मनोज्ञस्त्रीपानविलेपनभोजनवस्त्रालङ्कारादिविषयसम्प्राप्तिः। आधिभौतिकस्य नीतिशास्त्राभ्यासः, शस्त्रास्त्रकुशलता, विषमस्थानानध्यासश्च। आधिदैविकस्यापि यथाकालं विविधनिवसनास्तरणगर्भगृहप्रासादजालान्तरचन्दनव्यजनमणिहारादिसेवा विविधौषधमङ्गलस्तुतिमन्त्रप्रयोगानुष्ठानमिति दृष्टे हेतौ सा जिज्ञासाऽपार्थेति चेत्—

नैकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

एतच्च नैवम्। कस्मात्? एकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात्। एकान्तो नाम नियमेन भावः। अत्यन्तं भूतस्याविनाशः। एकान्तश्च अत्यन्तं च ते एकान्तात्यन्ते तयोरभाव एकान्तात्यन्ततोऽभावः तस्मात्। षष्ठीस्थाने पञ्चमी। षष्ठ्या एव वा तसिः 'षष्ठ्या व्याश्रय' इति योगविभागात्। असमासकरणं वृत्तपूरणार्थम्। मानसस्य च दुःखस्य प्रतीकारे दोषान्तरोपसंग्रहार्थम्। तथा हि, स्त्र्यादीनां सत्येतस्मिन् दोषद्वयेऽशक्यमर्जनं कर्तुम्, स्वाभाविकत्वात्। सत्यर्जने रक्षणमशक्यं, साधारणत्वात्। सति च रक्षणे क्षयः कृतकत्वात्। सङ्गाच्चानुपशमो भूतोपघातमन्तरेण चासम्भव इत्येते दोषाः।

आह, कथमेतदवगम्यते यद् दृष्टस्य हेतोरनैकान्तिकत्वमनात्यन्तिकत्वं चेति ? उच्यते--प्रत्यक्षम् एवैतदुपलभ्यते। यदायुर्वेदविहितस्य क्रियाक्रमस्याभियुक्तमात्मवन्तं भेषजभिषक्परिचारकसम्पन्नं प्रत्यानर्थक्यम्। आह च--

सर्वेषां व्याधिरूपाणां निदानं त्रिविधं स्मृतम्।
आहारश्च विहारश्च कर्म पूर्वकृतं तथा॥
तत्राहारविहारोत्थान् रोगान् द्रव्यमपोहति।
यस्तु कर्मकृतो व्याधिर्मरणात्स निवर्तते॥

पुनरप्याह—

सोपद्रवः सर्वरूपो बलमांसेन्द्रियापहः।
सारिष्ठश्चव यो व्याधिस्तं भिषक् परिवर्जयेत्॥

इत्येवमनैकान्तिकत्वम्। अनात्यन्तिकत्वं तु निवृत्तानामपि व्याधीनाम्पुनरुत्पत्तिदर्शनात्। महता खल्वपि प्रयत्नेन निवर्तिता व्याधयः पुनरुत्पद्यन्ते। तथा चोक्तम्--

पुनर्ज्वरे समुत्पन्ने क्रिया पूर्वज्वरानुगा। इति

तस्माद्यथैवास्यायुर्वेदादेः प्रतीकारहेतुत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेवमेकान्ताऽत्यन्ततोऽभावोऽपि। तथा मानसस्य च। यथा च शारीरदुःखप्रतीकारहेतवोऽनैकान्तिकाः तथा स्त्र्यादयोऽपि। कस्मात् ? तत्सन्निधाने विषयान्तराभिलाषदर्शनात्। यदि हि स्त्र्यादयो विषयाः सर्वदा दुःखप्रतीकारसमर्था भवेयुः, किमिति तेषु सन्निहितेषु विषयिणो विषयान्तर-जिघृक्षा स्यात् ? एवमनैकान्तिकत्वम्। अनात्यन्तिकत्वमपि। निवृत्तेच्छानामपि भूयः प्रार्थनासम्भवात्। यदि हि विषयोपभोगोऽत्यन्तमेव मानसं दुःखमपहन्यात् किं प्राप्तं येन भूयस्तं प्रति विषयिणोऽभिलाषः स्यात् ? किं कारणम् ? यस्मान्न ह्यविद्यमाने तमसि देवदत्तस्य प्रदीपं प्रत्यपेक्षा भवति। दृश्यते च निवृत्तेच्छानामपि विषयोपभोगा-द्विषयिणां भूयो विषयाभिलाषः। तेन मन्यामहे नायं दृष्टो हेतुर्दुःखमपहन्ति। किन्तर्हि सुतरां वृद्धिं करोति। आह च—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अपर आह—

संवेद्यत्वाद् गुरुत्वाच्च निन्दितत्वाच्च साधुभिः।
सर्वत्रासन्निधानाच्च न दृष्टो हेतुरिष्यते॥

संवेद्यत्वात्। भोगसाधनविकलानामर्थिनां मध्ये विषयिणोपयुज्यमानास्तैस्संवेद्यन्ते। तेषामप्रदायोपयुज्यमानं नैर्घृण्यमाविष्कुर्यात्। विषयिणा प्रदीयमानो वाऽर्थिभ्यः परिमितत्वादवच्छिद्येतेत्यनुपायोऽयं दुःखापघाते बुद्धिमताम्। किञ्च गुरुत्वात्। भोगानां

विविधनिवसनस्त्रीपानभोजनविलेपनालंकारादीनां सामग्र्ये सुखमुत्पद्यते । नाऽन्यतरवैकल्ये । सामग्र्यं चैषामस्वाभाविकत्वादनुपपन्नम् । आह च—

नाभिजातिं न विज्ञानं न च शौर्यमपेक्षते ।
लक्ष्मीः संस्कारयोगाच्च क्वचिदेवावतिष्ठते ॥

इत्येवमनेकार्थाश्रयत्वाद् गुर्विषयभोगः । किञ्च निन्दितत्वाच्च साधुभिः । निन्दितः खल्वपि साधुभिर्विषयोपभोगः । यस्मादाह—

आयासाश्च विघाताश्च विप्रलम्भभयानि च ।
यच्चान्यदशिवं लोके तत्कामेभ्यः प्रवर्तते ॥

पुनरप्याह—

अयं सक्षेत्रियो व्याधिरयमात्यन्तिको ज्वरः ।
इदमास्पदमीतीनामेष योनिः सपाप्मनाम् ॥
अगाधमेतत्पातालमेष पङ्को दुरुत्तरः ।
क्लेशव्याधिभयाकीर्णमेतच्छ्वभ्रं भयावहम् ॥
विविधायासशोकानामेतदायतनं महत् ।
दैन्यश्रमविषादानामेतत्क्षेत्रमपावृतम् ॥
यस्माद्विषयसम्भोगाद्विहगः पञ्जरादिव ।
गतो वनेषु रमते स सुखानि समश्नुते ॥

तस्मात् साधुभिरपाकृतत्वादसाधुर्विषयोपभोगः । किञ्च सर्वत्राऽसन्निधानात् । न हि सुप्रतिनिविष्टस्यापि कामिनः सर्वत्र विषयसन्निधानेन भवितव्यम् । नो खल्वपि एकस्मिन् देशेऽवस्थानं सम्भवति, विषयाभावप्रसङ्गात् । तस्मादवश्यं वियोगेन भवितव्यम् । वियोगे च सति ध्रुवोऽनिष्टानुबन्ध इति कोऽर्थो विषयपरिग्रहेण ? तत्र यदुक्तं दृष्टस्य हेतोः सद्भावादपार्थका जिज्ञासेति एतदयुक्तम् ॥ १ ॥

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

अन्वयः—आनुश्रविकः, (हेतुः), दृष्टवत्, (वर्तते); हि, सः, अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः, (अस्ति); (अतः), व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्, तद्विपरीतः, (सांख्यप्रतिपादितः, हेतुः), श्रेयान्, (वर्तते) ॥२॥

शब्दार्थः—आनुश्रविकः=वैदिक कर्मकलापरूप, (हेतुः=दुःखों के उपशमन का उपाय) दृष्टवत्=लौकिक उपाय के सदृश ही, (वर्तते-है) । हि=क्योंकि, सः=वैदिक कर्मकलापरूप उपाय, अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः—अविशुद्धिः=(पशु हत्या के कारण) अशुद्धता, क्षयः=नाश अर्थात् नष्ट हो जाने वाले फल, तथा अतिशयः=कमी-बेसी अर्थात् न्यूनाधिक परिणाम

(फल) से युक्त है। (अतः=इसलिए), व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्–व्यक्त=कार्य, अव्यक्त=कारणरूप प्रकृति, तथा ज्ञ=पुरुष के, विज्ञानात्=विवेक ज्ञान से अर्थात् विवेक ज्ञान कराने के कारण, तद्विपरीतः=लौकिक तथा वैदिक उपायों से विपरीत (सांख्यप्रतिपादितः=सांख्यशास्त्र में बतलाया गया, हेतुः=उपाय), श्रेयान्=श्रेयस्कर, (वर्तते है) ॥२॥

अर्थः– वैदिक कर्म-कलापरूप उपाय भी लौकिक उपायों के समान ही है (अर्थात् वैदिक उपाय भी दुःखों को पूर्णरूप से तथा सर्वदा के लिये समाप्त करने में असमर्थ है)। क्योंकि वह (वैदिक कर्मकलाप) अशुद्धि, विनाश तथा विषमतारूप दोषों से युक्त है। अतः व्यक्त (कार्य), अव्यक्त (कारणरूप-प्रकृति) तथा ज्ञ (पुरुष) के विवेकज्ञान को कराने के कारण लौकिक तथा वैदिक उपायों से विपरीत (सांख्य-शास्त्रों में प्रतिपादित उपाय) अधिक श्रेयस्कर है ॥ २ ॥

त० प्र० मा भूद् दृष्टः उपायः। वैदिकस्तु ज्योतिष्टोमादिः कर्मकलापः दुःखत्रयमेकान्तमत्यन्तञ्चापनेष्यति। अतः पुनरपि व्यर्था जिज्ञासा इत्याशङ्क्य उच्यते— 'दृष्ट' इति। गुरुपाठादनुश्रूयते इति अनुश्रवः वेदः। तत्र भवः विहितः प्राप्तः वा। आनुश्रविकः वेदप्रतिपादितःकर्मकलापः दुःखत्रयोपशमे दृष्टेन लौकिकेन उपायेन तुल्यो वर्तते। हि यतः सः वैदिकोपायः अविशुद्धियुक्तः वर्तते। अविशुद्धिस्तु पशुघातात्, बीजनाशात् तथा मादकद्रव्यस्य सोमस्य च पानात्। तथा चोक्तम्–"षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभि"रिति, इत्थं श्रुतिप्रातिपादितः धर्मोऽपि मिश्रीभावादविशुद्धियुक्तः इति। इन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इति भगवद्वचनात् तव शास्त्रमेव अत्र प्रमाणम्। तथा अतिशयो विषमता तेन युक्तः। श्रुतिप्रतिपादिताः ज्योतिष्टोमादयः स्वर्गमात्रहेतवः किन्तु तत्रैव विहिताः वाजपेयादयस्तु स्वर्गराज्यस्येत्यतिशययुक्तत्वम्। हीनः श्रीमन्तं विलोक्य दुःखमनुभवत्येव। क्षयातिशयौ यद्यपि फलगतौ तथाप्यत्र फलहेतौ यज्ञे उपचरितौ स्तः। आनुश्रविकोऽत्र कर्मकलापाभिप्रायपरः प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानस्य छान्दोग्यादौ विवेचनात्। कः तर्हि श्रेयान् इति प्रश्ने उच्यते—व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् व्यक्तञ्चकार्यञ्च, बुद्धिः अहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादश इन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि व्यक्तपदेनोच्यन्ते एतानि एव कार्याणि अपि। अव्यक्तञ्च कारणं प्रकृतिश्चेत्यर्थः, ज्ञश्च पुरुषश्च व्यक्ताव्यक्तज्ञाः, तेषां विज्ञानं विविच्य ज्ञानम्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानं तस्मात् कारणात्, ताभ्यां दृष्टानुश्रविकाभ्यां विपरीतः भिन्नक्रमः हृदि चिन्त्यमानत्वात् सांख्यप्रतिपादितः हेतुः श्रेयान् प्रशस्यतरौः वर्तते। प्रशस्ततायाम् अविशुद्धिक्षयातिशयाऽयुक्तत्वमेव हेतुरिति ॥ २ ॥

टिप्पणी अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः—वैदिक यज्ञ में पशुओं की हत्या की जाती है। बहुत से व्यक्तियों की क्षुधा शान्त करने में समर्थ बीजराशि आग में जला दी जाती है। तथा इन्द्रियों और बुद्धि को विह्वल बना देने वाली सोम-सुरा पी जाती है। अतः वैदिक यज्ञ, जो दुःखनाश का उपाय माना जाता है, अविशुद्धि से युक्त है।

यज्ञ करके स्वर्ग को गये हुए देवगण पुण्य के क्षीण हो जाने पर पुनः इसी दुःखपूर्ण संसार में आ जाते हैं। यही वैदिक कर्मकलाप (वस्तुतः वैदिक कर्मकलाप के फल) का क्षय है। वेदों में विभिन्न यज्ञयागादि वर्णित हैं। एक को करने वाला स्वर्ग का साधारण सदस्य बनता है तो दूसरे का कर्ता वहाँ का अधिकारी हो जाता है। यही है वैदिक कर्मकाण्ड का (वस्तुतः वैदिक कर्मकाण्ड के फल का) अतिशय विषमता से युक्त होना। ऐसी अवस्था में आगे बढ़े हुए को नीचे रह जाने वाला इर्ष्या की दृष्टि से देखता है।

'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्'—बुद्धि, अहङ्कार, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा घ्राण (ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा वाक्, हाथ, पैर, पायु (गुदा), उपस्थ (लिङ्ग) (ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ), मन, शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र (ये पाँच महाभूतों के सूक्ष्मरूप) और आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, (ये स्थूलभूत या महाभूत) व्यक्त कहे जाते हैं। क्योंकि ये कार्य हैं। अव्यक्त प्रकृति को कहते हैं और पुरुष को ज्ञ कहा जाता है। ये ही साँख्य के पचीस तत्त्व हैं। इन्हीं के स्वरूप-ज्ञान से व्यक्ति मुक्ति (तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा) प्राप्त करता है॥ २॥

युक्ति० -आह—यद्येकान्तात्यन्ततोऽभावाद् दृष्टे हेतावपरितोषस्तेन तर्ह्यस्त्ययमन्यो हेतुरुभय दोषवर्जितः, स कस्मान्न परिगृह्यते? कोऽसाविति चेत्, स उच्यते, शास्त्रोक्तः कर्मविधिः। स ह्यैकान्तिकः। कथम्? एवं ह्याह—पशुबन्धेन सर्वांल्लोकान् जयति। न तूक्तं कदाचिज्जयति, कदाचिन्नेति। फलस्य प्रत्यक्षानुपलब्धेरनैकान्तिकत्वमिति चेत्, स्यान्मतम्—प्रत्यक्षत एवेदं विहितस्य कर्मणः फलं नोपलभ्यते। तथा हि पुत्रकाम इष्टिं निरूप्य दुहितरमपि न प्राप्नोति। अर्थकामश्च कर्म कृत्वा माषकमपि न लभते। तस्मान्नायमैकान्तिक इति। एतच्च नैवम्। कस्मात्? साधनवैकल्यात्तदनुपपत्तेः। अनेकसाधनसाध्यो हि कर्मविधिः। यत्र फलं नोपलभ्यते तत्र साधनवैकल्यमनुमातव्यम्। कस्मात्? न ह्येतदिष्टं, सति कारणे कार्यं न भवति। किञ्चान्यत्, संसाराऽभावप्रसंगात्। यदि खल्वपि कर्मणः फलवत्त्वं नेष्यते तेन तन्निमित्तस्य संसारस्याभावप्रसंगः। अनिष्टञ्चैतत्। तस्मात्सिद्धमस्यैकान्तिकत्वम्।

आत्यन्तिकत्वमपि सिद्धमेव। यस्मादाह-अपाम सोमममृता अभूमेति (अथर्वशिरः ३)। अत्र सोमपानादमृतत्वावाप्तिः श्रूयते। तस्मात्तदेवानुष्ठातव्यम्। किमन्येन हेतुना परिकल्पितेनेति जिज्ञासाऽपार्थैवेति। उच्यते—

दृष्टवदानुश्रविकः

अनुश्रूयते इत्यनुश्रवः। अनुश्रवे भव आनुश्रविकः। दृष्टेन तुल्यं वर्तते दृष्टवत्। किमसावनभिप्रेत इति वाक्यशेषः।

आह, कः पुनरयमनुश्रवः ? उच्यते—मन्त्रब्राह्मणं यावद्वा पुरातनमनुश्रूयमाणं प्रामाण्येनाभ्युपगम्यते तत्रभवद्भिः । यथा श्रुतिनिबन्धनाः स्मृतयः । अङ्गानि वेदास्तर्का वा । यथाह

वेदवेदाङ्गतर्केषु वेदसंज्ञा निरुच्यते । इति ।

आह, किं पूर्वस्मादेव हेतोरयमानुश्रविको हेतुरनभिप्रेत इति ? नेत्युच्यते । किन्तर्हि

स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।

इति । स इत्यानुश्रविकस्य हेतोः प्रतिनिर्देशः । हिशब्दो यस्मादर्थे । अविशुद्धिश्च क्षयश्चातिशयश्च तैर्युक्तः । एतदुक्तं भवति—यस्मादयमानुश्रविको हेतुरविशुद्धोऽनित्यस्तारतम्यवांश्चातो दृष्ट इवाऽनभिप्रेतः ।

तत्राविशुद्धियुक्तस्तावत् हिंसाविधानात् । यदाह ब्राह्मणे—ब्राह्मणमालभेतेत्यादि । तथा—

षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥

इति हिंसा चाविशुद्धिः प्राणिनामिष्टशरीरव्यापादनात् । आह, तदनुपपत्तिः शास्त्रचोदितत्वात् । यदि शास्त्रेण चोदितेयं हिंसा न स्यात्, मुक्तसंशयमविशुद्धित्वमस्याः प्रतिपद्यामहे, शास्त्रचोदिता तु । तस्मान्नेयमविशुद्धिः । तत्प्रामाण्याऽनभ्युपगमादविशुद्धिरिति चेत् स्यान्मतम्, वेदप्रामाण्यमभ्युपगच्छतामसंशयमेतदेवं स्यात् । हेतुवादकुशलास्तु वयम् । तस्मादधीयतां यदि कश्चिदस्त्युभयपक्षप्रसिद्धो हेतुः यतो निस्संशयः प्रत्ययः स्यादिति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? अभ्युपगमविरोधात् । दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्चेति प्रामाण्यत्रयमभ्युपगतं भवद्भिः । इदानीं वेदस्याप्तवचनत्वे सत्यप्रामाण्यं ब्रुवतः स्वमतव्याघातः । तस्मादयुक्तमेतत् । वेदस्याप्तवचनत्वानुपपत्तेरदोष इति चेत्स्यान्मतम् । आप्तवचनत्वं प्राक्प्रसाध्यास्य वेदस्य पश्चात् अयमुपालम्भो युक्तमभिधातुं स्यात् । तत्त्वसिद्धम् । तस्मादनुपालम्भोऽयमिति । एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? पुरुषबुद्धिपूर्वकत्वे सति रागादियोगाच्छब्दो विचारार्हः स्यात् किमाप्तवचनं न वेति । अपुरुषबुद्धिपूर्वकस्त्वाम्नायः स्वतन्त्रः पुरुषनिश्श्रेयसार्थं प्रवर्तते । तस्मान्नैवंविधमनिष्टं विचारमर्हति । किञ्चान्यत् अविशुद्धित्वानुपपत्तिप्रसंगात् । यदि चैतस्मिन्नर्थे भवानपि पर्यनुयुज्येत—कथमिदं निश्चीयते यदुत प्राणिनामिष्टशरीरव्यापादनादविशुद्धिर्हिंसेति ? अवश्यमभिधानीयं शास्त्रत इति । तदेव च शास्त्रं क्रतौ हिंसामाह । तस्मात् कोऽत्र हेतुः अन्यत्र प्रमाणमिहैवैतदप्रमाणं भवितुमर्हति हिंसातो धर्म इति ? अनुग्रहोपघातलक्षणत्वादहिंसाहिंसयोः प्रत्यक्षसिद्धिरिति चेत्—अथापि स्यात्, अहिंसातश्चानुग्रहो भवतीष्टशरीराव्यापादनलक्षणः, हिंसातश्चोपघातो भवति अभिप्रेतशरीरव्यापादनलक्षणः । क्रियानुरूपं च फलमनुमातुं युक्तमिति प्रत्यक्षसिद्धमनयोरिष्टानिष्टफलहेतुत्वम् । तस्मात् कोऽत्र शास्त्रव्यापार इति ? एतच्चानु-

पपन्नम् । कस्मात् ? अनिष्टप्रसंगात् । एवं हि परिकल्प्यमाने गुरुभार्यागमनेऽपि सत्त्वान्तरानुग्रहसामर्थ्यादिष्टफलसम्बन्धः स्यात् । माणवकं चोपनीय व्रतादेशशौचब्रह्मचर्य्यस्वाध्यायाभ्यासभैक्षाग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषादिषु प्रवर्तयतोऽनिष्टफलसम्बन्धः स्यात् । तस्माल्लोकशास्त्रविरुद्धोऽसत्तर्को नेष्ट इति । उभयाभिधानाच्छास्त्रविरोधप्रसङ्ग इति चेत्, स्यान्मतम् । तदेव शास्त्रमहिंसामाह, तदेव हिंसाम् । एवं सति परस्परविरुद्धयोरर्थयोश्चोदितत्वादुभयानुग्रहासम्भवे शास्त्रविरोधप्रसङ्ग इति । तच्च नैवम् । कस्मात् ? उत्सर्गापवादयोर्विषयभेदात् । सामन्ये हि शास्त्रमहिंसामुत्सृज्य विशेषे क्रतुलक्षणेऽपवादं शास्ति । सामान्यविहिञ्च विशेषविहितेन बाध्यते । तद्यथा-दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयताम्, तक्रं कौण्डिन्यायेति । तस्मादुत्सर्गापवादयोर्विषयभेदान्नास्ति शास्त्रविरोध इति । किञ्चान्यत् । कन्यागमनवत् पुनर्विधाने दोषाभावात् । यथा खल्वपि शास्त्रे प्रतिषिद्धं कन्यागमनमिति नेदानीमभिरूपः प्रतिगृह्य तामभिगम्याऽधर्मभाग्भवति ।

'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्विकाम्'

इति शास्त्रान्तरसद्भावात् । एवं शास्त्रे प्रतिषिद्धा हिंसा । नेदानीं क्रतौ हिंसायां प्रवर्तमानोऽनिष्टफलभाक् स्यात् । पूर्वोक्तादेव शास्त्रान्तरसद्भावात् । तत्र यदुक्तं प्राणिनामिष्टशरीरव्यापादनादविशुद्धिर्हिंसेत्येतदयुक्तम् ।

उच्यते —न, अभिप्रायानवबोधात् । चिरमपि बह्वेतदभिधीयमानो नाभिप्रायं वेद भवान् । किं कारणम् ? यस्मान्न वयं वेदस्य प्रामाण्यं प्रत्याचक्ष्महे । नो खल्वपि ब्रूमः शास्त्रचोदितायां हिंसायां प्रवर्तमानस्यानिष्टफलसम्बन्धो भवति । किन्तर्हि सति स्वर्गप्राप्तिनिमित्तत्वे वेदविहितस्य कर्मणः समनुष्ठानं प्राणिजमुपघातमन्तरेण न सम्भवति इति हितकामैरप्युपेक्ष्यते । यस्मात् न ह्येतदुक्तं यदन्येषामुपघातेनात्मानुग्रहः कार्य इति । आह—

न तत्परस्य सन्दध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष सङ्क्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥

आह—यद्येतन्नाभ्युपगम्यते कथं पूर्वमुक्तं प्राणिनामिष्टशरीरव्यापादनादविशुद्धिर्हिंसेति ? उच्यते, कार्ये कारणोपचारात् । योऽसौ हिंसानिमित्तकः कारुण्यात् मनसि नः परिताप उत्पद्यते सा खल्वविशुद्धिरभिप्रेता । तस्यां कारणमुपचर्योक्तमविशुद्धिर्हिंसेति । यथा मुद्गैस्तृप्ताः गावः सुखिता इति । आह, कथमेतदवगम्यते हिंसाकार्यं परितापमात्रमविशुद्धिराचार्यस्याभिप्रेता, न पुनर्हिंसैवेति ? उच्यते, प्रकर्षप्रत्ययोपलब्धेः । वक्ष्यत्युपरिष्टात् तद्विपरीतः श्रेयानिति (का० २) । समानजातीयं च प्रतियोगिनमपेक्ष्य प्रकर्षप्रत्यय उत्पद्यते । यदि चानुश्रविकस्य प्रशस्यता नाभिप्रेता स्यात् प्रकर्षप्रत्ययानुपपत्तिप्रसङ्गः । तस्मान्नोत्सूत्रमेतत् । आह, सन्न्यासाऽनुपपत्तिः । अवियोगश्रवणात् । न हि कर्मणोऽत्यागसन्न्यासयोस्त्वमीशिषे । किन्तर्हि शास्त्रं यदाह तदवश्यं कर्तव्यम् । तच्चामरणात् कर्मभिरवियोगं शास्ति । कस्मात् ? एवं ह्याह—"जरामर्यमेतत् सत्रं यदग्निहोत्रदार्श-

पौर्णमासौ, जरया ह एतस्मात् सत्राद्विमुच्यते, मृत्युना च।" पुनरप्याह—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।" (ईशावा० २) तस्मादाचरणात् कर्मणामत्यागः। तस्मिन् सति हेत्वन्तरकर्मणामानर्थक्यम्। उच्यते—न, साधनानामस्वाभाविकत्वात्। पत्नीसंयोगादिभिरनेकैः साधनैरयं कर्मविधिः प्रसाध्यते। तेषां चास्वाभाविकत्वात् अशक्यमर्जनं प्रयोगतः पत्रं कर्तुमिति प्रतिपादितम्। तस्मादनित्यानि कर्माणि। हेतुशास्त्रविप्रतिपत्तौ शास्त्रबलीयस्त्वमिति चेत् स्यान्मतम्, यत्र हेतुशास्त्रयोर्विप्रतिपत्तिर्भवति तत्र विप्रलम्भभूयिष्ठत्वादनुमानस्य बलीयः शास्त्रमित्यवश्यमभ्युपगन्तव्यमिति। तच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? शक्तितो विनियोगात्। शक्तिमपेक्ष्य शास्त्रमग्निहोत्रादीनि कर्माणि विदधत्तेषामनित्यतां ज्ञापयति। कथम्? एवं ह्याह, "योऽलं सन्नग्निहोत्रायाग्निहोत्रं न जुहोति तमेषा देवताऽपरुद्धाऽपरुणद्ध्यस्माल्लोकादमुष्माच्चोभाभ्याम्।" तस्मादनित्यानि कर्माणि। किञ्चान्यत्। जराग्रहणसामर्थ्यात्। त्वदीय एव ज्ञापके जराग्रहणमस्ति। अतोऽनुमीयते शक्त्यपेक्षमनित्यं च कर्म। किञ्चान्यत् शास्त्रहानेः। उभयं हि शास्त्रे निर्दिष्टम्। कर्माणि सन्न्यासश्च। यदि पुनः कर्माणि नित्यकर्तव्यतयेष्यन्ते तेन सन्न्यासशास्त्रं हीयते। तस्माद्विषयरागाविष्करणमेतद्वः। आह, न, श्रुतिबलीयस्त्वात्। तुल्यबलयोर्हि शास्त्रयोरेकविषयसन्निपाते द्वयोर्युगपदनुग्रहासम्भवे विल्पपर्यायौ भवतः। श्रुतिस्मृतिसन्निपाते च श्रुतिर्बलीयसी, स्मृतिविहितश्च सन्न्यासः। तस्मान्नानयोर्विकल्पः। नो खल्वपि पर्यायो न्याय्यः। उच्यते—तदितरत्र तुल्यम्। यथैव कर्मणां समनुष्ठानं शास्ति शास्त्रं तथा सन्न्यासमपि। कथम्? एवं ह्याह—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति॥ (कैवल्योप० ३)

तथा— न कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमाणाः।
अथाऽपरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः॥

ब्राह्मणं चात्र भवति—"तद्य इदं विदुः, ये चेमेऽरण्याः श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति। अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति।" (छान्दो० ५।१०) पुनरप्याह—"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै पूर्वे विद्वांसः प्रजां नाकामयन्त, प्रजया किं करिष्यामो येषां नायमात्मा नायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति।" (बृह; ४ ब्रा०) तस्मादेते त्यागसन्न्यासयोरुभयोर्लिङ्गम्। आह—यद्यप्येवं शास्त्रं तथाऽपि समनुष्ठाने विधिरस्ति। विहितं चावश्यं कर्तव्यम्। सन्न्यासे त्वर्थवादमात्रमित्यनयोरय विशेषः। तस्मिन् सति समनुष्ठानं ज्यायो न त्यागः।

उच्यते—कोऽयं विधिः, कोऽयमर्थवादः? आह—विधिस्तदर्थत्वेनापूर्वोपदेशः। यो हि विध्यर्थेन लिङा लोटा कृत्यैर्वाऽपूर्वोपदेशः क्रियते स विधिः। यथा—अग्निहोत्रं जुहुयात्

स्वर्गकामः । वायव्यं श्वेतमजमालभेत भूतिकाम इति । स्तुतिरर्थवादः । तस्य तु विहितस्य प्ररोचनार्थं या स्तुतिः सोऽर्थवादः । तद्यथा—"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव तेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति" (तै० स० २।१।१) इति । एवंविधां हि स्तुतिमुपश्रुत्य फलार्थिने हि यजमानाय विधिः प्ररोचते । एतस्मिन् हितकामः प्रवर्तते इति । उच्यते–न, अत एव सन्न्याससिद्धिः । एवं चेन्मन्यसे यमाम्नायः श्रेयांसमर्थं मन्यते, तं प्ररोचनाय स्तौति तथा सन्न्याससिद्धिः । कस्मात् ? स्तुतत्वात् । बहुलार्थिनां सन्न्यासमाम्नायः स्तौति । स कस्मान्न प्ररोचते ? इतरथा ह्यानर्थक्यम् । यदि खल्वप्यर्थवादः स्तुवन्नपि न प्ररोचयेत् यदुक्तं प्ररोचनार्थोऽर्थवाद इति तद् भवद्भिर्हापितव्यं स्यात् । अनर्थको ह्येवं सत्यर्थवादो न प्ररोचनार्थः । अर्थान्तरवचनं वा । यदि प्ररोचनार्थत्वमस्य नेष्यते तेन तर्ह्यर्थान्तरं वक्तव्यम् । मा भूदनर्थकत्वं वेदैकदेशस्येति । तस्मान्नानया विभीषिकया वयं शक्याः सन्मार्गादपनेतुम् । किञ्चान्यत् । उभयथा विकल्पेऽनिष्टप्रसङ्गात् । इहायमाम्नायो विधेयत्वेन वा सन्न्यासं स्तूयात् अविधेयत्वेन वा । किञ्चातः ? तद्यदि तावद्विधेयत्वेन स्तौति किमन्यद्विचार्यते ? सिद्धः सन्न्यासः । अथाविधेयत्वेन, स्तुतावस्य प्रयोजनं कर्तव्यम् । यद्धि कर्तव्यतया नेष्टं तदपुरुषबुद्धिपूर्वकः स्वतन्त्रः पुरुषनिश्श्रेयसार्थं प्रवर्तमान आम्नायः किमिति प्ररोचयेत् ? तस्मादेतामपि कल्पनां कृत्वा कृशमेवैतत् । अथवोभयथा विकल्प इत्यस्यायमन्योऽर्थः । इहायमाम्नायो भूतार्थेन वा सन्न्यासं प्ररोचयेत् अभूतार्थेन वा ? किञ्चातः ? तद्यदि तावद् भूतार्थेन प्ररोचयति तथा सत्यमृतत्वप्रापकस्य सन्न्यासस्यापरिग्रहे विषयरागादन्यो हेतुर्वक्तव्यः । अथाभूतार्थेन, पुरुषो निःश्रेयसाद्धीयते । कस्मात् ? नह्येतद्युक्तं यदश्रेयसि मार्गे प्रमाणभूत आम्नायो मातृमोदकन्यायेन हितार्थिनः प्राणिनः प्रतारयेत् । तस्मादयुक्तमेतत् । किञ्चान्यत् अनेकान्तात् । न चायमेकान्तो यद्विहितमेव कर्तव्यम् । तथा च शाबराः पठन्ति—ग्रामगमनं भवतः शोभनमित्यत्रान्तरेण विधिं स्तुतिरेव देवदत्तं ग्रामगमनाय प्ररोचयतीति । किञ्चान्यत्, आशङ्काप्रसंगात् । यदि खल्वपि किञ्चित् सत्यं किञ्चिदनृतं ब्रूयाद्वेदः तथा सति पौरुषेयवाक्यवद्वेदवाक्येष्वपि आशंका प्रसज्येत । तथा च सति यदुक्तमेव प्रसंगः । अनिष्टं चैतत् । किञ्च विध्यनुमानं वा तत्, एवमेकदेशभूतत्वात् । अथवा विध्येकदेशोऽर्थवाद इत्यतिसृष्टं भवता तत्र सन्न्यासेऽर्थवादमुपलभ्य विधिरप्यस्तीति अनुमातव्यम् । अनुपलम्भाददोष इति चेत् स्याच्चैवं यद्यसौ विधिरुपलभ्यते । तस्मादनुपलम्भादयं दोषान्निवर्तिष्यत इति । एतच्चनुपपन्नम् । कस्मात् ? अनेकभेदत्वात् । उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् । अनेकभेदो हि प्रतिवेदमाम्नायः । तत्र यदुक्तं विधिसद्भावात् क्रियाप्राधान्यमित्येतदप्ययुक्तम् । इतिकर्तव्यतानुपदेशात् सन्न्यासानुपपत्तिरिति चेत् अथापि स्यात् यदि सन्न्यासमप्याम्नायो विधेयं मन्येत । तेन यथा गार्हस्थ्यस्येतिकर्तव्यतां भार्योद्वहनादिकां मन्त्रवदुपदिशति तथा सन्न्यासमप्युपदिशेत् । न तूपदिष्टवान् । तस्मान्नास्ति सन्न्यास इति । एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? अभावात् । इतिकर्तव्यतानां हि सर्वासामभावः सन्न्यासः । तत्र किं शास्त्रमुपदेक्ष्यति ? यावती खल्वितिकर्तव्यता सन्न्यासाङ्गं तामुपदिशति शास्त्रम् । कथम् ? एवं ह्याह—"तपः-

श्रद्धे ये ह्युपवसन्ति अरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजसः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषोऽव्ययात्मा" । (मुण्ड० १।२।११)तत्र तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्तीत्यनेन श्रद्धयोपेतं यमनियमलक्षणं धर्ममाह । अरण्य इति गृहेभ्यो विनिस्सृतिम् । शान्ता इतीन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च विषयाभिलाषाद्विनिवर्तनम् । विद्वांस इति पूर्वरात्रापररात्रादिषु कालेष्वनिर्विण्णस्य योगिनो ज्ञानाभ्यासम् । भैक्षचर्यां चरन्त इति शरीरस्थितिनिमित्तं परिमितमभ्यवहारनियोगम् । उत्तरार्धेन च फलमाचष्टे । तन्निबन्धनश्च विस्तरः सन्न्यासेतिकर्तव्यतायां मन्वादिभिरभिहितः । श्रुतिनिर्वचनाश्च स्मृतयो भवतां प्रमाणमिति पक्षः । तत्र यदुक्तमितिकर्तव्यताऽनुपदेशान्नास्ति सन्न्यास इत्येतदयुक्तम् । एवं च न नित्यानि कर्माणि । यत्त्वनेनैतदुक्तमानुश्रविको हेतुरनैकान्तिक इति सत्यमेतत् । अवश्यं हि कर्मणः फलमभ्युपगन्तव्यम् । इतरथा हि तन्निमित्तस्य संसारस्याभावादनिष्टप्रसङ्गः । तस्मादनिष्टमेवैतदाचार्यस्य । आह, कथमेतदनुमातव्यमिति ? उच्यते, क्षयग्रहणसामर्थ्यात् । यदि पूर्वसूत्रोक्तमिहानुवर्तते क्षयग्रहणमनर्थकं स्यात् । कस्मात् ? अत्यन्ताभावपर्यायो हि क्षय इति कृत्वा । एवं सिद्धोऽविशुद्धियोगः ।

आह, क्षययोग इदानीं कथमनुमातव्य इति ? उच्यते—क्षययोगोऽङ्गपरिमाणात् । क्षययोगः पुनरस्य हेतोरङ्गपरिमाणाद्वेदितव्यः । यानि हि यजेरङ्गानि पशुपुरोडाशादीनि तानि परिमितानि । परिमितानां साधनानां तन्त्वादीनां परिमितं कार्यं पटादि दृष्टम् । परिमितं क्षयधर्मि दृष्टम् । तद्वदेव । किञ्चान्यत् । संसारोपलम्भात् । दृश्यते चायं वाग्बुद्धिस्वभावाहारविहारभेदभिन्नकर्मविहारवैचित्र्यनिमित्तः संसारः । यदि पुनः साक्षात् कृतं कर्मक्षयफलं स्यात् स पुनरावृत्त्यभावात् प्राणिनां नोपलभ्येत । शब्दसामर्थ्यान्नित्यत्वमिति चेत् स्यादेतत् । "शब्दप्रमाणका वयं, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्" । (म०भा० १।१।१) स चास्य हेतोरमृतत्वमाह "तरति मृत्युं, तरति पाप्मानमित्यादि" । तस्मादनिच्छताऽप्येतदवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । अनभ्युपगमे वा प्रतिज्ञाहानिर्वेदः प्रमाणमिति । एतच्च नैवम् । कस्मात् ? शब्दान्तरेण विरोधात् । अनित्यत्वमस्य हेतोः शब्दोऽनुमन्यते । तस्यैवं सति विरोधः प्राप्नोति । कथम् ? एवं ह्याह—"अथ ये इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते, अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते । यथैतमाकाशं आकाशाद् वायुम् । ते धूममभिसम्भवन्ति । धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति । मेघो भूत्वा प्रवर्षति । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिला माषा इति जायन्ते । ततो वै योऽन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति स भूय एव भवतीति ।" तत्र यदुक्तं शब्दसामर्थ्यान्नित्यत्वमित्येतदयुक्तम् । उभयथाभिधानाच्छास्त्रविरोधप्रसङ्ग इति चेत् स्यान्मतम् । तदेव शास्त्रं नित्यत्वमाह तदेवानित्यत्वम् । एवं सति परस्परविरोधिनोरर्थयोश्चोदितत्वात् उभयानुग्रहासम्भवे सति शास्त्रविरोधप्रसङ्ग इति । तच्च नैवम् । कस्मात् ? असम्भवे सत्यर्थान्तरक्लृप्तेः । यत्र हि प्रमाणभूता श्रुतिरसम्भविनमर्थं चोदयति, तत्रार्थान्तरं कल्पयति । तद्यथा—"स आत्मनो वपामु-

दखिदत्" "स्तेनं मन:" "अनृतवादिनी वाग्" इत्येवमादिषु। एवमिहापि नास्ति सम्भवः यदेकोऽर्थो नित्यश्च स्यादनित्यश्चेति। तस्मान्नित्यत्ववाचकस्य शास्त्रान्तरस्य भक्त्याऽर्थान्तरं परिकल्पयिष्यामः। तद्वदितरत्रापीति चेत् स्यान्मतम्--यथैव भवता नित्यानित्ययोरेकत्रासम्भवान्नित्यत्वस्य भक्त्या कल्पना कृता तथैवानित्यत्वस्यापि करिष्यत इति। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? सर्वप्रमाणविरोधप्रसङ्गात्। विनाशे हि भक्त्या कल्प्यमाने सर्वप्रमाणविरोधः प्रसज्येत। कथम्? प्रत्यक्षविरोधस्तावत् संसारोपलम्भात्। अनुमानविरोधः अङ्गपरिमाणे सत्यङ्गिनो नित्यत्वानुपपत्तेः। शब्दविरोधः ते धूममभिसम्भवन्तीति वचनात्। न तु नित्यत्वे भक्त्या कल्प्यमाने दोषोऽयमुपपद्यते। तस्माद्विषममेतत्।

आह, कथमिदानीं भक्त्या कल्पयितव्यं शास्त्रमिति? उच्यते, प्रकृष्टार्थतया। यथा खल्वप्यमृतं वा मृतमतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरमित्यभिधीयते। न च प्राणिनामत्यन्तायासवो जहति, किन्तर्हि प्रकृष्टं कालम्। एवमिहाप्युच्यते तरति मृत्युमिति। नात्यन्ताय मृत्युं तरति, किन्तर्हि प्रकृष्टं कालम्। उपचर्यते हि लोके प्रकृष्टे नित्यशब्दः। तद्यथा नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति। एवं सिद्धः क्षययोगः।

आह, अतिशययोग इदानीमस्य हेतोः कथमनुमातव्य इति? उच्यते—अतिशययोगः क्रियाभ्यासात्। यत्र हि क्रिया सकृत् प्रवर्तते यत्र चासकृदावर्तते तत्रातिशयो दृष्टः। तद्यथा कृष्यादिषु। यज्ञे च द्रव्योपादानशक्त्यपेक्षा। क्वचित् सकृदेव प्रवृत्तिः, क्वचित् पुनःपुनरावृत्तिः। तस्मादतिशयेन भवितव्यम्। किञ्चान्यत् अङ्गातिशयात्। इहाङ्गानामतिशयादङ्गिनोऽपि घटादेरतिशयो दृष्टः। अस्ति चायं प्रतियज्ञमङ्गानां दक्षिणादीनामतिशयः। तस्मादत्राप्यतिशयेन भवितव्यम्। देवताङ्गभावगमनात् क्षयातिशयानुपपत्तिरिति चेत्--अथापि स्यात् यो हि यज्ञे द्रव्यमात्रस्य साधनभावमनुमन्यते तं प्रति क्षयातिशयदोषावपरिहार्यौ स्याताम्। वयन्तु द्रव्यसमवायिनीं देवतां क्रतावङ्गभावमुपगच्छन्तीं विद्मः। तस्माददोषोऽयमिति। तच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? साध्यत्वात्। देवतानामपरिमितत्वं साध्यम्। तदङ्गभावगमनाच्च दोषाभावः। न चात्मक्रियाङ्गत्वमुदासीनत्वात् इति नः सिद्धान्तः। तस्मादयुक्तमेतत्। उपेत्य वा। क्रतुसमनुष्ठानानर्थक्यप्रसङ्गात्। यदि द्रव्यसमवायिनीं देवतामुपलभ्य तदङ्गभावगमनादक्षयो निरतिशयश्च हेतुरवाप्यते इतीष्टं वः, तेन तर्हि यद्वा तद्वा वेदोक्तं कर्म कृत्वा शक्योऽवाप्तुमर्थः। किं प्राणिविनाशहेतुभिः क्रतुभिः? कथम्? न हि किंचित्कर्म विद्यते यत्र शरीरस्याङ्गभावो न स्यात्। सर्वदेवतामयं च शरीरं यस्मादाह तस्माद्वै विद्वान्पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। सर्वा ह्यस्मिन् देवताः शरीरेऽधिसमाहिताः। तत्र यदुक्तं देवताङ्गभावगमनात् क्षयातिशयानुपपत्तिरित्येतदयुक्तम्। एवमयं हेतुस्त्रिदोषः। तेन यः फलविशेषोऽभिनिर्वर्त्यते सोऽपि तथाजातीयक इति शक्यमनुमातुम्। तस्मान्नास्य जिज्ञासोरत्र समाधिः।

आह, यदि नायं श्रेयानिति कृत्वाऽस्य जिज्ञासोर्नात्र समाप्तिः तेन तर्हि यः श्रेयान् फलविशेषः स उपदेष्टव्य इति। उच्यते—

तद्विपरीतः श्रेयान्

तदित्यनेन कर्मविधिनिष्पादितस्य स्वर्गप्राप्तिलक्षणस्य फलस्याभिसम्बन्धः। तस्माद्विपरीतः शुद्धोऽक्षयो निरतिशय इत्यर्थः। कोऽसावित्युच्यते मोक्षः श्रेयान्। एतदुक्तं भवति। उभावप्येतौ प्रशस्यौ स्वर्गापवर्गौ, आम्नायविहितत्वात्। मोक्षस्तु प्रशस्यतरः। कस्मात्? यथोक्तदोषाऽनुपपत्तेः। स ह्यवश्यम्भावित्वादैकान्तिकः। अतीन्द्रियत्वादसंवेद्यः। स्वात्मन्यवस्थितत्वाल्लघुः सर्वत्र सन्निहितश्च। आम्नायस्तुतत्वात्प्रशस्तः। सद्भिरासेवितत्वादनिन्दितः। यमनियमवैराग्यज्ञानाभ्युपायशुद्धेर्विशुद्धः। अद्रव्यत्वादक्षयो निरतिशयश्च।

आह, कथं पुनरयमपवर्गः प्राप्यत इति? उच्यते, संयोगाभावात्। दुःखं च प्रधानम्। तथा च तन्त्रान्तरेष्वप्युक्तम्—दुःखहेतुः कार्यकारणशक्तिरिति। तेन यदा पुरुषस्य संयोगस्तदाऽविशुद्धित्वमस्य। स्वशक्तिविशेषयोगात्तेषु तेषु जात्यन्तरपरिवर्तेषु धर्मादिनिमित्तसामर्थ्यादायासमनुभवति। यदा तु प्रधानसंयोगो विनिवर्तते तदा निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभाव इति कृत्वा न पुनर्द्वन्द्वान्यनुभवति।

आह, किमर्थः पुनरयं प्रधानस्य पुरुषेण सह संयोगः? उच्यते, नैतदिहाभिधानीयम्। वक्ष्यत्ययमुपरिष्टादाचार्यः "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोग इति" (का० २१)।

आह, वियोगस्तर्हि कस्मान्निमित्ताद् भवतीति? उच्यते—

व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ २॥

व्यक्तं चाव्यक्तं च ज्ञश्च व्यक्ताव्यक्तज्ञाः। तेषां विज्ञानं व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानं तस्मात्। बहुष्वनियमादल्पाचोऽपि ज्ञशब्दस्य न पूर्वनिपातः। अथवा ज्ञानस्य साधकतमं व्यक्तम्। तत्पूर्वकत्वादव्यक्तसमधिगमस्येत्यभिहितम्। यद्वा व्यक्तं च अव्यक्तं च ते व्यक्ताव्यक्ते, ते विजानाति इति व्यक्ताव्यक्तज्ञः, तद्विज्ञानात् संयोगो निवर्तते। वक्ष्यति चैतत् "दृष्टा मयेत्युपेक्षत एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या" इति (का० ६६)।

तत्र रूपप्रवृत्तिफललक्षणं व्यक्तम्। रूपं पुनः महानहंकारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि। सामान्यतः प्रवृत्तिर्द्विविधा। हितकामप्रयोजना च, अहितप्रतिषेधप्रयोजना च। विशेषतः पञ्च कर्मयोनयो वृत्त्याद्याः प्राणाद्याश्च पञ्च वायवः। फलं द्विविधम्। दृष्टमदृष्टं च। तत्र दृष्टं सिद्धितुष्ट्यशक्तिविपर्ययलक्षणम्। अदृष्टं ब्रह्मादौ स्तम्बपर्यन्ते संसारे शरीरप्रतिलम्भ इत्येतद् व्यक्तम्। एषां गुणानां सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावगमनाद्विशेषगृहीतिः। यदा त्वङ्गभावमगच्छन्तो निर्लिखितविशेषा व्यवतिष्ठन्ते तदाऽव्यक्तमित्युच्यन्ते। चेतनाशक्तिरूपत्वाच्चित्रं गुणवृत्तं जानातीति ज्ञः। एषां त्रयाणां भेदमभेदं च

विज्ञाय संयोगनिवृत्तिं लभते। कस्मात् ? संयोगनिमित्तप्रतिद्वन्द्विभूतत्वाद्वियोगनिमित्तस्य। इह यदाऽदर्शननिमित्तः प्रधानपुरुषयोः संयोगः तस्मादस्य प्रतिद्वन्द्विभूतेन ज्ञानेन वियोगहेतुना भवितव्यम्। को दृष्टान्तः ? तमःप्रकाशवत्। यथा तमसा तिरोहितानि द्रव्याणि घटादीनि नोपलभ्यन्ते, तत्प्रद्विन्द्विभूतेन तु प्रदीपेन प्रकाशितानामेषामुपलब्धिर्भवति। तद्वदिहापि द्रष्टव्यमिति सिद्धं ज्ञानान्मोक्षः उक्तं च –

वृक्षाग्राच्च्युतपादो यद्वदनिच्छन्नरः पतत्येव।
तद्वद् गुणपुरुषज्ञोऽनिच्छन्नपि केवली भवति॥

किञ्चान्यत्। आम्नायाभिहितत्वात्। आम्नायनिबन्धनो ह्ययमर्थो ज्ञानान्मोक्ष इति, न यादृच्छिकः। कथम् ? एवं ह्याह—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥" (तै० २।१)

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥" (तै० २।४१)

"तमेव विदित्वाऽमृतत्वमेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" (श्वेता० ३।८)। तथा ब्राह्मणेऽप्युक्तम्—"तरति शोकमात्मवित्" (छा० ७।१।३) "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति।" तस्मादाम्नायप्रामाण्यादपि मन्यामहे ज्ञानान्मोक्ष इति।

आह, ज्ञानवाचिनोऽमृतत्वनिमित्ताऽभ्युपगमान्महत आम्नायान्तरस्यानर्थक्यम्। यदि ज्ञानवाचिन आम्नायखण्डकादमृतत्वमवाप्यत इत्येतदभ्युपगम्यते, तेन क्रियावाचिनो महत आम्नायान्तरस्यानर्थक्यं प्राप्तम्। किं कारणम् ? न ह्यनायासेनेष्टावाप्तौ सत्याम् आयासभूयिष्ठे कर्मणि प्रवर्तमानः कृती भवतीति। आह च—

अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य सम्प्राप्तौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥

उच्यते – यदि पुनः कर्माण्यत्यन्तकर्तव्यतयेष्यन्ते, ज्ञानवाचिन आम्नायस्य कथमर्थवत्ता सिद्धा भवति ?

आह, समुच्चये तूभयार्थवत्त्वम्। ज्ञानकर्मणोस्तु समुच्चयेऽभ्युपगम्यमाने द्वयोरप्याम्नायार्थवत्ता सिद्धा भवति। विद्वान् यजेत विद्वान् याजयेदिति वचनात्, तथा सर्वपुरुषाणां क्रतावधिकारः अश्रोत्रियषण्ढशूद्रवर्जमितिन्यायात्। तस्माज्ज्ञानकर्मणोः समुच्चयादिष्टप्रसिद्धिः। उच्यते—न, पूर्वदोषापरिहारात्। यदि नियमतो विदुषैव कर्माणि कर्तव्यानीत्यभ्युपगम्यते तेन यः पूर्वोक्तो दोषः संसाराभावप्रसङ्गः, तस्यापरिहारः। किञ्च शास्त्रहानेश्च। यच्च शास्त्रमिष्टापूर्ते समुपास्यते ते धूममभिसम्भवन्तीति तदेतस्यां कल्पनायां हीयते। किञ्चान्यत् – भिन्नफलत्वात्। इहाभिन्नफलानि द्रव्याणि समुच्चीयन्ते। तद्यथा भुज्यङ्गानि सूपादीनि। अभिन्नं तेषां तृप्तिलक्षणं फलमिति। न चैतज्ज्ञानकर्मणोरभिन्नं फलम्। स्वर्गापवर्गहेतुत्वात। ज्ञानसामर्थ्यात्कैवल्यमभिन्नं फलमिति चेत्

पूर्वेणाविशेषः। यदुक्तं संसाराभावप्रसंग इति तदनपहृतमेव भवति। किञ्चान्यत्—श्रूयमाणफलविरोधश्च। यच्च क्रियायाः फलं श्रूयते अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामो, राष्ट्रमग्निष्टोमेन जयतीति तद्विरुध्यते। कर्मणश्च शेषभावः। स्वार्थोपसर्जनत्वे सत्यर्थान्तरनिष्पादकत्वात्। यथाऽवहन्तीत्येवमाद्याः क्रियाः स्वं फलमुपसर्जनीकृत्य तद्द्वारेण यजेरुपकुर्वन्त्यस्तच्छेषभूता भवन्ति, एवं क्रियापि ज्ञानफलभूतत्वात्तच्छेषभूता स्यात्। विधिसद्भावात् क्रियाप्राधान्यमिति चेन्न उक्तत्वात्। कथमेतत्? नास्ति विधिकृतो विशेषः। उपेत्य वा। तत्रापि तदुत्पत्तेः। अस्ति हि ज्ञानस्यापि विधायकं शास्त्रम्। कथम्? एवं ह्याह—"य आत्मापहतपाप्मा विजिघत्सो विपिपासो विजरो विमृत्युर्विशोकः सन्न्यस्तसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स जिज्ञासितव्यः। सर्वांश्च कामानवाप्नोति य आत्मानमनुविद्य विजानातीति" प्रजापतेर्वचनं श्रूयते। पुनरप्याह "द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च" या। तस्माद्विधिसद्भावात्क्रियाप्राधान्यमिति स्वपक्षानुरागमात्रमेतत्। दृष्टार्थत्वादित्येके। एके पुनराचार्या मन्यन्ते दृष्टमेव ज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तिलक्षणं फलं तस्मान्न शास्त्रेण विधीयते। किं कारणम्? दृष्टार्थस्य हि कर्मणो न शास्त्रं प्रयोजकम्। स्वयमेवार्थितत्वात्तत्र प्रवृत्तेर्भुज्यादिवत्। तेषां ज्ञानविधायकानि वाक्यानि तान्युपायगुणविधानार्थमनुवादभूतान्याश्रीयन्ते। तद्यथा दध्ना जुहोति, पयसा जुहोतीति। यत्तु खल्विदमुच्यते विद्वान्यजेत, विद्वान् याजयेत्, श्रोत्रियस्य च कर्मण्यधिकार इति तस्यायमर्थः—अधीत्य वेदं क्रियाऽनुपूर्वीं च ज्ञात्वा कर्मणि प्रवर्तितव्यम्। एवं च सति न कश्चिद्दोषः। यदि पुनर्नियमत एवात्मविदां कर्मण्यधिकारस्तेन संसाराभावप्रसंगः। स्वाभाविकत्वात्। विज्ञानस्य शास्त्रस्य सर्वाधिकारविरोधः। तस्मान्नास्ति समुच्चयो ज्ञानकर्मणोः।

अपर आह—सत्यम्। नास्त्यनयोः समुच्चयः, किन्तर्हि सर्वार्था क्रिया, ज्ञानं प्रतिषिद्धार्थम्। ये हि षण्ढान्धबधिरादयः कर्मणोऽत्यन्तं निराकृतास्तेषां ज्ञानादाश्रमान्तरेऽमृतत्वावाप्तिः। इतरेषां तु मूलाश्रमे कर्मण एवेति तस्य नायं वादिनः परिहार इति। उच्यते—न, स्वसमयविरोधात्। एवं ब्रुवाणस्यास्य वादिनः स्वसमय एव विरुध्यते। यदुक्तम्—विद्वांसः प्रजां नाकामयन्त, किं प्रजया करिष्यामः? अथ यदुक्तं पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थाय भैक्षचर्याम् चरन्तीति। न च षण्ढानां पुत्रैषणाव्युत्थानमर्थवद् भवति, देवकृतत्वात्। किञ्चान्यत् रहस्यभूतत्वात्। रहस्यभूतं हि वेदानां ज्ञानम्। यस्मादाह तद्ध स्मैतदारुणिरौद्दालकिर्ज्येष्ठाय पुत्राय प्रोवाच। इदं ज्येष्ठपुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्। प्रणाय्यायान्तेवासिने नान्यस्मै यस्मै कस्मैचन। य इमामद्भिः परिगृहीतां वसुना वसुमतीं पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इति। भवति चात्र—

परं रहस्यं वेदानामवसानेषु पठ्यते।
प(ष)ण्डाद्यर्थं तदिष्टं चेद्दिष्ट्या सफलता श्रुतेः॥

विद्वान् कर्माणि कुर्वीतेत्येतदुक्तं किल श्रुतौ।
स च प(ष)ण्डादिरेवस्याद्योऽत्यन्तं कर्मणश्च्युतः॥
स एव वर्त्यतां प्राज्ञैः किं न्याय्योऽथ मतिभ्रमः।
इन्द्रियार्थानुरागो वा द्वेषो वा मोक्षवर्त्मनि॥
कैवल्यप्राप्तिहेतुत्वाद्या वेदविहिता स्तुतिः।
प्रशस्ता याज्ञवल्क्याद्यैर्विशिष्टैस्तत्त्वनिश्चयात्॥
सेयं विषयरागान्धैर्विपरीतार्थवादिभिः।
विद्या कन्येव प(ष)ण्डाय दीयमाना न शोभते॥
तस्माद्रागानुगैरुक्तां कुहेतुपूतनामिमाम्।
अपोह्य मतिमान्युक्त्या ह्याश्रमादाश्रमं व्रजेत्॥ १॥

इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे प्रथममाह्निकम्॥

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥३॥

अन्वयः—मूलप्रकृतिः, अविकृतिः, (अस्ति), महदाद्याः, सप्त, प्रकृतिविकृतयः, (सन्ति); षोडशकः, तु, विकारः, (वर्तते); पुरुषः, न, प्रकृतिः, न, विकृतिः, (अस्ति)॥ ३॥

शब्दार्थः—मूलप्रकृतिः=संसार का मूल कारण प्रकृति, अविकृतिः=(किसी का) विकार अथवा कार्य नहीं, (अस्ति=है); महदाद्याः महत् इत्यादि—महान् (बुद्धि), अहङ्कार, पञ्च तन्मात्राएँ—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र तथा गन्धतन्मात्र, सप्त=सात, प्रकृतिविकृतयः = प्रकृति (कारण, उत्पादक) और विकृति (कार्य, उत्पन्न होने वाले), (सन्ति=हैं); षोडशकः=१६ तत्त्वों (५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, १ मन, तथा ५ महाभूत) का समुदाय, तु=ही, विकारः कार्य (दूसरे से उत्पन्न होनेवाला), (वर्तते=है); पुरुषः पुरुष, न=न तो, प्रकृतिः=कारण (किसी को उत्पन्न करनेवाला), और, न=न तो, विकृतिः=कार्य (अस्ति=है)॥ ३॥

अर्थः—(संसार का) मूलकारण रूप (बीजरूप) प्रकृति किसी का विकार अथवा कार्य नहीं है (अर्थात् प्रकृति किसी दूसरे से उत्पन्न नहीं होती है। महत् इत्यादि बाद के सात तत्त्व (बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ) कारण और कार्य दोनों ही हैं (अर्थात् इनमें से प्रत्येक किसी न किसी से उत्पन्न होता है और किसी न किसी को उत्पन्न भी करता है)। १६ तत्त्वों का समुदाय ही केवल कार्य है (अर्थात् दूसरे से

उत्पन्न होता है किन्तु किसी दूसरे को उत्पन्न नहीं करता है)। पुरुष न कारण है और न कार्य है। (पुरुष न तो किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न ही करता है) ॥ ३ ॥

त० प्र०—अथ संक्षेपतः सांख्यशास्त्रार्थं प्रतिजानीते मूलप्रकृतिरित्यादिना—मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः प्रधानम्। प्रधानं प्रकृतिविकृतिसप्तकस्य उत्पत्तौ मूलभूतत्वात् मूलप्रकृतिरित्युच्यते। मूलप्रकृतिः जगतः आद्यं कारणम्। प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था। अविकृतिः अन्यस्मात् न उत्पद्यते। अतः नेयमन्यस्य कस्यचित् विकारः। अनवस्थाभयात् न अस्याः कारणान्तरं स्वीक्रियते बुधैः। महदाद्याः सप्त—महान्-बुद्धिः, बुद्ध्याद्याः सप्त, बुद्धिः, अहङ्कारः, तथा पञ्च तन्मात्राणि, एताः सप्त, प्रकृतिविकृतयः—प्रकृतयश्च विकृतयश्च इति प्रकृतिविकृतयः कारणकार्याणि। तद्यथा—बुद्धितत्त्वं प्रकृतेः उत्पद्यते, अतः विकृतिः प्रधानस्य कार्यमिति, सैव अहङ्कारमुत्पादयति इति प्रकृतिः उत्पादिका। उत्पत्तिश्चात्र उन्मेषो ज्ञेयः। अहङ्कारोऽपि बुद्धेः उत्पद्यते अतः विकृतिः, स च पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि चोत्पादयतीति प्रकृतिः कारणम्। तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यते इति विकृतिः तत्, तस्मात् शब्दतन्मात्रादाकाशमुत्पद्यते इति प्रकृतिः। तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यते इति विकृतिः, ततः वायुः उत्पद्यते इति तदेव प्रकृतिः। रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यते इति विकृतिः अहङ्कारस्य विकारः, तस्मात् तेजः उत्पद्यते इति प्रकृतिः। रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यते इति विकृतिः, तदेव अप उत्पादयतीति प्रकृतिः। गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यते अतः विकृतिः तदेव पृथिवीमुत्पादयतीति प्रकृतिः। अनया सरण्या महदाद्याः सप्त प्रकृतयः विकृतयश्च भवन्ति। षोडशकस्तु विकारः, श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनात्वगाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, पाणिपादपायूपस्थवागाख्यानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः, पञ्चमहाभूतानि, षोडशसंख्यापरिमितः गणः षोडशक षोडशतत्त्वानां समुदायः इत्यर्थः, विकारः विकृतिः, अन्यस्य कार्यमेव। पुरुषः न प्रकृतिः कस्यचिदपि जनकः, न च विकृतिः कस्यचिदपि जन्यः, पुरुषे न घटते कार्यत्वं कारणत्वञ्चत्यर्थः। प्रकृतित्वमत्र तत्वान्तरोपादानत्वं ज्ञेयम्। इत्थं घटादीन् प्रति पृथिव्यादीनां प्रकृतित्वं निवार्यते। घटादयः पृथिव्यादिभ्यो न तत्त्वान्तरमिति सारः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—मूलप्रकृतिः—सत्त्व, रज तथा तम की समान अवस्था या स्थिति को ही प्रकृति कहते हैं। गुणों की यह साम्यावस्था सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण (प्रकृति) होने के कारण 'मूलप्रकृति' कही जाती है। इसको उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। यदि किसी तत्त्व को इसका भी कारण माना जाय तो प्रश्न उठता है कि उसका कारण कौन तत्त्व होगा। इस प्रकार एक महान् गड़बड़ी (अनवस्था) उत्पन्न हो जायगी। अतः सांख्याचार्यों ने इसे ही 'मूलप्रकृति' माना है। यह अज एवं विभु है।

महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः – बुद्धि, अहङ्कार तथा पाँच तन्मात्राएँ दूसरे से उत्पन्न होने के कारण विकार (कार्य) हैं और दूसरे को उत्पन्न करने के कारण प्रकृति (कारण) भी हैं। जैसे बुद्धि प्रकृति से पैदा होती है। अतः वह (बुद्धि) विकृति है। उससे अहङ्कार उत्पन्न होता है। अत वह प्रकृति भी है। यही क्रम अन्य छः के विषय में भी समझना चाहिए ॥ ३ ॥

युक्ति० आह – सम्यगुपदिष्टं भवता व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षोऽवाप्यते। इदानीमुपदेष्टव्यं कथमेतत्त्रयं प्रतिपत्तव्यमिति। उच्यते – त्रयस्यास्य प्रतिपत्तिं द्वेधा समामनन्ति। समासतो विस्तरतश्च। तदेव त्रयं पञ्चभिरधिकरणैर्भिद्यते। कानि पुनरधिकरणानीति ? उच्यते – प्रकृतिविकारवृत्तं, कार्यकारणवृत्तं, अतिशयानतिशयवृत्तं, निमित्तनैमित्तिकवृत्तं, विषय-विषयिवृत्तमिति। तत्र प्रकृतिविकारवृत्तपूर्वकत्वादितरेषामधिकरणानां तद्भेदान्वक्ष्यामः। तत्पुनश्चतुर्धा भिद्यते। किञ्चित्कारणमेव न कार्यम्। किञ्चित्कारणं च कार्यञ्च। किञ्चित्कार्यमेव न कारणम्। किञ्चिन्नैव कारणं न चापि कार्यमिति।

आह – अतिसामान्योपदिष्टमेतन्नास्माकं बुद्धाववतिष्ठते। तस्माद्विभज्योपदिश्यतां कस्य पदार्थस्य किं वृत्तमिति ? उच्यते-बाढम्। उपदिश्यते—

मूलप्रकृतिरविकृतिः

मूलमाधारः प्रतिष्ठेत्यनर्थान्तरम्। प्रकरोतीति प्रकृतिः। मूलं चासौ प्रकृतिर्मूलप्रकृतिः। मूलप्रकृतिः कस्य मूलम् ? महदादीनाम्। संज्ञा खल्वियं प्रधानस्य मूलप्रकृतिरिति। सा चाविकृतिरविकाराऽनुत्पाद्येत्यर्थः। आह – समासाऽनुपपत्तिः विशेषणान्तरोपादानात्। मूलमित्ययं शब्दः प्रकृतिविशेषणार्थमुपात्तो महदादिविशेषणान्तरमुपादत्ते। तत्र सविशेषणानां वृत्तिर्नेति समासप्रतिषेधः प्राप्नोति। समासान्तरविधानाददोष इति चेत्स्यान्मतम्— यद्येतस्मिन् समासे दोषोऽयमुपपद्यते समासान्तरमत्र विधास्यते मूलं प्रकृतीनां मूलप्रकृतिरिति। एतच्चानुपपन्नम्। कस्मात् ? दोषान्तरोपपत्तेः। एवमप्युपसर्जनं पूर्वं निपततीति षष्ठ्योक्तस्योपसर्जनत्वात्पूर्वनिपात। तत्रैवं भवितव्यं मूलं प्रकृतीनां प्रकृतिमूलमिति। तस्मादिदमप्यसारमिति। उच्यते—पूर्व एव समासोऽस्तु, सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं वृत्तौ समस्यते। यत्तूक्तं विशेषणान्तरोपादानात्समासानुपपत्तिरिति, तत्र ब्रूमः—सम्बन्धिशब्दानां सम्बन्ध्यन्तरमनपेक्ष्य स्वरूपप्रतिलम्भ एव नास्तीत्याकांक्षावतामेव वृत्त्या भवितव्यम्। तद्यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति सम्बन्धिशब्दत्वाद्देवदत्तशब्दमपेक्षमाणोऽपि गुरुशब्दः कुलशब्देन सह वृत्तिं प्रतिपद्यते। एवमिहापि मूलमित्ययं शब्दः सम्बन्धिशब्दत्वान्महदाद्यपेक्षोऽपि प्रकृतिशब्देन सह वृत्तिं प्रतिपद्यत इति। किञ्चान्यत्, वाक्यप्रतिपाद्यस्यार्थस्य वृत्तावुपलब्धेः। यत्र हि वाक्यप्रतिपाद्योऽर्थो वृत्त्या न लभ्यते, यथा ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इति तत्र सविशेषणानां वृत्तिर्नेति व्यवस्थितं शास्त्रे। गम्यते चेह वाक्यप्रतिपाद्योऽर्थो वृत्तावपि

सत्याम् । तस्माददोषोऽयमिति । किञ्च ज्ञापकात् । ज्ञापकं खल्वपि "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" (पा० सू० ३।१।८७) । तथा "अकारस्य विवृतोपदेश" इत्यादि । तस्मान्नात्रासूया कर्तव्येति ।

आह -अवयवस्य प्रत्यवमर्शानुपपत्तिः संज्ञाशब्दत्वात् । संज्ञाशब्देषु हि नावयवस्य परामर्शो भवति । तद्यथा गजकर्णोऽश्वकर्णः । कस्य गजस्य कस्याश्वस्येति । उच्यते—न, अर्थोपपत्तेः । यत्र ह्यर्थ उपपद्यते भवत्येव तत्र संज्ञाशब्देष्ववयवपरामर्शः । तद्यथा, सप्तपर्णान्यस्य पर्वणि पर्वणि, अष्टौ पदान्यस्य पङ्क्तौ पङ्क्तौ सप्तपर्णोऽष्टापदमिति । उपपद्यते चेहायमर्थः, तस्माददोषोऽयम् ।

आह -मूलप्रकृतिरविकृतिः, प्रकृतिरिति वक्तव्यम् । यदाह महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेति । उच्यते—प्रकृतित्वावचनम् । प्रकृतित्वं च मूलप्रकृतेर्न वक्तव्यम् । किं कारणम् ? अर्थादापत्तेः । मूलप्रकृतिरविकृतिरित्येव सिद्धम् । उच्यमानं हि तदनर्थकं स्यात् ।

आह—प्रकृतित्वानुपपत्तिः । सत्कार्यवादाभ्युपगमात् । प्रकरोतीति प्रकृतिः, तद्भावः प्रकृतित्वम् । तच्च सति कार्ये न घटते । कस्मात् ? न हि सतामात्मादीनां कारणमुपपद्यते इति । उच्यते—तदितरत्रापि तुल्यम् । यथैव हि सतामात्मादीनां कारणं नोपपन्नमेवमसतां शशविषाणादीनामपीति नास्ति कश्चिद्विशेषः । तृतीया तु विषादावस्थैव कोटिः । एवमुभयपक्षव्युदासात्स्वपक्षसिद्धिरिति चेत्, अथापि स्यात्—सदसतोःक्रियासम्बन्धं प्रत्यविशेष उपदर्श्यते भवता । तेनोभयोरपि पक्षयोर्व्युदासः कृतो भवति । न चोभयपक्षव्युदासात्स्वपक्षसिद्धिरिति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? उत्तरत्र प्रतिषेधात् । स खल्वेष वादी सत्कार्यवादं प्रत्याचष्टे, तस्मात्स्वक एवैनमधिकारे निवर्तयिष्यामः ।

आह—अविकृत्यभिधानानर्थक्यम् । मूलप्रकृतित्वात्तत्सिद्धेः । यदि मूलं सर्वासां प्रकृतीनाम् अविकृत्यैव तया भवितव्यम् । इतरथा हि मूलप्रकृतित्वानुपपत्तिः । यदि खल्वपि प्रधानस्यापि प्रकृत्यन्तरं स्यान्मूलप्रकृतित्वं नोपपन्नं भवेत् । तस्मान्मूलप्रकृतित्ववचनादेव तत्सिद्धेरविकृतिग्रहणमनर्थकमिति । उच्यते, न । अनवस्थाप्रसंगनिवृत्त्यर्थत्वात् । यथा हि मूलादीनां बीजंप्रकृतिस्तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्यदित्यनवस्था । एवं महदादीनां प्रधानं मूलप्रकृतिः, तस्याप्यन्यदित्यनवस्था प्रसज्येत । सा मा भूदित्यतस्तन्निवृत्त्यर्थं तदभिधानम् ।

आह, न । हेत्वनुपदेशात् । असंशयमेतदेवं स्यात्, न तु हेतुरत्रोपदिष्टो भवद्भिः । न चानुपदिष्टहेतुकं विपश्चिद्भिः प्रतिपत्तुं न्याय्यम् । तस्मादयुक्तमेतत् । उच्यते, कारणान्तरप्रतिषेधात् । पुरुषाकर्तृत्वात्प्रधानाख्यानां गुणानां चावस्थान्तरानुपपत्तेरविकृतित्वसिद्धिः । इहारभ्यमाणा प्रकृतिः कारणान्तरैरीश्वरादिभिरारभ्यते, पुरुषेण वा, गुणैर्वा । किञ्चातः ? तन्न तावत्कारणान्तरैरीश्वरादिभिरारभ्यते । कस्मात् ? प्रतिषेधात् । यथा कारणान्तराणि न सन्ति तथोत्तरत्र प्रतिषेधः करिष्यते । इदानीं सत्त्वं रजस्तमः पुरुष इति पदार्थचतुष्टयं प्रतिज्ञायते । तत्रापि पुरुषकर्तृत्वं प्रत्याख्यायते । तस्मिन्प्रत्याख्याते गुणानामेवावस्थान्त-

रापेक्षः कार्यकारणभावः। सूक्ष्माणां मूर्तिलाभः कार्यम्। निवृत्तविशेषाणामविभागात्मनावस्थानं कारणमित्ययं सिद्धान्तः। तत्रास्तङ्गतविशेषाणां निवृत्तपरिणामव्यापाराणामङ्गाङ्गिभावमनुपगच्छतामुपसंहृतशक्तीनां सर्वविकारसाम्यं सर्वशक्तिप्रलयं निस्सत्तासत्तं निस्सदसदव्यक्तलक्षणमवस्थान्तरमुपसम्प्राप्तानां नास्त्यन्यत्सूक्ष्मतरमवस्थान्तरम्, यस्येदं प्रधानलक्षणमवस्थान्तरं कार्यं स्यात्। तस्मात्सुष्ठूच्यते मूलप्रकृतिरविकृतिरिति।

महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

महानाद्यो यासां ता महदाद्याः। अवयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थ। अन्यथा महानेवात्रापरिगृहीतः स्यात्। प्रकृतयश्च विकृतयश्च प्रकृतिविकृतय। कारणानि कार्याणि चेत्यर्थः। तत्र महानहंकारस्य प्रकृतिः प्रधानस्य विकृतिः। अहंकारोऽपि तन्मात्रेन्द्रियपर्वणो प्रकृतिर्विकृतिर्महतः। तन्मात्राणि च भूतपर्वणः प्रकृतिरहंकारस्य विकृतिः।

आह—सप्तग्रहणं किमर्थम्? उच्यते—सप्तग्रहणमवधिपरिच्छेदार्थम्। अक्रियमाणे हि सप्तग्रहणे न ज्ञायते कियान्प्रकृतिगणः प्रकृतिविकृतिसंज्ञो भवति। तत्र महाभूतेन्द्रियपर्वणोरपि प्रकृतित्वं प्रसज्येत। आह नैतदस्ति प्रयोजनम्। परिशेषसिद्धेः। इह भवतां पञ्चशिखानां पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि। तत्र मूलप्रकृतिरविकृतिरित्युक्तम्, षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष इति वक्ष्यति। परिशेषतः सप्तैवावशिष्यन्ते। तस्मान्नार्थस्तदर्थेन सप्तग्रहणेन। उच्यते अहंकारपरिग्रहार्थम्। एवं तर्हि नैवाहंकारो विद्यत इति पतञ्जलि। महतोऽस्मिप्रत्ययरूपत्वाभ्युपगमात्। तत्परिहारार्थमेतद् भविष्यति। आह, न। उत्तरत्र परिग्रहात्। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यति हि महता कण्ठेनोपरिष्टादाचार्य "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कार" (का० २२) इति तेनैवेदं सिद्धम्। नार्थस्तदर्थेनापि सप्तग्रहणेन। उच्यते—रूपभेदेऽपि तत्त्वाभेदज्ञापनार्थम्। एवं तर्हि धर्मादीन्यष्टौ रूपाणि बुद्धेर्वक्ष्यमाणानि, अहंकारश्च वैकारिकतैजसभूतादिरूपत्वात् त्रिलक्षणो वक्ष्यमाणः। तत्र रूपभेदात्तत्त्वभेदो मा भूदित्येवमर्थं सप्तग्रहणं क्रियते। आह, हेतुमन्तरेणाप्रतिपत्तेः। कण्ठोक्तमपि युक्तिमन्तरेण न तर्कशीलाः प्रतिपद्यन्ते किम्पुनः क्लेशोपपादितम्। तस्मादत्र समाधिर्वाच्यः। कथमनेकरूपा बुद्धिरेकैवेति? न, उत्तरत्र विचारणात्। उत्तरत्रैतद्विचारयिष्यामः किमनेकरूपाविर्भावेऽपि तदेव तद्वस्तु भवति, आहोस्विद्रूपभेदात्तत्त्वभेदः? तस्मादिह तावद् दृश्यतामिति सिद्ध महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेति।

षोडशकस्तु विकारः

षोडशपरिमाणमस्य सोऽयं षोडशकः संघः। तस्य परिमाणं "संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु" (पा० ५।१।५८) इति कन्प्रत्ययः।

आह—कः पुनरयं षोडशक इति? उच्यते—पञ्च महाभूतानि, एकादशेन्द्रियाणि। तुशब्दोऽवधारणार्थः। आह—शक्यः पुनरयमर्थोऽन्तरेणापि तुशब्दमवाप्तुम्। कथम्? महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेति ह्युपदिष्टं पुरस्तात्! ततोऽहङ्कारतन्मात्रपूर्वकत्वे सिद्धे

सति इन्द्रियमहाभूतपर्वणोः पुनः श्रुतेर्नियमो भविष्यति । तद्यथा, "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या" इत्यत्र क्षुत्प्रतीकारसमर्थानां द्रव्याणामर्थादेव सर्वेषां भक्षणे सम्प्राप्ते पुनः श्रुतेर्नियमो भवति, तद्वदिदं द्रष्टव्यम् । इष्टतोऽवधारणार्थ इति चेत्, स्यान्मतम् । इष्टतोऽवधारणार्थ स्तर्हि तुशब्दो भविष्यति । कथं नाम षोडशको विकार एवेति यथा विज्ञायते, षोडशकस्तु विकार इत्येवं मा ज्ञायीति । यद्येवमस्थाने तर्हि तुशब्दः पठितः । षोडशको विकारस्त्विति वक्तव्यम् । अथ मतं वृत्तपरिपूरणार्थमयमस्मिन्प्रदेशे पठितस्तुशब्दो यत्र निर्दोषस्तत्रैवायं द्रष्टव्य इति । एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? असन्देहात् । महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेत्यपदिष्टे किमिति सांशयिका भविष्यामः । तस्मात्पेलवमस्य पाठे प्रयोजनं पश्यामः । अथायमभिप्रायः स्यात्, यद्यप्येतदर्थतः सिद्धं तथाप्ययमाचार्यः स्फुटप्रतिपत्त्यर्थमवधारणं प्रत्याद्रियते । किं कारणम् ? यस्मात् विचित्राः सूत्रकाराणामभिप्रायगतयः । तद्यथा भगवान् पाणिनिः 'नः क्ये' (पा० १।४।१५) 'रात्सस्य' (पा० ८।२।२४) इत्येवमादिष्वन्तरेण प्रयत्न-मिष्टतोऽवधारणे सिद्धे अन्यत्र 'अजादी गुणवचनादेव' (पा० ५।३।५८) 'स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात्' (पा० ८।३।६१) इत्येवमादिषु यत्नं करोति । तद्वदिहापि द्रष्टव्यमिति एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? अशक्यत्वात् । सति वा पुनरवधारणार्थत्वे तुशब्दस्य कथमिवात्र शक्य-मवधारणं प्रतिपत्तुम् ? यावता महाभूतानामपि शरीरादिलक्षणं कार्यमुपलभ्यत इति । तत्र केचित् समाधिमाहुः । शरीरादीनामनर्थान्तरभावात्पृथिव्यादीनामप्रकृतित्वम् । यस्मात् किल पृथिव्यादीनां सन्निवेशविशेषमात्रं कार्यं मुष्टिग्रन्थिकुण्डलादिवन्नार्थान्तरभूतम् । अत एषाम-प्रकृतित्वमिति । एतच्चानुपपन्नम् । कस्मात् ? अविशेषात् । सर्वमेव हि सांख्यानां कार्य-मनर्थान्तरभूतम् । तत्रैतस्यां कल्पनायां सर्वतत्त्वानामप्रकृतित्वं प्रसज्येत । अथैतदनिष्टं, सत्कार्यव्याघातः । अन्ये पुनराहुः–अपरिणामित्वान्महाभूतानां विकारित्वाऽनवधारणमिति । तदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? प्रत्यक्षोपलब्धेः । प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते महाभूतानां कलिलाङ्कुरक्षीरादिपरिणामः । अनुमानग्राह्यस्तु तत्त्वान्तराणाम् । तदेतदधरोत्तरं भवति । तस्मादयुक्तमेतत् ।

आह—न तर्हि इदं प्रतिपत्तव्यं षोडशको विकार एवेति ? उच्यते—प्रतिपत्तव्यम् । किं कारणम् ? तत्त्वान्तराऽनुपपत्तेः । इह पुरुषार्थेन हेतुना साम्यात्प्रच्युतानां गुणानां योऽयं महदादिर्विशेषान्तो विपरिणामः स तत्त्वान्तरोत्पत्तिनियमेन व्यवतिष्ठते । न तु पृथिव्या-दिभ्यस्तत्त्वान्तरोत्पत्तिरस्ति । तस्मादेतेषां विकारत्वमेवेति । किञ्चान्यत्, ग्राहकान्तराभावात् । यथा तन्मात्रैरारब्धेषु पृथिव्यादिषु अहङ्कारात्तद्योग्यं ग्राहकान्तरमिन्द्रियलक्षणमुत्पद्यते, नैवं पृथिव्यादिविकाराणां घटादीनां ग्राहकान्तरमस्ति । तस्मान्न तत्त्वान्तरम् । अतश्च पृथिव्यादयो विकारा एवेति । किञ्चान्यत्, प्रधाने प्रकृतिभावप्रत्यस्तमयवत्तेषु विकार-भावप्रत्यस्तमयात् । यथा प्रधानात्सूक्ष्मतरमवस्थान्तरं नास्तीति तत्र प्रकृतिभावस्य प्रत्यस्तमयस्तथा तेषु विकारभावप्रत्यस्तमयः । तस्माद्युक्तमुच्यते षोडशकोऽयं विकार एवेति ।

आह—पुरुषे तर्हि का प्रतिपत्तिरिति ? उच्यते—

न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥

पुरुषो न ह्ययमवस्थान्तरं प्रतिपद्यते । नो खल्वप्यवस्थान्तरस्यावस्थान्तरं भवतीति । आह — नैतद्युक्तिमन्तरेण श्रद्धीयते, तस्मादुपपाद्यतां कथमस्याप्रकृतित्वमविकृतित्वञ्चेति । उच्यते — प्रकृतित्वानुपपत्तिः, उत्तरत्र प्रतिविधानात् । "तस्माच्च विपर्यासात्(का० १९)" इत्यत्र युक्तिमुपदेक्ष्यामः । तस्मात्तावदस्याप्रकृतित्वम् । अविकृतित्वं प्रधानवत् । यथा प्रधानमेवमयमपि पुरुषः क्रियमाणः कारणान्तरैरीश्वरादिभिर्नारभ्यते । कस्मात् ? प्रतिषेधात् । यथा कारणान्तराणि न सन्ति तथोत्तरत्र प्रतिषेधः करिष्यते । पुरुषान्तरैः समत्वात् । समाः सर्वे पुरुषाः । न च समानां कार्यकारणभावो दृष्टः । किञ्च निष्क्रियत्वात् शुद्धत्वाच्चैषां विपरिणामलक्षणा परिस्पन्दलक्षणा वा क्रिया विभुत्वादनुपपन्ना । कस्मात् ? एषामितरेतरानारम्भकत्वात् । न गुणैर्भिन्नजातीयकत्वात् । इहाचेतना गुणा इत्येतत्प्रतिपादयिष्यामः । यच्च येनारभ्यते तच्च तन्मयं भवति । यदि गुणैः पुरुषाणामारम्भः तदा तेषामप्यचेतनत्वं स्यात् , चेतनास्तु ते । तस्मान्न गुणैरारभ्यन्त इति सिद्धमेतत् ।

किञ्चित्कारणमेव न कार्यम्, किंचित्कारणं कार्यञ्च । किञ्चित्कार्यमेव । किञ्चिन्नैव कारणं नैव कार्यमिति चतुर्विधं कार्यकारणवृत्तं प्रतिपादितम् । एतत्प्रतिज्ञापिण्डसूत्रम् । अत्र यदपदिष्टं भवद्भिरस्मिन् शास्त्रे प्रमेयमित्यवगन्तव्यम् ॥३॥

दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

अन्वयः—सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्, दृष्टम्, अनुमानम्, आप्तवचनम्, च, त्रिविधम्, प्रमाणम्, इष्टम्, हि, प्रमेयसिद्धिः, प्रमाणात्, (भवति, अतः, प्रथमम्, प्रमाणम्, निगद्यते) ॥४॥

शब्दार्थः—सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्=अन्य सभी प्रमाणों की बातें इन्हीं से (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तवचन से) सिद्ध हो जाने के कारण, दृष्टम्=प्रत्यक्ष, अनुमानम्=अनुमान (दिये गये कारणों से अन्दाज करना), आप्तवचनम्=कपिल आदि ऋषि और वेदों के बचन, च=इस प्रकार, त्रिविधम्=तीन प्रकार का ही, प्रमाणम्=प्रमाण, सही बात तक पहुँचने का हेतु, इष्टम्=मान्य है । हि=क्योंकि, प्रमेयसिद्धिः–प्रमेयस्य=यथार्थरूप से जानने के योग्य पदार्थ का, सिद्धिः=ज्ञान, प्रमाणात्=प्रमाण से, (भवति=होता है, अतः इसलिये, प्रथमम्=पहले, प्रमाणम्=प्रमाण, निगद्यते=कहा जा रहा है) ॥४॥

अर्थः—अन्य सभी प्रमाणों की बातें इन्हीं (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण) से सिद्ध हो जाने के कारण प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये तीन ही प्रमाण सांख्यशास्त्र के आचार्यों को अभीष्ट हैं । यतः प्रमेय (जानने योग्य पदार्थ) का ज्ञान प्रमाण से ही होता है. (अतः पहले प्रमाण ही बतलाया जा रहा है) ॥ ४ ॥

त० प्र०—व्यक्ताव्यक्तज्ञेतिख्यातानाम् एषां पञ्चविंशतितत्त्वानां स्वरूपज्ञानाय प्रमाणं निगद्यते। प्रमापकेन प्रमेयवस्तु लोकेऽपि साध्यते एव। दृष्टमिति—प्रमीयते यथार्थतया ज्ञायते पदार्थः अनेन इति प्रमाणम्। अनेन निर्वचनेन हेतौ सत्यं ज्ञानं प्रति करणत्वं गम्यते। सर्वेषाम्—प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनानां चतुर्णां नैयायिकप्रमाणानाम्, अर्थापत्तिमनुपलब्धिञ्च गृहीत्वा षण्णां मीमांसकप्रमाणानां सिद्धत्वादेषु एव त्रिषु प्रमाणेषु अन्तर्भावात्। तत्र अनुमाने तावदर्थापत्तिरन्तर्भूता। उपमानमनुपलब्धिश्चाप्तवचने। त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्। तत्र दृष्टमिति—श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एषां ज्ञानेन्द्रियाणां यथायथं पञ्चैव विषयाः। श्रोत्रं शब्दं गृह्णाति, त्वक् स्पर्शम्, चक्षू रूपम्, जिह्वा रसम्, तथा घ्राणं गन्धमिति। ज्ञानेन्द्रियाणां स्वस्वविषयेषु व्यापारः दृष्टमित्युच्यते। व्याप्तिसम्बन्धं गृहीत्वा हेतुना व्यापकस्य यत् ज्ञानं क्रियते तदनुमानमिति। यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्। प्रत्यक्षेण अनुमानेन च योऽर्थः न गृह्यते स आप्तवचनात् ज्ञायते। यथा–वैकुण्ठमधिशेते हरिरिति। आप्तप्रमाणे आगमः कापिलादिवचनञ्च गृह्यते। तथा चोक्तम्—"आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्॥ स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः। पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥" इति गौडपादभाष्ये। इत्थं त्रिप्रकारं प्रमाणमिष्टं न न्यूनं न चाधिकम्। हि यतः प्रमेयानां प्रधानादिपृथिव्यन्तानां सांख्यशास्त्रे वर्णिततत्त्वानां सिद्धिः प्रतीतिः ज्ञानं वा प्रमाणात् भवति, अतः प्रथमं प्रमाणं निगद्यते इति शेषार्थः॥ ४॥

टिप्पणी—सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्—न्याय के अनुसार चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। मीमांसा इन चार के अतिरिक्त दो और प्रमाण मानती है—अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि सांख्य के प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तवचन में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में तथा उपमान और अनुपलब्धि का अन्तर्भाव आप्तवचन में हो जाता है। यही कारण है कि सांख्य केवल तीन प्रमाण ही मानता है।

आप्तवचनम्—वेद तथा कपिल आदि के वचन ही आप्तवचन कहे जाते हैं। जो किसी भी परिस्थिति में किसी भी कार्य-कारण से असत्य नहीं बोलते वे आप्त कहे गये हैं और उन्हीं के वचन आप्तवचन कहे जाते हैं॥ ४॥

युक्ति०—आह - अथास्य प्रमेयस्य कुतः सिद्धिरिति? उच्यते—

प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

प्रमीयते तदिति प्रमेयम्। प्रमेयस्य सिद्धिः प्रमेयसिद्धिः। सिद्धिरधिगमोऽवबोध इत्यर्थः। प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्, करणसाधनो ल्युट्। तदेकमेव, बुद्धेरेकत्वाभ्युपगमात्; उपाधिवशात्तु भिन्नमाश्रीयते प्रत्यक्षमनुमानमित्यादि। तस्य योऽसावुपाधिकृतो भेदस्तमनाश्रित्य

प्रमेयपरिच्छेदकत्वसामान्यमङ्गीकृत्यैकवचननिर्देशः क्रियते प्रमाणादिति। एतस्मात्प्रमेयसिद्धिरित्यवगन्तव्यम्। कथम्? व्रीह्यादिवत्। यथा व्रीह्यादि प्रमेयं प्रस्थादिना प्रमाणेन परिच्छिद्यते एवमिहाऽपि व्यक्तादिप्रमेयं प्रत्यक्षादिप्रमाणेन परिच्छिद्यते इति। इह हिशब्द इदानीं किमर्थः स्यात्? अवधारणार्थ इति। आह—यद्येवं हिशब्दावचनम्। अवधारणानुपपत्तेः। न ह्येतस्मिन्सूत्रे कथञ्चिदवधारणमुपपद्यते। तस्मादवचनमेव हिशब्दस्य न्याय्यम्। प्रमेयस्यैवेति चेत्—न। अन्यस्यासम्भवात्। सति हि व्यभिचारसम्भवे वस्त्ववधार्यते। तद्यथा गौरेवायं नाश्वः, देवदत्त एवायं न यज्ञदत्त इति। न च प्रमेयाप्रमेययोः प्रमाणपरिच्छेद्यत्वेऽस्ति प्रसंगोः यन्निवृत्त्यर्थं प्रमेयस्यैवेत्यवधार्यते। प्रमाणेभ्य एवेति चेन्न—आर्षज्ञानविरोधप्रसंगात्। परमर्षेर्हि भगवतः ज्ञानं सांसिद्धिकमप्रमाणपूर्वकमिति वः पक्षः। "सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्या" (का० ४३) इति वचनात्। तदेवं सति विरुध्येत। उभयावधारणमिति चेन्न उभयदोषप्रसंगात्। उभयावधारणे सति उभयोरपि पक्षयोर्ये दोषास्ते प्रसज्यन्ते। तस्मादयुक्तमेतत्। सिद्धिरेवेति चेन्न, अनेकान्तात्। कदाचिद् ह्ययं प्रमाता सन्निहितेऽग्न्यादित्यादौ लिङ्गे दिङ्निश्चयादिष्वर्थेषु प्रतिहन्यते। तस्मादनेकान्तात् सिद्धिरेवेत्येतदयुक्तमवधारणम्।

उच्यते—यदुक्तं हिशब्दावचनमवधारणानुपपत्तेरिति, अस्तु प्रमाणेभ्य एवेत्यवधारणम्। यत्तूक्तमार्षज्ञानविरोधप्रसंग इति, अयमदोषः। कस्मात्? सिद्धरूपत्वात्। साध्यमानरूपाणि हि वस्तूनि नान्तरीयकत्वात् स्वरूपनिष्पत्तये साधनसम्बन्धं प्रत्याकांक्षावन्ति भवन्ति, सिद्धरूपं तु भगवतः परमर्षेर्ज्ञानम्। तस्मादस्य साधनसम्बन्धं प्रत्याकाङ्क्षा नोपपद्यत इति। अथवा पुनरस्तु सिद्धिरेवेत्यवधारणम्। यत्तूक्तमनेकान्तादिति तदनुपपन्नम्। कस्मात्? सत्त्वादीनामङ्गाङ्गिभावानियमात्। तमःप्रकर्षसामग्र्यात्प्रमाणवैकल्योपपत्तेः। इह सत्त्वादीनामनियतोऽङ्गाङ्गिभावः। देशकालनिमित्तसामर्थ्याद्धि कदाचित्सत्त्वं प्रकृष्यते, कदाचिद्रजः, कदाचित्तमः। सत्त्वप्रकर्षश्च प्रकाशरूपत्वात्प्रमाणम्। तत्र यदा तमः प्रकृष्यते तदा तेनाभिभूतत्वात् सत्त्वस्य तत्कार्यमनुमानं त्रिकालाङ्गमुतिष्ठते। इत्यतः सत्यामप्यादित्यादिलिङ्गप्रवृत्तौ दिङ्निश्चयादिष्वर्थेषु प्रतिहन्यते। इतरथा तु न स्वरूपहानम्। यस्य तु निष्पत्तिवैकल्यात्प्रमाणप्रतिबन्धो नेष्टः तस्य स्वरूपहानं प्रमाणानां प्राप्तम्। कथम्? एतावद्धि तेषां स्वरूपं यदुत प्रमेयपरिच्छेदः। तस्माद्युक्तमेतदवधारणार्थो हिशब्दः।

आह—बहूनि प्रमाणान्याचार्यैरभ्युपगम्यन्ते, तानि सर्वाणि किं भवाननुमन्यते? नेत्युच्यते।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्

किन्तर्हि विधानं विधा, तिस्रो विधा अस्य तत्त्रिविधं त्रिप्रकारमित्यर्थः। अनेनैतदाचष्टे—एकमेव बुद्धिलक्षणं सत्त्वं निमित्तान्तरानुग्रहोपजनिताभिः कार्यविशेषपरिच्छिन्नरूपभेदाभिः शक्तिभिरुपकाराद् भिन्नमिव प्रत्यवभासमानं दृष्टादिशब्दवाच्यं भवति। न तु

यथा तन्त्रान्तरीयाणां विषयोपनिपातिभिरिन्द्रियैरुपजनिता बह्वयो बुद्धयस्तथेह विद्यन्ते याः परिकल्प्यमानाः स्वतन्त्राणि त्रीणि प्रमाणानि स्युः। स्यान्मतम्, कथं पुनः प्रमाणलक्षणानां शक्तीनामेकवस्तुसन्निवेशे रूपभेदा भवन्तीति ? उच्यते—सत्त्वादिवत्। यथा–सत्त्वादीनां गुणानामेकशब्दादिवस्तुसन्निवेशेऽपि प्रकाशादिकार्यभेदाद्रूपसंकरो न भवति, यथा वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानामेकद्रव्यसन्निवेशेऽपि ग्राहकान्तरगम्यकत्वात्, यथा वा कर्तृकरणाधिकरणसम्प्रदानापादानकर्मलक्षणानां शक्तीनामेकद्रव्यसन्निवेशेऽपि कार्यविशेषे परिच्छिन्नानि स्वरूपाणि न संकीर्यन्ते, तद्वदिदं द्रष्टव्यम्। शक्त्यन्तरोपजनने वस्त्वन्तरोपपत्तिरिति चेत् न, अनभ्युपगमात्। न हि क्षणभङ्गसाहसं युक्तिमन्तरेण दण्डभयादपि प्रतिपद्यामहे, न तु तस्यामवसर इति स्थीयतां तावत्।

आह, कथं पुनरेतद् गम्यते यथा त्रिविधमेव प्रमाणं न पुनरनेकविधमपीति ? उच्यते—

सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

सर्वाणि च तानि प्रमाणानि सर्वप्रमाणानि। सिद्धस्य भावः सिद्धत्वम्। सर्वप्रमाणानां सिद्धत्वं सर्वप्रमाणसिद्धत्वम्। सिद्धत्वमन्तर्भाव इत्यर्थः। तस्मात् सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। तस्मिन्नेव त्रिविधे प्रमाण इति वाक्यशेषः। सर्वेषां परपरिकल्पितानां प्रमाणानामस्मिन्नेव त्रिविधे प्रमाणेऽन्तर्भावादिति यावदुक्तं स्यात्तावदिदमुच्यते सर्वप्रमाणसिद्धत्वादिति। अथवा सर्वप्रमाणेषु सिद्धं सर्वप्रमाणसिद्धं—सप्तमी सिद्धशुष्कपक्वबन्धैः (पा०सू० २–१–४१) इति समासः, यथा सांकाश्यसिद्धः पाटलिपुत्रसिद्ध इति। तद्भावः सर्वप्रमाणसिद्धत्वं तस्मात् सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। कस्य त्रिविधस्य प्रमाणस्येति वाक्यशेषः। केन पुनराकारेण त्रिविधं प्रमाणं सिद्धमिति ? उच्यते—परस्परविशेषात्। अन्यानि पुनरस्मात् त्रयाद् यथाऽभिन्नानि तथा प्रतिपादयिष्यामः।

आह, किम्पुनस्तत् त्रिविधं प्रमाणमिति ? उच्यते—

दृष्टमनुमानमाप्तवचश्च

इति। तत्र दृष्टं नाम उपात्तविषयेन्द्रियवृत्त्युपनिपाती योऽध्यवसायः। अनुमानं द्वयोरविनाभाविनोरेकं प्रत्यक्षेण प्रमाय तत्पूर्वकं सम्बन्ध्यन्तरे यत् पश्चान्मानं भवति। आप्तवचनं तु प्रमाणभूतद्वारकोऽत्यन्तपरोक्षेऽर्थे निश्चयः। इत्युद्देशमात्रमिदम्। मूललक्षणं तु आचार्यो वक्ष्यति स्वयमेव प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमित्यादि।

आह, त्रैविध्यानुपपत्तिः, न्यूनाधिकश्रवणात्। तन्त्रान्तरीयाः केचित् चत्वारि प्रमाणानीच्छन्ति। प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति वचनात्। तथा षडित्यन्ये।

प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दं चोपमया सह।
अर्थापत्तिरभावश्च हेतवः साध्यसाधकाः॥

इत्यभिधानात्। एतानि सम्भवैतिह्यचेष्टासहितानि नवेत्यपरे। प्रत्यक्षानुमाने एवेति वैशेषिकबौद्धाः। तत्र कथमिदं निश्चीयते त्रिविधमेव प्रमाणं, न पुनर्न्यूनमधिकं वेति ?

उच्यते—किम्पुनरिदमुपमानं नाम ? आह, प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् । प्रसिद्धः प्रज्ञातः, तेन साधर्म्यात् साध्यस्याऽप्रसिद्धस्य साधनमधिगमो यस्तदुपमानम् । अवबोधविधिस्तु येनाऽनुपलब्धो गवयः स तस्योपलब्ध्यर्थमधिगतगवयं पर्यनयुङ्क्ते — किंरूपो गवय इति । स तस्मा आचष्टे—यथा गौरेवं गवय इति । तत्र प्रतिपत्त्याऽत्यन्ताऽनुपलक्षित-गवयस्वरूपो व्याख्यातृप्रतिपादितप्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यज्ञानाहितसंस्कारः प्रतिपद्यते—नूनमेवंरूपो गवय इति । अपर आह—प्रतिरा (?) सवचनोपजनितप्रसिद्धवस्तुसाधर्म्य-ज्ञानाहितसंस्कारस्योत्तरकालं प्रत्यक्षेण तमुपलभ्य या समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः—अयम-सावर्थोऽस्य शब्दस्य समाख्या इति—तदुपमानमुच्यते ।

यद्येवमुपमैतिह्यावचनम्, आप्तोपदेशसिद्धेः । यथा गौरेवं गवय इति ह्याप्तो—पदेशबलात् प्रतिपत्ता अप्रसिद्धं गवयमुपलभते न साधर्म्यमात्रात् । तस्मान्न शब्दात् पृथगुपमा । यत्तु खल्विति ह उवाच याज्ञवल्क्य इत्येतदैतिह्यं नाम प्रमाणान्तरमुपकल्प्यते, तदपि वक्तृविशेषापेक्षत्वान्न शब्दादर्थान्तरम् । आह, न । साधर्म्यापेक्षत्वात् । यदि ह्याप्तोपदेश उपमा स्यात्तेन यथा स्वर्गेऽप्सरसः, उत्तराः कुरव इत्येवमादिष्वन्तरेण साधर्म्योपादानं प्रतिपत्तिर्भवति एवमिहापि स्यात् । गवयन्तु अयमाख्याता प्रतिपादयिष्यन् प्रसिद्धसाधर्म्यगर्भं शब्दमुपादत्ते न केवलम् । प्रतिपत्तापि तस्मादेव प्रतिपद्यते न शब्दमात्रात् । तस्मात्पृथगेवास्योपदेशः कर्तव्यः । शब्दव्यापारात्तदन्तर्भाव इति चेत्, स्यान्मतम् । शब्दव्यापारसहितोऽयं प्रसिद्धसाधर्म्यलक्षणार्थो गवयप्रतिपत्तौ न केवलः, तस्मादस्य तत्रान्तर्भाव इति तदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? वीतावीतयोरपि तत्प्रसङ्गात् । वीतावीतावपि हेतू परप्रतिपादनार्थमुपादीयमानौ शब्दव्यापारमपेक्षेते । तयोरप्याप्तवचनत्वप्रसंगः । अनिष्टञ्चैतत् । तस्मान्नोपमानमाप्तोपदेशः । उच्यते, साधर्म्याऽव्यतिरेकः, उपायभूतत्वात् । आख्यातृप्रामाण्यादेव प्रतिपत्तुर्गवयविज्ञानमुपपद्यते । स तु कौशलाद्दुरुपपादोऽयमर्थ इति कृत्वा प्रसिद्धसाधर्म्यमुपादत्ते । तस्मादाख्यातुर्गवयप्रतिपादनार्थमुपायभूतं साधर्म्यमुपाददानस्य शब्दादर्थान्तरमुद्भवति । अथैवञ्जातीयकानामपि प्रमाणान्तरत्वमिष्यते तेनात्यल्पमिदमुच्यते चत्वारि प्रमाणानीति । किन्तर्हि पाणिविहाराक्षिनिकोचप्रभृतीनामप्युपसंख्यानं कर्तव्यम् । किञ्च वक्तृविशेषापेक्षत्वात् । यत्र ह्यर्थवशात्प्रतिपत्तिरुत्पद्यते न तत्र प्रतिपत्ता वक्तृविशेष-मपेक्षते दृष्टार्थोऽयमदृष्टार्थोऽयमिति । तद्यथाऽनुमाने । अस्ति चोपमाने वक्तृविशेषापेक्षा । तस्मान्न शब्दादर्थान्तरं तत् । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । यो हि मन्यते प्रसिद्धसाधर्म्यादेव गवयप्रतिपत्तिरिति यथाऽश्वस्तथा गवय इत्येतस्मादपि तस्य सम्प्रतिपत्तिः स्यात् । न चार्हति भवितुं, मिथ्याज्ञानत्वात् । यत्तु खल्विदमुच्यते यतः समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरिति एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? अनवस्थाप्रसंगात् । तद् यथा बहुषु निषण्णेषु कोऽत्र देवदत्त इत्युक्ते यो मुकुटी कुण्डली व्यूढोरस्कस्ताम्रायताक्ष इति प्रत्याह । ततश्च समाख्यासम्बन्ध-प्रतिपत्तिरिति प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्ग इत्येवमनवस्था प्रमाणानां स्यात् । अनिष्टं चैतत् ।

एवं हि न तावत्परत उपमानं प्रमाणान्तरम् । यदा स्वयमेव गां गवयं चोपलभ्य विकल्पयति यथाऽयं तथाऽयमिति तदा तस्यार्थस्य प्रमाणान्तरेणाधिगतत्वात् प्रमाणमेव तन्न भवतीति । तस्मात् सुष्ठूक्तमयमैतिह्यावचनमाप्तोपदेशात् सिद्धेरिति ।

किञ्चान्यत्—अर्थापत्तिसंभवाभावचेष्टानामनुमानसिद्धेः । अवचनमित्यनुवर्तते । तत्रार्थापत्तिर्नाम यत्रार्थयोः पूर्वमव्यभिचारमुपलभ्य पश्चादन्यतरस्य दर्शनाच्छ्रवणाद्वान्यरतस्मिन्प्रतिपत्तिर्भवति । दर्शनाद्यथा–गुडमुपलभ्य माधुर्यमिन्द्रियान्तरविषयं प्रतिपद्यते । श्रवणाद्यथा–गुडशब्दं श्रुत्वा माधुर्यमशब्दकं प्रतिपद्यत इति । अपरा खल्वर्थापत्तिः । यत्र धर्मयोरव्यभिचारमुपलभ्य तत्प्रतिद्वन्द्विनोरपि साहचर्यकल्पना । सा तु द्विविधा, व्यभिचारिणी चाव्यभिचारिणी च । तत्र व्यभिचारिणी यथा सावयवमनित्यमित्युक्तेऽर्थादापन्नं निरवयवं नित्यमिति । तच्च कर्मादिष्वदृष्टमित्येषाऽनैकान्तिकत्वात्प्रमाणमेव न भवतीति । या त्वविनाभाविनी अव्यभिचारिणी यथा केशरिवराहयोरुपगह्वरे सन्निपातमुपलभ्योत्तरकालं केवलं केशरिणं वराहव्रणांकितशरीरं प्रयान्तमुपलभ्य प्रतिपद्यते जितो वराह इति तदनुमानन् । कथम् ? यस्मात्केशरिवराहयोर्यौ जयपराजयौ तयोरव्यभिचारी सम्बन्धः । तत्र यदा केशरिणो जयमुपलभ्याव्यभिचारिणमितरस्य पराजयं प्रतिपद्यते किमन्यत्स्यादृतेऽनुमानात् ? अधिगतोभयसम्बन्धिसमुदायस्य हि प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षीभूतान्यतरसम्बन्धिनो या सम्बन्ध्यन्तरप्रतिपत्तिस्तदनुमानम् । इत्थं चार्थापत्तिरतो न तस्मात्पृथग्भवितुमर्हति ।

सम्भवो नाम द्रोणः प्रस्थ इत्युक्तेऽर्थद्रोणादीनां सन्निधानमवसीयते । इत्ययमपि साहचर्यकल्पनयाऽर्थापत्तिरेव । कथम् ? यस्मादुक्तपरिमाणे द्रव्ये द्रोणशब्दो वर्तते, न न्यूने नाधिके । तत्र द्रोण इत्युक्ते यदत्यन्तहभुवां तदवयवानामन्यशब्दवाच्यानामपि सन्निधानं तदर्थापत्तिरेव । सा चाऽनुमानमित्युक्तम् ।

अभावो नाम तद्यथा धूमस्य भावादग्नेर्भावः प्रतीयते एवं धूमाभावादग्न्यभाव इत्ययं प्रतिद्वन्द्विसाहचर्यकल्पनयार्थापत्तिरभिहितः । तत्र यदा व्यभिचारसाहचर्यकल्पना तदा प्रमाणाभाव एव । तद्यथाऽयोगुडाङ्गारादिषु धूमाभावो नाग्न्यभावः । यत्र तु क्वचिदेकान्तः स्यात् यथाऽकृतकत्वान्नित्य इति तत्राऽनुमानम् । कथम् ? साहचर्योपपत्तेः । कृतकत्वानित्यत्ववत् । अन्ये तु—अभावमन्यथा वर्णयन्ति । तद्यथा गेहे नास्ति चैत्र इत्युक्ते बहिरस्तीति सम्प्रत्ययो भवति, तत्र गेहाभावो बहिर्भावसम्प्रतिपत्तिहेतुरर्थान्तरापत्तिरेव प्रतिद्वन्द्विसाहचर्यकल्पनया । कथम् ? यथैव हि दिवा न भुङ्क्ते देवदत्तः पीन इत्यत्राऽभोजनप्रतियोगिनो मेदुरत्वस्योपलम्भाद्दिवाप्रतियोगिनि काले रात्रौ भुजिरवसीयते; एवमिहापि गेहाभावाभिधानसामर्थ्यात्तत्प्रतियोगिनि विपर्ययः कल्प्यते । अन्यथा तु यद्यभाव एवाभिप्रेतः स्यान्नास्ति चैत्र एवेति ब्रूयात् । अर्थापत्तिश्चानुमानम् ।

चेष्टा नाम अभिप्रायसूचकः कश्चिदेवोदरताडनाञ्जलिकरणादि शरीरव्यापारः । स हि बुभुक्षादीन्यप्रतीयमानानि प्रतिपादयतीति प्रमाणमित्युच्यते । स चानुमानमेव । कस्मात् ?

यस्माद् भोजनेच्छादिसहचरो हि व्यापारोऽनुष्ठीयमानो यदि सहचारिणं गमयति तदा नानुमानात्पृथगिति शक्यं प्रतिज्ञातुम् ।

आह—प्रतिभा तर्हि प्रमाणान्तरं भविष्यति । उच्यते—केयं प्रतिभा नाम ? आह, योऽयमनादौ संसारे देवमनुष्यतिरश्चामभिन्नेऽर्थे बाह्ये स्त्र्यादौ प्रत्यये पूर्वाभ्यासवासनापेक्षः कुणपकामिनीभक्ष्याद्याकारभेदभिन्नप्रत्यय इतिकर्तव्यताङ्गमुत्पद्यते सा हि प्रतिभा । तथा चोक्तम्—

यथाभ्यासं हि वाक्येभ्यो विनाप्यर्थेन जायते ।
स्वप्रत्ययाऽनुकारेण प्रतिपत्तिरनेकधा ॥

येन हि योऽर्थोऽभ्यस्तस्सुखादित्वेन तस्य विनाऽपि तेनाऽर्थेन शब्दमात्रात् प्रतिपत्तिरुत्पद्यते । तद्यथा व्याघ्रोऽत्र प्रतिवसतीत्युक्ते विनापि बाह्येनाऽर्थेनाभ्यासवशादेव स्वेदवेपथुप्रभृतयो भवन्ति । तस्मात् प्रतिभैव देवमनुष्यतिरश्चामितिकर्तव्यताङ्गत्वात्प्रमाणमिति । आह च—

प्रमाणत्वेन तां लोक सर्वः समनुगच्छति ।
व्यवहाराः प्रवर्तन्ते तिरश्चामपि तद्वशात् ॥

उच्यते प्रतिभाया दृष्टादिव्यतिरेकेण रूपान्तरानुपपत्तेः । अवचनमित्यनुवर्तते । यदि पूर्वाभ्यासवासनापेक्षः प्रत्ययः प्रतिभेत्यभ्युपगम्यते तेन तर्हि असौ प्रत्यक्षमनुमानमाप्तवचनं चेत्येतदापन्नम् । कस्मात् ? यतो न हि दृष्टादिव्यतिरेकेण प्रत्ययरूपं कदाचिदप्युपलभामहे । तस्मान्न तेभ्योऽर्थान्तरं प्रतिभा । आर्षप्रत्ययसम्भवादयुक्तमिति चेत्—स्यादेतत्, अस्त्यार्षो हि दृष्टादिव्यतिरेकेण सर्वपदार्थेषु सांसिद्धिकः प्रत्ययः, स प्रातिभो भविष्यतीति । एतच्चाप्ययुक्तम् । कस्मात् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत् सिद्धरूपं भगवतः परमर्षेर्ज्ञानम् । अतो न प्रमाणापेक्षमिति । योगिनामिति चेन्न, अनभ्युपगमात् । न हि योगिनामप्रमाणपूर्वकं ज्ञानमिति यथा तथा वक्ष्यामः । स लौकिक इति चेत्, न । अनिश्चितत्वात् । स्यादेतत्—अस्ति लौकिकः प्रत्ययो दृष्टादिव्यतिरेकेण । तद्यथा सन्तमसे व्रजतो द्रागिति विज्ञानमुत्पद्यते—अस्ति मे प्रतिघाति द्रव्यं पुरस्तादूर्ध्वमवस्थितमिति । तच्च नैवम् । कस्मात् ? अनिश्चितत्वात् । न हि तत्र निश्चय उत्पद्यते इदं तद् द्रव्यमस्ति पुरतो वा व्यक्तमस्तीति । न चानिश्चितं प्रमाणज्ञानमिष्यते । किञ्चान्यत्—अनवस्थाप्रसंगात् । यदि चैवञ्जातीयकोऽपि प्रत्ययः प्रमाणमभ्युपगम्यते तेनानवस्था प्राप्नोति । किं कारणम् ? अनवस्थानाद्धिकरणस्य । कामक्रोधलोभभयविषादद्वारको विकल्पः सम्यङ् मिथ्या वा यस्मादनेक उत्पद्यते तस्मान्न लौकिकः प्रत्ययः प्रतिभा । यत्तु खल्विदमुच्यते अभ्यासवासनापेक्षाऽसत्स्वपि व्याघ्रादिषु प्रतिपत्तिरुत्पद्यते इति । सत्यमेतत् । सा तु मिथ्याज्ञानत्वात्प्रमाणत्वेन न परिगृह्यते इत्ययमदोषः । तस्मात् सिद्धं दृष्टादिव्यतिरेकेण रूपान्तराऽनुपपत्तेः प्रतिभायाः पृथगनभिधानम् । ततश्च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टमिति स्थितमेतत् ॥४॥

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु ॥ ५ ॥

अन्वयः—प्रतिविषयाध्यवसायः, दृष्टम्, (निगद्यते); अनुमानम्, त्रिविधम्, आख्यातम्, तत्, लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्, (भवति), आप्तश्रुतिः, तु, आप्तवचनम्, (अस्ति) ॥५॥

शब्दार्थः—प्रतिविषयाध्यवसायः=चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का रूप आदि विषयों में अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में व्यापार करना ही, दृष्टम् = प्रत्यक्ष प्रमाण, (निगद्यते = कहा जाता है); अनुमानम् = अनुमान, त्रिविधम् = तीन प्रकार का, आख्यातम् = कहा गया है; तत् = वह (अनुमान), लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् = (कहीं पर) लिङ्ग (चिह्न, हेतु, व्याप्य) के ज्ञान से (और कहीं पर) लिङ्गी (चिह्न को धारण करने वाले, हेतुमान्, व्यापक) के ज्ञान से उत्पन्न होता है; आप्तश्रुतिः=कपिल आदि प्रामाणिक आचार्यों का वचन तथा वेद, तु=ही, आप्तवचनम्=शब्दप्रमाण, (अस्ति=है) ॥५॥

अर्थः चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का (बुद्धि इन्द्रियों का) रूप आदि अपने-अपने निर्धारित विषयों में व्यापार करना (अर्थात् देखना, सुनना आदि) प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। अनुमान-पूर्ववत्, शेषवत्, तथा सामान्यतोदृष्ट रूप से—तीन प्रकार का कहा गया है। वह अनुमान कहीं पर लिङ्ग (हेतु, चिह्न) पूर्वक होता है (अर्थात् लिङ्ग के द्वारा लिङ्गधारी का अनुमान होता है) और कहीं पर लिङ्गी (लिङ्ग को धारण करने वाले) के द्वारा लिङ्ग का अनुमान किया जाता है। कपिलादि आप्त पुरुषों का वचन तथा वेद ही शब्दप्रमाण है ॥५॥

त० प्र०- प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां नियतेषु शब्दादिविषयेषु अध्यवसायः व्यापारः प्रवृत्तिः वा दृष्टं प्रत्यक्षमित्यर्थः निगद्यते। यद्यपि निश्चयात्मकः अध्यवसायः बुद्धिव्यापारः नेन्द्रियधर्मः, तथापि इन्द्रियं विना बुद्धिव्यापरोऽसम्भवः इति अध्यवसायः इन्द्रियव्यापारो निर्दिष्टः। अथवा अध्यवसायः इन्द्रियस्य विषयस्य च सन्निकर्षोऽत्र केवलम्। अनुमानं त्रिविधं त्रिप्रकारम् आख्यातं निगदितमस्ति। के च ते प्रकाराः? पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टञ्चेति। पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्, यथा मेघोन्नत्या भाविनीं वृष्टिं अनुमिनोति, पूर्वदृष्टत्वात्। शेषवत्—यथा कूपादुद्धृतं जलबिन्दुं लवणमासाद्य शेषस्य समग्रस्य कूपजलस्य लवणभावं कल्पयति। सामान्यतोदृष्टम्—स्वग्रामे पुष्पितान् आम्रवृक्षान् दृष्ट्वा अन्यत्र अपि आम्राः पुष्पिताः इति सामान्यतो दृष्टेन साधयति। अत्र च दृष्टं दर्शनम्, सामान्यत इति सामान्यस्य, सार्वविभक्तिकस्तसिः। किञ्च तदनुमानं लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति—क्वचिच्चलिङ्गपूर्वकमनुमानं भवति क्वचित् लिङ्गिपूर्वकञ्च। तत्र लिङ्गपूर्वकम्—यत्र लिङ्गेन चिह्नेन हेतुना व्याप्येन वा लिङ्गी लिङ्गधारी व्यापकश्चेत्यर्थः अनुमीयते, यथा दण्डेन यतिः, धूमेन वह्निः। लिङ्गिपूर्वकम्—यत्र लिङ्गिना व्यापकेन

लिङ्गमनुमीयते, यथा – पूर्वं यतिं दृष्ट्वा तदनन्तरं दूरे स्थापितं कमण्डलुञ्च विलोक्य अनुमिनोति कश्चित् 'नूनमयं कमण्डलुः अस्य यतेः। यथा वा उपशमितधूमशाखं वह्नि महानसे प्रत्यक्षीकृत्य भित्तौ च कालिमानं विलोक्य अनुमिनोति—नूनं अस्य वह्नेः धूमेन भित्तिरियं कृष्णेति। आप्तश्रुतिः—आप्ताश्च श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः। आप्ताः कपिलादयः सम्प्रदायाचार्याः, तेषां कथनानीति भावार्थः। श्रुतिः वेदः। कपिलादीनां कथनं वेदाश्चैव एतदुभयम् आप्तवचनं शब्दप्रमाणञ्चेत्यर्थः। इत्थं प्रमाणं त्रिविधं व्याख्यातम् ॥ ५ ॥

टिप्पणी—त्रिविधमनुमानमाख्यातम्—इस कारिका में अनुमान के तीन भेद बतलाये गये हैं—(१) पूर्ववत् (२) शेषवत् और (३) सामान्यतो दृष्ट।

(१) पूर्ववत्—उस अनुमान को कहते हैं जिस में कि पहले देखे गये हेतु (चिह्न, कारण, व्याप्य) और हेतुमान् (चिह्नधारी, कार्य, व्यापक) के सम्बन्ध के आधार पर वर्तमान काल में हेतु को देख कर हेतुमान का अनुमान किया जाता है। जैसे कोई व्यक्ति आकाश में जोरों से उमड़ते हुए मेघों को देख कर कुछ क्षणों के बाद होनेवाली वृष्टि का अनुमान करता है, क्योंकि उसने पहले भी बादलों के उमड़ने से वर्षा को होते देखा है। यहाँ पर हेतु है बादलों का उमड़ना और हेतुमान है वृष्टि।

(२) शेषवत्—शेषवत् उस अनुमान को कहते हैं जिसमें कि समूह के एक अंश का प्रत्यक्ष कर शेष के भी वैसा ही होने का अनुमान किया जाता है। जैसे पकने वाले चावलों में एक को दबा कर शेष के विषय में भी वैसा ही होने का अन्दाज किया जाता है। अथवा कुएँ के एक बूँद जल को जीभ पर रखकर कुएँ के समूचे जल के बारे में भी मीठा या खारा होने का अनुमान किया जाता है।

(३) सामान्यतोदृष्ट—सामान्यतोदृष्ट अनुमान उस अनुमान को कहते हैं जिसमें सामान्यरूप से सर्वत्र एक समान पाई जाने वाली वस्तुओं में एक वस्तु को किसी एक स्थान पर विकृत देखकर उस तरह की शेष अन्य वस्तुओं में वैसे ही विकार का अनुमान किया जाता है। जैसे वृन्दावन में आम के वृक्षों को बौराया हुआ (मञ्जरी सहित) देख कर काशी के आमों में बौर का अनुमान किया जाता है।

लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्–लिङ्गपूर्वकम्—लिङ्ग से लिङ्गी का अनुमान, जैसे कुटी के बाहर रक्खे हुए दण्ड-कमण्डलु को देख कर कुटी के भीतर स्थित संन्यासी का अनुमान, धूम को देख कर अग्नि का अनुमान। लिङ्गिपूर्वकम्—लिङ्गी से लिङ्ग का अनुमान, जैसे पहले संन्यासी को देख कर पुनः कुछ क्षणों के बाद दण्ड-कमण्डलु के दिखलायी पड़ने पर यह अनुमान करना कि यह दण्ड-कमण्डलु उसी संन्यासी का है। धधकती हुई निर्धूम आग को रसोई घर में देखने के बाद घर की भीत को काली देख कर अतीत धूम का अनुमान। इन उदाहरणों में संन्यासी और अग्नि लिङ्गी हैं तथा दण्ड-कमण्डलु और अतीत का धूम लिङ्ग है ॥ ५ ॥

युक्ति०—आह—अस्त्वेवमेतत् । लक्षणानभिधानात्तदप्रतिपत्तिः । तस्मात्तदभिधानम् । अनवस्थितं हि दृष्टादीनां लक्षणम्, दृष्टिवैचित्र्यात् । "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" (न्या० सू० १।१।४) इति केचित् । तथा—आऽत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्" (वै० सू० ३।१।१८) इत्येके । "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्" (मी० सू० १।१।४) इत्यपरे । श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः । कल्पनापोढमित्यन्ये । इत्थमनविस्थितं लक्षणम् । इति दृष्टादीनामप्रतिपत्तिः । तस्माल्लक्षणमभिधानीयम् । उच्यते—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्

विषिण्वन्तीति विषयाः शब्दादयः । अथवा विषीयन्ते उपलभ्यन्ते इत्यर्थः । ते च द्विविधाः—विशिष्टा अविशिष्टाश्च । विशिष्टाः पृथिव्यादिलक्षणा अस्मदादिगम्याः । अविशिष्टाश्च तन्मात्रलक्षणा योगिनामूर्ध्वस्त्रोतसां च गम्याः । वक्ष्यति चैतदुपरिष्टात् "बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि" (का० ३४), अध्यवसायो बुद्धिरिति (का० २३) च वक्ष्यति । विषयं विषयं प्रति वर्तत इति प्रतिविषयम् । किन्तत् ? इन्द्रियम् । तस्मिन् योऽध्यवसायः स प्रतिविषयाध्यवसायः । उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्त्युपनिपाति सत्त्वोद्रेकादरजस्तमस्कं यत्प्रकाशरूपं तत् दृष्टमिति यावत् । तद् दृष्टं प्रत्यक्षमित्यर्थः । एतत्प्रमाणम् । अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलम् । प्रमेयाः शब्दादयः । एवमुत्तरत्रापि प्रमाणफलभावो द्रष्टव्यः ।

आह—किं पुनरिदं प्रमाणात्फलमर्थान्तरमाहोस्विदनर्थान्तरम् ? कथं तावत् भवितुमर्हति अनर्थान्तरमिति ? आह—कस्मात् ? अधिगमरूपत्वात् । अधिगमरूपं हि ज्ञानं, तस्योत्पत्त्यैवाऽधिगतोऽर्थ इति कुतः फलभेद इति ? उच्यते—करणभाव इदानीं कथं स्यात् ? आह—करणभावस्तु प्रसिद्धिवशात् । विषयनिर्भासा हि ज्ञानस्योत्पत्तिः अधिगमरूपापि लोके सव्यापारेव प्रतीतेति कल्पनया करणभावोऽभ्युपगम्यते न परमार्थतः । उच्यते—फलस्यार्थान्तरभावः; अधिकरणभेदात् । बुद्ध्याश्रयं हि प्रमाणमध्यवसायाख्यम्, पुरुषाश्रयं फलमनुग्रहलक्षणम् । न च भिन्नाधिकरणयोरेकत्वमर्हति भवितुम् । यत्तूक्तमधिगमरूपत्वात् ज्ञानमेव फलमिति तदनुपपन्नम् । कस्मात् ? असिद्धत्वात् । यथैव हि घटादयोऽर्था ज्ञानमन्तरेण न तद्रूपा नातद्रूपा इति न शक्यं प्रतिपत्तुम्, एवं ज्ञानमपि पुरुषप्रत्ययमन्तरेण न विषयरूपं नाविषयरूपम् । तथा च शास्त्रम्—"तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गमिति" (का० २०) वचनात् । अतः पुरुषप्रत्ययमन्तरेण ज्ञानमधिगमरूपमिति सांख्यं प्रत्यसिद्धमेतत् । उभयपक्षप्रसिद्धेन च व्यवहारः । पुरुषाभावादयुक्तमिति चेन्न उत्तरत्र प्रतिपादनात् । 'संघातपरार्थत्वात्' (का० २७) इत्यत्र । पुरुषास्तित्वं प्रतिपादयिष्यामः । तस्मात् सिद्धमध्यवसायप्रमाणवादिनः प्रमाणात्फलमर्थान्तरमिति । आह—यदि ह्यध्यवसायः प्रमाणं कथं लौकिकः प्रयोगोऽर्थवान् भवति प्रत्यक्षं वस्तु इति ? उच्यते—विषये प्रत्यक्ष-

शब्दः तत्प्रमितत्वात् तत्कारणत्वाच्च। यथा प्रस्थप्रमितो ब्रीहिराशिः प्रस्थशब्दवाच्यो भवति, एवं प्रत्यक्षप्रमितोऽर्थः प्रत्यक्षशब्दवाच्यः स्यात्। आह, न। अन्यत्रापि तत्प्रसङ्गात्। यदि प्रत्यक्षप्रमितत्वाद्विषये प्रत्यक्षशब्दस्तेन तर्हि अनुमानप्रमितोऽर्थोऽनुमानमिति स्यात्। शब्दप्रमितोऽर्थः शब्द इति। न चाग्निस्वर्गादयः प्रमाणशब्दवाच्या भवन्ति। तस्माद्विषममेतत्। एतेन तत्कारणभावः प्रत्युक्तः। योऽपि हि मन्यते प्रत्यक्षोपदेशस्तत्कारणेष्वप्रतिषेध्य इति अतो विषये प्रत्यक्षशब्दस्तस्याप्यनुमानप्रसंगोऽसाववस्थित इति। उच्यते—कारणतुल्यत्वात् शब्दतुल्यत्वम्। एवं तर्हि अक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षमुच्यते। द्वयं चाक्षं प्रति वर्तते ·विषयोऽध्यवसायश्च। विषयोऽनुग्राहकत्वेनानुग्राह्यत्वेनेतरः। तेनोभयोरपि तुल्यं निमित्तमिति कृत्वा तुल्यशब्दवाच्यता भविष्यति। आह—इतरत्र कथम्? उच्यते—तदभावादितरत्राप्रवृत्तिः। प्रमाणान्तरे तु नास्ति सामान्यं निमित्तम्। कथम्? अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम्। न चाग्न्यादिभिः कश्चिदनुमीयत इत्यतस्तुल्यशब्दवाच्यता न भवति।

आह—अध्यवसायग्रहणं किमर्थम्? उच्यते—अतिप्रसंगनिवृत्त्यर्थम्। प्रति विषयं दृष्टमितीयत्युच्यमाने यावत्किञ्चित् प्रतिविषयं वर्ततेऽनुग्राहकत्वेनोपघातकत्वेन वा तत् सर्वं दृष्टमित्येतदापद्यते। अध्यवसायग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति। आह—न, प्रमाणाधिकारात् नाध्यवसायशब्दस्य प्रयोजनम्। कुतः? प्रमाणाधिकारोऽयम्। न चाध्यवसायादृते यत्किचिद्विषयं प्रतिपद्यते तेन किञ्चित् प्रमीयते। तेन वयं सामर्थ्यादध्यवसायमेवाभिसंभन्त्स्यामः। तद्यथा—अध्ययनाधिकारे ब्राह्मणा आनीयन्तामित्युक्ते य एवाधीयन्ते त एवानीयन्ते। उच्यते—करणान्तराणां तु सन्देहनिवृत्त्यर्थम्। एवं तर्हि श्रोत्रादीनामन्यतममन्तःकरणं चेत्येतद् द्वारद्वारिभावेन चतुष्टयं विषयं प्रति वर्तते। तस्मादध्यवसायग्रहणं क्रियते सन्देहो माभूदिति। आह–अस्त्वत्र सन्देहः, नैकेन केनचित् कश्चिद्विषय उपादीयते। तेन वयं सर्वेषां प्रत्यक्षत्वं प्रतिपत्स्यामहे। उच्यते—सर्वाभ्युपगमे हि शास्त्रहानि.। यदि पुनः सर्वेषामेव प्रमाणत्वमभ्युपगम्यते तेन यच्छास्त्रमेकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनमिति तद्धीयते। वक्ष्यति चाचार्यः "एते प्रदीपकल्पाः" (का० ३६), "सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिरिति" (का० ३७) तद्विरुध्यते। तस्मादध्यवसायग्रहणं कर्तव्यं सन्देहो मा भूदिति। आह—न, सन्देहमात्रमेतद् भवति। सर्वसन्देहेषु चैतदुपतिष्ठते—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् (म० भा० १।१।१)। तत्राध्यवसायो दृष्टमिति व्याख्यास्यामः। उच्यते—मुक्तसंशयं चेन्द्रियवृत्तिप्रतिपत्तेः। स्यादेतत्, यद्यत्र सन्देहः स्यात्। नैवात्र सन्देहः प्राप्तः, किन्तर्हि श्रोत्रादिवृत्तेरेव ग्रहणम्। आह—किं पुनः कारणं येन निमित्ताऽविशेषेऽपि श्रोत्रादिवृत्तेरेवात्र ग्रहणं प्राप्नोति, नान्तःकरणस्यैव प्रत्यक्षत्वम्? उच्यते—तत्र च मुख्या श्रोत्रादिवृत्तिः। कस्मात्? साक्षाद्विषयग्रहणसामर्थ्यात्। नान्तःकरणम्, तद्द्वारेण प्रतिपत्तेः। गौणमुख्ययोश्च मुख्ये सम्प्रतिपत्तिः। तद्यथा—गौरनुबन्ध्यः अजोऽग्नीषोमीय इति वाहीको नाऽनुबध्यते। आह—यदीयं

श्रोत्रादिवृत्तिरेव प्रत्यक्षमित्यभ्युपेयते क एवं सति दोषः स्यात् ? उच्यते—रागादिविषयं यद्विज्ञानं लिंगलिंगिपूर्वकम्, योगिनां च ध्यानभूमिकासु विहरतामनुमानागमातीतं प्रातिभं यद्विज्ञानमुत्पद्यते तदुपसंख्येयं स्यात् । कुतः ? न हि सुखादयः श्रोत्रादिवृत्तिग्राह्याः, योगिनां ।तीन्द्रियं ज्ञानमिति । यथान्यासं तु क्रियमाणे तेऽपि विषयाः, तेषां योऽध्यवसायस्तस्य ।त्यक्षत्वं केन वार्यते ?

आह—प्रतिविषयग्रहणं तर्हि किमर्थम् ? उच्यते—प्रतिविषयग्रहणमसद्व्युदासार्थम् । अध्यवसायो दृष्टमितीयत्युच्यमाने मृगतृष्णिकाऽलातचक्रगन्धर्वनगरादिषु अपि योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमिति स्यात् । प्रतिविषयग्रहणात्तु तेषां व्युदासः कृतो भवति । आह—यद्येवं विषयाध्यवसाय इत्येव चोच्यताम् । किम्प्रतिग्रहणेन ? उच्यते—प्रतिग्रहणं सन्निकर्षार्थम् । विषयाध्यवसायो दृष्टमितीयत्युच्यमाने विषयमात्रे सम्प्रत्ययः स्यात् । प्रतिप्रग्रहणे पुनः क्रियमाणे प्रतिराभिमुख्ये वर्तते । तेन सन्निकृष्टेन्द्रियवृत्त्युपनिपाती योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमित्युपलभ्यते । आह—कस्य पुनरतीन्द्रियसन्निकर्षे प्रत्यक्षत्वं प्राप्नोति ? उच्यते—अनुमानस्य । कस्मात् ? तद्धि लिङ्गदर्शनादसन्निकृष्टे विषये भवति । आह—अनुमानस्याप्रसङ्गः । सामान्यविहितस्य विशेषविहितेन बाधनात् । सामान्ये हि विषयमात्रेऽध्यवसायस्य प्रत्यक्षत्वं विधाय विशेषे लिङ्गलिङ्गिपूर्वकेऽनुमानं शास्ति । सामान्यविहितं च विशेषविहितेन बाध्यते, यथा दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति । उच्यते—स्मृतेस्तर्हि प्रत्यक्षत्वं प्राप्नोति । तत्रायमपवादो नाभिनिविशत इति । न, स्मृतेः, प्रमाणाधिकारात् प्रमाणाधिकारोऽयम् । न च स्मृत्या किञ्चित् प्रमीयते । स्मृतेः प्रमितेऽर्थे प्रादुर्भावात् । उच्यते—संशयस्य तर्हि प्राप्नोति । न संशयस्य, अध्यवसायग्रहणात् । अध्यवसायो हि दृष्टमित्युच्यते । न च संशयोऽध्यवसायोऽनिश्चितत्वात् । उच्यते—इन्द्रियान्तराकूतविषये तु प्रसंगः । एवं तर्हीन्द्रियार्थसन्निकृष्टेन्द्रियवृत्त्युपनिपातीति दोषो न भवति । आह—रागाद्युपसंख्यानम् । यदि सन्निकृष्टेन्द्रियवृत्त्युपनिपाती योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमित्यभ्युपेयते, तेन रागादिविषयं विज्ञानमतीन्द्रियत्वात्प्रत्यक्षं न प्राप्नोति । तस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । उच्यते—न तर्हीदं प्रतिग्रहणमिन्द्रियविशेषणं विषयं विषयं प्रति यो वर्तते तस्मिन् योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमिति । किन्तर्हि—अध्यवसायविशेषणं विषयं विषयं प्रति योऽध्यवसाय इति । आह—अध्यवसायविशेषणमितिचेत्, शब्दाद्युपसंख्यानम् । शब्दादीनामेव तेन प्रत्यक्षत्वं प्राप्नोति । तेषामुपसंख्यानं कर्तव्यं प्राप्नोति । किं कारणम् ? अन्तःकरणस्य तैः सन्निकर्षाऽनुपपत्तेः । प्रतिग्रहणं सन्निकर्षार्थमिति पूर्वमतिसृष्टं भवता । तच्चेदानीमन्तःकरणविशेषणम् । न चान्तःकरणस्य शब्दादिभिः सन्निकर्ष उपपद्यते, श्रोत्रादिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । द्वारिद्वारभावस्यापघातप्रसंसाच्च । तस्मात्सुदूरमपि गत्वा प्रतिग्रहणं प्रत्याख्यानान्न मुच्यते । रागाद्युपसंख्यानाद्वेति । उच्यते—अस्तु तर्हीन्द्रियाणां प्रति विषयग्रहणं विशेषणम् । यत्तूक्तं

रागादीनामुपसंख्यानं कर्तव्यमिति तत्र ब्रूमः। एकशेषनिर्देशात् सिद्धम्। एवं तर्हि प्रतिविषयाध्यवसायश्च प्रतिविषयाध्यवसायश्च प्रतिविषयाध्यवसाय इति सरूपाणामेकशेषः करिष्यते। तत्रैकेन बहिरङ्गस्येन्द्रियस्य प्रत्यक्षस्य परिग्रहः। द्वितीयेनान्तरङ्गस्य प्रातिभस्येति रागादिविषयं योगिनां च यद्विज्ञानं तत् संगृहीतं भवतीति व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

आह—अनुमानमिदानीं वक्तव्यम्। उच्यते—

त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।

अनुमानं त्रिप्रकारमाचार्यैराख्यातम्। पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टञ्च। तत्र पूर्वमिति कारणमुच्यते। यस्य हि यत् कारणं स लोके तत्पूर्वक इत्युच्यते। यथा तन्तुपूर्वकः पटो, देवदत्तपूर्वको यज्ञदत्त इति। पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्। शेष इति विकारनाम, शिष्यत इति कृत्वा। तथा चोक्तम्—न शेषोऽग्नेरन्यस्य जातमित्यस्तिनापत्यमन्येन जातं सम्भवतीत्यर्थः। शेषोऽस्यास्तीति शेषवत्। तत्र पूर्ववत् यदा कारणमभ्युदितं दृष्ट्वा भविष्यत्त्वं कार्यस्य प्रतिपद्यते। तद् यथा मेघोदये भविष्यत्त्वं वृष्टेः। आह - नैतदस्त्युदाहरणमनेकान्तात्। न हि मेघोदयोऽवश्यं वृष्टेः कारणं भवति, वाय्वादिनिमित्तप्रतिबन्धसम्भवात्। उच्यते - यदि तर्हि कारणशक्तिं सहकारिशक्त्यन्तराऽनुगृहीतामप्रतियोगिनीं दृष्ट्वा कार्यस्य व्यक्तिं प्रतिपद्यते। तद्यथा—यदा लौहदंडादिसाधनसम्पन्नेन व्यापारवता कुम्भकारेणाधिष्ठितां मृदमुपलभ्य घटस्य, तदा पूर्ववत्। शेषवत्—यदा कार्यनिर्वृतिं दृष्ट्वा कारणसद्भावं प्रतिपद्यते। तद्यथा—कुमारकं दृष्ट्वा द्वयसमापत्तिम्। आह—नैतदस्त्युदाहरणम्। अनेकान्तात्। न हि द्वयसमापत्तिपूर्वक एव प्राणभृतां प्रादुर्भावः, द्रोणादीनामन्यथोत्पत्तिविशेषश्रवणात्। उच्यते—यदा तर्हि प्रभानुरञ्जितमन्तरिक्षं दृष्ट्वा चन्द्रार्कयोरुदयं प्रतिपद्यते तदा शेषवत्। आह—एतदपि नास्त्युदाहरणम्। अनेकान्तात्। न हि प्रभाऽनुरागोऽन्तरिक्षे चन्द्रार्कनिमित्त एव भवति। किन्तर्हि दिग्दाहादिनिमित्तोऽपि। उच्यते—यदा तु नदीपूरं दृष्ट्वा वृष्टिं प्रतिपद्यते तदा शेषवत्। आह—एतदपि नास्त्युदाहरणम्। अनेकान्तात्। नदीपूरस्य हि निमित्तमनेकविधं भवतीति हिमविलयनसेतुभंगगजक्रीडादि। तस्मादयुक्तमेतत्। उच्यते यदा तर्हि पर्णं दृष्ट्वा शालूकं प्रतिपद्यते, अङ्कुरं वा दृष्ट्वा बीजमिति तदा शेषवत्। अथवा पुनरस्तु पूर्वकमेवोदाहरणम्। यत्तूक्तम्—अनेकान्तादिति, अत्र ब्रूमः—वीतावीतसामर्थ्यात्। वीतावीताभ्यां हेतुभूताभ्यामभिप्रेतार्थसिद्धिरितिवक्ष्यामः। प्रसंगिधर्मान्तरनिवृत्तिमुखेन चावीतप्रयोगः। तत्र यदा प्रसंगिनां हिमविलयनादीनां देशकाललिङ्गैः प्रतिषेधः क्रियते तदा मुक्तसंशयं प्रतिपत्तिर्भवति। देशतस्तावत्तद् यथा—दक्षिणापथे नास्ति हिमविलयनसम्भवः। कालतो यथा—प्रावृट्काले। लिङ्गतोऽपि यस्मान्मुद्गगवेधुकश्यामाककाष्ठतृणसूत्रशकृत्प्रभृतीनामनुपलम्भस्तथोष्मकलुषत्वादीनामुपलम्भः। तस्मात् परिशेषतो मेघा एवाप इति। तस्मान्नाऽनेकान्तः। एवं कृत्वा पूर्वाण्यप्युदाहरणानि उपपन्नानि भवन्ति। देशादिविचारसामर्थ्यात्।

सामान्यतोदृष्टं नाम यत्रैकदाऽर्थयोरव्यभिचारमुपलभ्य देशान्तरे कालान्तरे च तज्जातीययोरव्यभिचारं प्रतिपद्यते। तद्यथा क्वचिद्धूमाग्निसम्बन्धं दृष्ट्वा क्वचिद्धूमान्तरेणाग्न्यन्तरस्यास्तित्वं प्रतिपद्यते। आह—नैतदस्त्युदाहरणम्। अविशेषप्रसङ्गात्। सर्वत्रैव ह्यनुमाने क्वचिदर्थयोरव्यभिचारमुपलभ्यान्यत्र तज्जातीययोरर्थयोरव्यभिचारं प्रतिपद्यते। तद्यथा-क्वचित् साधनवतो मृत्पिण्डाद् घटनिष्पत्तिमुपलभ्यान्यत्र साधनवतः पिण्डान्तराद् घटान्तरनिष्पत्तिं प्रतिपद्यते, तथैकत्र नदीपूराद् वृष्टिमुपलभ्यान्यत्र नदीपूरान्तराद् वृष्ट्यन्तरमवसीयते। तथा च सति त्रयाणामविशेषप्रसंगः। उच्यते—यदा तर्हि सहभुवामेकस्य विशिष्टगुणमुपलभ्य शेषाणामपि तद्वत्त्वमनुमीयते तदा सामान्यतोदृष्टम्। तद्यथा–वृक्षादेकस्य फलस्य पाकमुपलभ्य शेषाणां फलान्तराणां च पाकोऽनुमीयते। आह-एतदपि नास्त्युदाहरणम्। अनेकान्तात्। न हि सर्वेषां फलानां तुल्यकालं पाको भवति। पूर्वापरकालनिष्पन्नत्वात्, निमित्तभेदाच्च। उच्यते--यदा तर्हि समुद्रादेकमुदबिन्दुं प्राश्य शेषस्य लवणताऽनुमीयते। स्थाल्यां वैकं पुलाकमुपलभ्य शेषाणां पाकोऽनुमीयते तदा सामान्यतोदृष्टम्। आह—नैतदस्त्युदाहरणम्। अकृत्स्नसङ्ग्रहात्। वक्ष्यत्ययमुपरिष्टादाचार्यः "सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्" (का० ६) इति। तत्रैवं प्रमाणे परिकल्प्यमाने कार्यकारणयोस्तत्संघातानां च सुखदुःखमोहस्वभावोपलम्भात्तन्मात्राहङ्कारप्रधानानां समधिगमः स्यात्। न पुरुषस्य, तज्जातीयार्थाऽनुपलम्भात्। उच्यते-यदा तर्हि क्वचिद्धर्मेण धर्मान्तरस्याव्यभिचारमुपलभ्यैकधर्मोपलम्भाद् भिन्नजातीयेऽत्यन्तानुपलब्धस्य धर्मान्तरस्य प्रतिपत्तिस्तदा सामान्यतोदृष्टम्। तद्यथा--देवदत्ते गमनाद्देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यात्यन्तादृष्टज्योतिषां देशान्तरप्राप्तेर्गमनमनुमीयते। तथा प्रासादादीनां वृद्धिपूर्वकं दीर्घत्वमुपलभ्यौषधिवनस्पतीनां दीर्घत्वदर्शनाद् वृद्धिरनुमीयते। आह—नैतदप्यस्त्युदाहरणम्। पूर्वेणाविशेषात्। कार्यात् कारणस्याधिगमः शेषवदिति पूर्वमतिसृष्टं भवता। अत्रापि च देशान्तरप्राप्तिलक्षणात् कार्याद् गतिलक्षणस्य कारणस्याधिगमः। तस्मात् शेषवत्सामान्यतोदृष्टयोरभेदप्रसंगः। उच्यते—न, अनियमात्। यत्र हि नियमतः कार्येण कारणमधिगम्यते तच्छेषवदिति अयमस्मदभिसन्धिः। न तु तदस्ति सामान्यतोदृष्टे। कस्मात्? संघातत्वसामान्यात्। पारार्थ्यसामान्यसाधनमपि दृश्यते। यथाह--अव्यभिचाराद्विशेषास्तु प्रतीताः प्रतिपादकाः इति। साध्यसाधनसामान्ययोरपि दृश्यते, यथाऽनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति। तत्रैवं सति नियमवादिनः प्रतिज्ञाहानिः। एतेनासिद्धविरुद्धानैकान्तिकसाधनाभासाः प्रत्युक्ताः। ते हि संशयविपर्ययाज्ञानहेतुकत्वादगमका इति व्याख्यातमनुमानम्।

आह--आप्तवचनस्य किं लक्षणमिति? उच्यते—

आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु ॥ ५ ॥

आप्ता नाम रागादिवियुक्तस्यागृह्यमाणकारणपरार्था व्याहृतिः। श्रवणं श्रुतिः। आप्ता चाऽसौ श्रुतिराप्तश्रुतिः। अथवा आप्तोऽस्यास्तीत्याप्तः। आकारो मत्वर्थीयः। तद्यथा

तुन्दो घट इति। आप्तेभ्यः श्रुतिराप्तश्रुतिः। आप्तश्रुतिश्चाप्तश्रुतिश्चाप्तश्रुतिः, सरूपाणामित्येकशेषः। तत्र पूर्वेणाप्तश्रुतिग्रहणेनैवं प्रतिपादयति अपुरुषबुद्धिपूर्वक आम्नायः, स्वतन्त्रः पुरुषनिःश्रेयसार्थं प्रवर्तमानो निःसंशयं प्रमाणमिति। द्वितीयेन मन्वादिनिबन्धनानां च स्मृतीनां वेदाङ्गतर्केतिहासपुराणानां शिष्टानां नानाशिल्पाभियुक्तानां चादुष्टमनसां यद्वचस्तत्प्रमाणमित्येतत्सिद्धं भवति। तुशब्दोऽवधारणार्थः। आप्तश्रुतिरेवाप्तवचनं न शब्दमात्रम्। एवं सति यदुक्तं तन्त्रान्तरीयैः शिंशपादिशब्दानां निर्विकल्पकानुमानेऽन्तर्भावस्त्रिलक्षणत्वादिति तदयत्नतः प्रतिक्षिप्तं भवतीति व्याख्यातानि प्रमाणानि। एतैः पूर्वोक्तं प्रमेयं यथास्वं प्रतिपत्तव्यमिति ॥ ५ ॥

सामान्यतस्तु दृष्टात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्[1]।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्[2] ॥ ६ ॥

अन्वयः— सामान्यतः, दृष्टात्, तु, अतीन्द्रियाणाम्, प्रतीतिः, अनुमानात्, (भवति); तस्मात्, अपि, असिद्धम्, च, परोक्षम्, आप्तागमात्, सिद्धम् ॥६॥

शब्दार्थः– सामान्यत=इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य सभी अपेक्षित तथा अनपेक्षित विषयों की, (सिद्धि प्रतीति), दृष्टात्=प्रत्यक्ष प्रमाण से, तु=तथा, अतीन्द्रियाणाम्=अतीन्द्रिय पदार्थ की, प्रतीतिः=ज्ञान, अनुमानात्=अनुमान से, (भवति होता है); तस्मात् उससे (अनुमान से), अपि भी, असिद्धम्=असिद्ध, परोक्षम्=परोक्ष अर्थात् अतीन्द्रिय पदार्थ, आप्तागमात्=शब्दप्रमाण से, सिद्धम्-सिद्ध होता है ॥६॥

अर्थः· इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य सभी अपेक्षित तथा अनपेक्षित विषयों की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है। अनुमान से भी असिद्ध परोक्ष अर्थात् अतीन्द्रिय पदार्थ शब्दप्रमाण से सिद्ध होते हैं ॥ ६ ॥

त० प्र०—सामान्यतः इति षष्ठ्यन्तात्तसिः, इन्द्रिययोग्यस्य सर्वस्य अपेक्षितस्य अनपेक्षितस्य चार्थस्य, दृष्टात् प्रत्यक्षादेव सिद्धिरिति शेष। प्रत्यक्षप्रमाणेन तत्त्वेषु स्थूलभूतानामेव ग्रहणं केवलम्। यत्तु सामान्यतः दृष्टात् अनुमानात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरित्यर्थं कुर्वन्ति तदसत्। पूर्वस्याम् आर्यायां वर्णितस्य प्रमाणत्रयस्य क्रमशोऽत्र विषयनिर्देशाभिप्रायात् 'सामान्यतस्तु दृष्टात्, इत्यत्र तु शब्दव्यवधानाच्च। अतीन्द्रियाणाम् इन्द्रियाण्यतीत्यवर्तमानानां प्रधानपुरुषादीनां प्रतीतिः ज्ञानम् अनुमानात् अनुमानप्रमाणात् भवति। यस्मात् स्थूलभूताः त्रिगुणाः, यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तदपि त्रिगुणम्। इत्थं परम्परयाऽनुमानात् प्रकृतौ पर्यवसानम्। तदूर्ध्वं कारणकल्पनायाम् अनवस्थादोषापत्तिः। यस्य संसर्गेणाऽचेतनं चेतनमिव प्रतीयते, अतो व्यतिरिक्तः अन्यः अधिष्ठाता पुरुषः इति।

१. प्रसिद्धिरनुमानात्—युक्तिदीपिका।

२. साध्यम्—माठरवृत्ति।

अतीन्द्रियपदार्थास्तु द्विविधाः, हेतुमन्तः हेतुरहिताश्च। हेतुमन्तः अनुमानेन ज्ञायन्ते, हेतुरहिताश्चाप्तवचनेनेत्यभिप्रेत्याह - तस्मादिति, - तस्मात्=अनुमानादपि असिद्धम् अप्रतीतञ्च परोक्षं हेतुरहितं परोक्षमित्यर्थः, आप्तागमात् आप्तप्रमाणात् सिद्धं भवति, यथा—वैकुण्ठमधिशेते विष्णुः, स्वर्गे कल्पवृक्षः इति। लोके प्रथमं पदार्थानां ग्रहः प्रत्यक्षेण, ततः अग्रहे अनुमानेन, तस्मादपि असिद्धे शब्दप्रमाणप्रारम्भः इति क्रमशोऽत्र प्रमाणविषय-विन्यासः इत्यवधेयम् ॥ ६ ॥

टिप्पणी व्यक्ति पदार्थों को सर्वप्रथम प्रत्यक्षप्रमाण से जानता है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो पाते, उनका ज्ञान अनुमान के सहारे किया जाता है। किन्तु जहाँ अनुमान की भी गति नही चलती, अर्थात् अनुमान के लिये जहाँ कोई हेतु नहीं मिल पाता, वहाँ शब्द प्रमाण की शरण लेनी पड़ती है। स्वर्ग तथा वैकुण्ठ की सत्ता के ज्ञान के लिये शब्दप्रमाण के अतिरिक्त दूसरा कोई सहारा नहीं है। अतः इस प्रमाण को भी मानना आवश्यक हो जाता है ॥ ६ ॥

युक्ति०—आह–अस्तु तावदक्षसन्निकर्षभाजामर्थानां प्रत्यक्षेणोपलब्धिः। असन्निकर्ष-भाजामपि चोपलब्धसम्बन्धानामनुमानेन। ये त्वतीन्द्रिया भावास्तेषामुभयवैलक्षण्यान्नास्ति प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलब्धिः। आगमिकत्वे सर्ववादसिद्धिप्रसंगः। इत्यतोऽत्यन्तमेवाग्रहणं प्राप्तम्। तत्र यदुक्तमेतावद्भिः प्रमाणैः सकलपदार्थविबोध इति एतदयुक्तम्। उच्यते—स्यादेतदेवं यद्येकरूपमेवानुमानमधीतं स्यात्। किं तर्हि त्रिविधम्। तत्र सत्यमेव पूर्ववच्छेषवती प्रागनुभूतसम्बन्धविषयफले इति कृत्वा न ताभ्यामशेषपदार्थाधिगमोऽभ्युपगम्यते।

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रसिद्धिरनुमानात्

यत्त्वेतत्सामान्यतोदृष्टमनुमानमेतस्मादतीन्द्रियाणामर्थानां समधिगमः प्रत्यवगन्तव्यः। कथम्? यथा हि कृतकत्वानित्यत्वयोर्घटे सहभावमुपलभ्यान्यत्र शब्दादौ कृतकत्वदर्शनादनित्यत्वमनुमीयते एवं शकलादीनां तज्जातीयतया चन्दनादिपूर्वकत्वसिद्धेः, कार्यकारणस्य सुखादिजातीयतया तत्पूर्वकत्वसिद्धेः, शयनादीनां च संघातत्वात्पारार्थ्यसिद्धेः, कार्य-कारणस्यापि संघातत्वात्पारार्थ्यसिद्धिरिति सर्वमिष्टं सङ्गृहीतं भवतीति। येषां तु शेषवदेव सामान्यतोदृष्टं तेषां तस्य कार्यद्वारेण समधिगमहेतुत्वात् पुरुषस्याग्रहणप्रसंगः। वृत्तौ कार्योपचाराददोष इति चेत् स्यान्मतम्, यद्यपि पुरुषस्य कार्याभावस्तथापि पुरुषाव्यक्तमहदहङ्कार-विशेषाणां साम्प्रते काले स्ववृत्तिभ्यस्तेषां ग्रहणमित्युक्तम्। कस्मात्? वृत्तिशक्तिरेषां कार्यत्वेनोपचरिता स्वमात्मानं युनक्तीति। तच्चायुक्तम्। कस्मात्? हेत्वन्तराभिधानात्। यदि वृत्त्या ग्रहणं पुरुषस्य सूपपादमभविष्यत् संहतपारार्थ्यमाचार्यो हेतुत्वेन नावक्ष्यत्। तच्चावृत्तिभूतमित्यवश्यं शेषवत्सामान्यतोदृष्टयोरर्थान्तरभावोऽभ्युपगन्तव्यः। तस्मात् सिद्धं सामान्यतोदृष्टादतीन्द्रियाणामर्थानां समधिगमः।

तस्य प्रयोगमात्रभेदाद् द्वैविध्यम्। वीतः अवीत इति। तयोर्लक्षणमामनन्ति—

यदा हेतुः स्वरूपेण साध्यसिद्धौ प्रयुज्यते ।
स वीतोऽर्थान्तराक्षेपादितरः परिशेषितः ॥

स्वरूपं हि साधनस्य द्विविधम्—साधारणमसाधारणञ्च । तत्र साधारणं साध्यसहभावी तत्प्रतिपत्तिहेतुत्वेन यथावदाश्रीयमाणोऽर्थात्मा । असाधारणं पुनः परिमाणमन्वयः संघातपरार्थत्वमित्यादि । तत्र यदा हेतुः परपक्षमपेक्ष्य यथार्थेन स्वरूपेण साध्यसिद्धावुपदिश्यते तदा वीताख्यो भवति । यदा तु स्वसाध्यादर्थान्तरभूतानां प्रसंगिनां क्षेपमपोहं कृत्वा परिशेषतः साध्यसिद्धावपदिश्यते तदाऽवीताख्यो भवति । तद्यथा न चेत् परमाणुपुरुषेश्वरकर्मदैवकालस्वभावयदृच्छाभ्यो जगदुत्पत्तिः सम्भवति परिशेषतः प्रधानादिति तदा पुनरवीताख्यो भवति । तत्र यदा वीतो हेतुः स्वबुद्धाववहितविज्ञानसरूपं विज्ञानान्तरमादधानेन वक्त्रा प्रतिपाद्यादौ वाक्यभावमुपनीयते । वाक्यमन्तरेणार्थस्य बुद्ध्यन्तरे संक्रामयितुमशक्यत्वात्, तदाऽवयविवाक्यं परिकल्प्यते । तस्य पुनरवयवाः जिज्ञासासंशयप्रयोजनशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासलक्षणाश्च व्याख्याङ्गम् । प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपसंहारनिगमनानि परप्रतिपादनाङ्गमिति ।

तत्र ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा । कश्चित् कञ्चिदुपसद्याह—पुरुषं ज्ञातुमिच्छामि । किमस्तिनास्तीति ? कुतः संशय इति पर्यनुयुक्तः प्रत्याह—अनुपलभ्यमानस्योभयथा दृष्टत्वात् । इहानुपलभ्यमानमुभयथा दृष्टम्—सद्भूतमसद्भूतञ्चेति । सद्भूतं चार्केन्दुमण्डलापरभागादि, असद्भूतञ्च शशविषाणादि । अयमपि चात्मा नोपलभ्यते । अतः संशयः किमस्ति नास्तीति ? किमस्याश्चिन्तायाः प्रयोजनमिति पृष्टो व्याचष्टे—शास्त्रसतत्त्वाधिगमः, ततश्च मोक्षावाप्तिः । कथमिति ? यदि तावदयमात्माऽस्ति ततोऽस्य अप्रकृतित्वौदासीन्यविभुत्वादिसतत्त्वविज्ञानान्नैरात्म्यभ्रान्तिविपक्षभूतादपवर्गप्राप्तिरवश्यं भाविनीति यदुक्तं व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षोऽवाप्यत इति तच्छास्त्रमर्थवद् भवतीति । अथ नास्तीति निश्चीयते तेन सामान्यतोदृष्टादनुमानात्तद्वदन्येऽपि पदार्था न सन्तीति विप्रलम्भभूयिष्ठमार्षं दर्शनमपहायात्मग्रहदृष्टिविगमाल्लोकोत्तरमनवलम्बनं शून्यं ध्यानविषयमुपसम्प्राप्तस्त्रैधातुकक्लेशनिरोधलक्षणमात्यन्तिकं निर्वाणमवाप्स्यसीति । शक्यश्चायमर्थो निश्चेतुम्, प्रमाणत्रयपरिग्रहादिति व्यवस्थिते, व्युदास्य संशयं साध्यावधारणं प्रतिज्ञा । साध्यस्य यदवधारणमस्ति पुरुष इति सा प्रतिज्ञा ।

साधनसमासवचनं हेतुः । साध्यतेऽनेनेति साधनं लिङ्गम् । समासः संक्षेपः । साधनस्य समासवचनं साधनसमासवचनम् । साधनग्रहणं तदाभासप्रतिषेधार्थम् । न हि तानि साधनं, संशयविपर्ययहेतुत्वात् । समासग्रहणमवयवान्तरावकाशप्रदानार्थम् । लिङ्गनिर्देशमात्रं हेतुः । यस्तु तस्य साध्यसहभावित्वलक्षणः प्रपञ्चः सोऽवयवान्तराणीत्युक्तं भवति ।

उदाहरणन्त्वत्र निदर्शनं दृष्टान्तः । तस्य साधनस्य साध्येन सहभावित्वनिदर्शनं यदसौ दृष्टान्तः । तद्यथा संहत्यकारिणां परार्थत्वं दृष्टं, यथा शयनासनरथशरणानाम् । व्यतिरेकस्त्ववीतस्य प्रसंगिधर्मान्तरनिवृत्तिरूपत्वात्तदन्तर्भूत इति न तदर्थं वैधर्म्यदृष्टान्त उच्यते ।

साध्यदृष्टान्तयोरेकक्रियोपसंहार उपनयः। साध्यस्य चक्षुरादिपारार्थ्यलक्षणस्य, दृष्टान्तस्य च शयनादेरेकक्रियोपसंहारः। तत्रार्थान्तरभूतत्वात् साध्यदृष्टान्तयोरञ्जसा नैकक्रियोपपद्यते। तेनैव तस्याऽनिदर्शनादित्यतो धर्मसामान्याद्यथेदं तथेदमित्येकक्रियो-पचर्यते। यथा शयनादयः संहतत्वात्परार्थाः एवं चक्षुरादिभिरपि परार्थैर्भवितव्यम्। यौऽसौ परः स पुरुषः।

तद्वशात्प्रतिज्ञाभ्यासो निगमनम्। हेतुदृष्टान्तोपसंहारापेक्षया यः पुनरभ्यासः तन्नि-गमनम्। तद्यथा—तस्मादस्ति पुरुष इत्येषामवयवानां परस्परसम्बन्धात् विशिष्टार्थः समुदायो वाक्यमित्युपदिश्यते। वाक्यमप्यनेकं यदा गुणीभूतस्वार्थमर्थान्तरोपकारित्वादितरेण संसृज्यते तदा शास्त्रमप्येकं वाक्यमित्यवसीयते।

आह—जिज्ञासाद्यनभिधानम्। तद्व्यतिरेकेणापि स्वयमर्थगतेः। स्वनिश्चयवच्च परप्रति-पादनात्। यथा हि स्वयमुत्पद्यते निश्चेतुः प्रत्ययस्तथैवान्यः प्रत्याय्य इत्येतन्न्याय्यम्। न च स्वयमेवार्थं प्रतिपद्यमानस्य जिज्ञासादीनां तत्र व्यापारः। तस्मात् परार्थमप्येषामुपादानं न कल्प्यते। संशयवचनानर्थक्यञ्च, प्रतीतार्थत्वात्। निश्चितौ हि वादिप्रतिवादिनौ स्वपक्षयोः, तयोरितरेतरसंशयपर्यनुयोगे नास्ति प्रयोजनम्। किञ्चान्यत्—प्रयोजनशक्य-प्राप्त्यवचनं च। साधनाभ्युपगमादेव तत्प्रतीतेः। न हि महतां निष्प्रयोजना प्रवृत्ति-रुपपद्यते। न चाशक्येऽर्थे हिमवत्समीकरणादिषु प्रवृत्तेः। तस्मादनर्थकं तदभिधानम्। तद्भावे भावादिति चेत्? स्यादेतत्—सत्सु जिज्ञासादिषु तत्त्वाधिगमं प्रति प्रवृत्तिर्भवति, असत्सु न भवति। तस्मादेतान्यपि साधनं भविष्यन्तीति। एतच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? अतिप्रसंगात्। सत्स्वात्मान्तःकरणेन्द्रियालोकविषयेषु प्रवृत्तिदर्शनात्तेषामपि साधनत्वं स्यात्। अनिष्टं चैतत्। तस्माज्जिज्ञासादयोऽनर्थकाः। प्रतिज्ञादयो दुर्विहिताः। कथम्? साध्याभिधायिनः प्रतिज्ञाभ्युपगमाद् हेतुदृष्टान्तयोरपि तत्प्रसङ्गः। साध्यावधारणस्यावय-वान्तरेष्वप्युपपत्तेः। यदि साध्यावधारणं प्रतिज्ञेत्युच्यते तेन साध्यस्य हेतोर्दृष्टान्तस्य वा यदवधारणं तदपि प्रतिज्ञा (त्वं) प्राप्नोति, निमित्ताविशेषात्। साध्यशब्दो ह्ययं सामान्यवृत्तिः। न यत्नमन्तरेण विशेषेऽवस्थापयितुं शक्यत इति। किञ्च हेतुलक्षणानुपपत्तिश्च साधना-ऽनुपदेशात्। यो हि साधनसमासवचनं हेतुरित्येतल्लक्षणमाचष्टे तेन प्राक्साधनमभिधेयं स्यात्। ततो वक्तव्यममुष्य समासवचनं हेतुरिति। न चैवमुक्तम्। तस्मादलक्षणमेतत्। किञ्चान्यत्, समासवचनं च विस्तरनिषेधप्रसङ्गात्। यदि हि समासग्रहणं क्रियते किं प्राप्तं योऽयमाध्यात्मिकानां भेदानां कार्यकारणात्मकानां चैकजातिसमन्वयो दृष्ट इत्येवमादिः साधनप्रपञ्चः, सोऽहेतुरित्युक्तं भवति। तस्मात् समासग्रहणमनिष्टम्। लिङ्गाभिधानाददोष इति चेत्? स्यान्मतम्; लिङ्गं हि नः साधनम्। तस्यात्र निर्देशः कृतः। तस्मात्स्वमति-जाड्यादिदमनिष्टमध्यारोप्यते, न त्वस्मत्प्रमादादिति। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? तस्य द्विधा भिन्नस्य पञ्चधा साधनभावात्। तद्धि लिङ्गं वीतावीतत्वेनेष्टम्। तेन द्विधा

भिन्नम्। तत्रापि वीतः पञ्चप्रभेदः इत्यतः समुदायान्निष्कृष्टस्यैकस्य लिङ्गत्वमशक्यं वक्तुमिति। किञ्चान्यत्, दृष्टान्तलक्षणायोगश्च, शब्दार्थलक्षणेऽनिष्टप्रसंगात्। तन्निदर्शनं दृष्टान्त इति। अत्र शब्दो वा येन साध्यसाधने निदर्श्येते स दृष्टान्तः स्यात्? अर्थो वा यत्र निदर्श्यते? किञ्चातः? तद्यदि तावच्छब्द परिगृह्यते तत उपनयलक्षण बाध्यते। कस्मात्? न हि यथाऽभिधानं तथा साध्यमित्येकक्रिया युज्यते इति। अथार्थः परिगृह्यते तेनाभिधेयस्य वाक्यानवयवत्वात्पञ्चावयवत्वविरोधः। किञ्चान्यत्—दृष्टान्तोपनयनिगमनाऽभेदश्च हेतु-प्रतिज्ञार्थाभिधानात्। साधनत्वमेव साध्याविनाभावित्वलक्षणं दृष्टान्तोपनययोः प्रत्याख्यते। प्रतिज्ञार्थञ्च निगमनस्य नावयवान्तरत्वं युज्यते।

उच्यते – यदुच्यते स्वनिश्चयेनाङ्गभावगमनात्परप्रत्यायनार्थं जिज्ञासाद्यनभिधानमिति। अत्र ब्रूमः न, उक्तत्वात्। उक्तमेतत् पुरस्ताद्व्याख्याङ्गं जिज्ञासादयः। सर्वस्य चानुग्रहः कर्तव्य इत्येवमर्थं विपश्चिद्भिः प्रतायते, न स्वार्थं स्वसदृशबुद्ध्यर्थं वा। तत्रैवं कल्प्यमाने ये व्युत्पाद्यास्तान्प्रति नैवैषामानर्थक्यम्। अथैतदनिष्टम् - यदुक्तं सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नबुद्ध्यनुग्रहार्थो हि सतां विनिश्चयः शास्त्रकथेत्यस्य व्याख्यातः। किञ्च नियमाऽनभ्युपगमात्। न हि वयमेषामावश्यकमभिधानमाचक्ष्महे, किन्तर्हि यदा प्रतिवादी पर्यनुयुङ्क्ते—किं जिज्ञाससे इति, अवश्यमभिधानीयं शब्दमिति। केन धर्मेण, किं नित्योऽनित्य इति? कुतः संशयः? मूर्तत्वात्। यस्तु न पर्यनुयुङ्क्ते न तं प्रत्येते वाच्याः। क्वचिदानर्थक्यात् सर्वत्र प्रसङ्ग इति चेन्न, इतरेषामपि तत्प्रसंगात्। प्रतिज्ञादीनामपि तर्हि क्वचिदनभिधानमतस्तेषामपि सर्वत्रावचनं प्रसज्यते। तथा च भवतोक्तं कस्यचित्तु किञ्चित् प्रसिद्धमेव भवतीत्यन्यतरोक्तिरपि साधनं भवति, शब्द इवार्थद्वयप्रतीतत्वादुभयानभिधानमिति। यदप्युक्तं निश्चितत्वात् संशयावचनमिति, असदेतत्। कस्मात्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत् सति पर्यनुयोगे तद्वचनमिति। एतेन प्रयोजनशक्यप्राप्ती प्रत्युक्ते। यो हि पर्यनुयुञ्जीत किं प्रयोजनोऽयं शक्यो वाऽयमर्थ इति तं प्रति वाच्यमेतत्। यदप्युक्तं तद्भावे भावादिति—न, अनभ्युपगमात्। न ब्रूमो यस्मात् सत्सु जिज्ञासादिषु तत्त्वाधिगमसद्भावस्तस्मादेतेषामवयवत्वमिति। किन्तर्हि यं प्रत्येषां प्रतिपत्तावङ्गभावगमनं तं प्रत्येतानि साधनमिति। यदप्युक्तं साध्याभिधायिनः प्रतिज्ञाभ्युपगमाद्धेतुदृष्टान्तयोरपि तत्प्रसंग इति, अयुक्तमेतत्। कस्मात्? जिज्ञासादेः सद्भावे सति तत्प्रतीतेः। यद्यपि साध्यशब्दोऽयमविशेषेण सिद्धत्वादर्थान्तरमाचष्टे तथापि यं प्रति जिज्ञासा-संशय-प्रयोजन-शक्यप्राप्तयस्तस्य व्युदस्य संशयं साध्यस्यावधारणं प्रतिज्ञा, न हेतुदृष्टान्तयोस्तदस्तीत्यसदेतत्। किञ्चान्यत् तद्भावेऽविरोधात्। यदा तु जिज्ञासादयो हेतौ दृष्टान्ते वा भवन्ति तदा किं कृतकः शब्दोऽथ न कृतकोऽथ बुद्धिर्नित्या क्षणिका वेति भवत्येव तदवधारणं प्रतिज्ञा। यदप्युक्तम्—साधनानुपदेशाद्धेतुलक्षणायोग इति, असदेतत्। कस्मात्? लोकप्रसिद्धत्वात्। यथा साध्यवत्त्वेनेप्सितः पक्ष इति प्रतिज्ञालक्षणमाचक्षाणो

भवान्न साध्यलक्षणमाचष्टे, कस्मात् ? साधनीयं साध्यमिति लोके सिद्धत्वात्, एवं साधनसमासवचनं हेतुलक्षणमाचक्षाणा वयं न साधनमाचक्ष्महे। कस्मात् ? साध्यतेऽनेनेति कृत्वा साधनमिति लोके सिद्धत्वात्। उपेत्य वाऽनुमाननिर्देशात्। लिङ्गं हि नः साधनं, तच्च निर्दिष्टमिति। यत्तूक्तं वीतावीतभेदे सति पञ्चधा साधनभावादिति, अत्र ब्रूमः— अयुक्तमेतत्। कस्मात् ? समासग्रहणसामर्थ्यात्। अतएव समासग्रहणं क्रियते, साधनस्वरूपाभिधानमात्रं हेतुरिति यथा विज्ञायते। प्रपञ्चस्त्ववयवान्तराणीति। एतेन विस्तरप्रतिषेधप्रसङ्गः प्रत्युक्तः। कथम् ? न हि समासशब्दस्यायमर्थ इति कृत्वा। यत्पुनरेतदुक्तं शब्दार्थकल्पनेऽनिष्टप्रसंगाद् दृष्टान्तलक्षणायोग इति, अस्तु तावच्छब्दो दृष्टान्तः। यत्तूक्तम्–उपनयलक्षणं बाध्यत इति अनुपपन्नमेतत्। कस्मात् ? असम्भवे सति सम्बन्ध्यन्तरे कार्यविज्ञानात्। शब्देऽसम्भवादर्थे कार्यं विज्ञास्यामः। अथवा पुनरस्त्वर्थो दृष्टान्तः। यत्तूक्तमभिधेयस्य वाक्यानवयवत्वात्पञ्चावयवत्वविरोध इत्यर्थेऽसम्भवाच्छब्दे कार्यं विज्ञास्यामः। यदप्युक्तं प्रतिज्ञाहेत्वर्थाभिधानाद् दृष्टान्तोपनयनिगमनानां नावयवान्तरत्वमिति, अयमदोषः। कस्मात् ? अप्रतिज्ञानात्। न ह्येतदस्माभिः प्रतिज्ञायते। किं तर्हि प्रमेयवचनं प्रतिज्ञा। प्रमाणरूपमात्रवचनं हेतुः। तस्य प्रमेयसहभावित्वनिदर्शनं दृष्टान्तः। साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मसामान्यादेकक्रियोपसंहार उपनयः। समुदायस्य साध्यसिद्धये व्यापारनिर्देशो निगमनम्। तस्मादयुक्तमेतत्। किञ्चान्यत्। एकस्य साधनभावपरिकल्पनावत्तत्परिकल्पने दोषाभावात्। यथा वाक्यम् एवं च तदर्थश्च मुख्यौ शब्दार्थौ, तयोरभिन्नार्थत्वादित्यभ्युपगमादेकमेवार्थमभागमक्रमं च बुद्धाववस्थाप्य श्रोत्रग्राह्यत्वानित्यत्वकृतकत्वप्रमेयत्वादिलक्षणानां शक्तीनामपोद्धारात्साध्यसाधनसंशयरूपापन्नं वक्तारो भिन्नमाचक्षते, न चैकार्थधर्मत्वात्साध्यसाधनसंशयाभिधानानामेकत्वमनुषज्यते। तथैकस्य साधनस्य साध्यधर्मतत्सहभावित्वलक्षणानां शक्तीनामभिधानं हेतुदृष्टान्तादिनाऽवयवान्तरं नः स्यात्। तत्र यदुक्तं प्रतिज्ञाहेत्वर्थाभिधानाद् दृष्टान्तोपनयनिगमनानां नावयवान्तरत्वमिति, एतदद्दुक्तम्। तस्मात्सूक्तं दशावयवो वीतः।

तस्य पुरस्तात्प्रयोगं न्याय्यमाचार्या मन्यन्ते। किं कारणम् ? अवीतलक्षणविरोधात्। अवीतस्य हि लक्षणं परिशेषतः साध्यानुग्रहः। तत्रान्वयादिना स्वरूपेणाधिगते प्रधानलक्षणे धर्मिणि परपक्षप्रतिषेधमात्रेणोपसंहारे क्रियमाणे परिशेषलक्षणं बाध्यते। कस्मात् ? इह प्रतिषेधमात्रमादावुच्यते। तेन यथा हेतुविरोधात्परमाण्वादिभ्यो न व्यक्तमुत्पद्यते तथा हेत्वभावात् प्रधानादपि नोत्पद्यते इति शक्यं कल्पयितुम्। अतस्तद्व्यवच्छेदोपि चावीताद् गम्यते। तथा सति कः परिशेषः स्यात् ? स्वरूपेण तु परिच्छिन्ने धर्मिणि उपसंहारो यथावदवकल्प्यते। न चेत्परमाण्वादिभ्यो व्यक्तमुत्पद्यते, परिशेषतः प्रधानादेव व्यक्तमुत्पद्यते इति यथोक्तेभ्योऽन्वयादिभ्य इत्युक्तं भवति। तस्मात्प्राग्वीतप्रयोग इति सिद्धं सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणामर्थानां समधिगम इति।

आह—न, कारणान्तरतोऽनुपलभ्यमानानामग्रहणात् । यदि सामान्यतोदृष्टादनुमानात्सर्वं परोक्षमधिगम्यते प्राप्तमिदं येषामप्यर्थानां कारणान्तरतोऽनुपलब्धिस्तेषामपि तस्मादेव ग्रहणम् । तद्यथा —

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

तत्रातिदूरात्तावत् तद्यथा प्रोड्डीनस्य शकुनेः । अतिसामीप्यादञ्जनप्रभृतीनाम् । इन्द्रियघाताच्छब्दादीनाम् । मनोऽनवस्थानाच्छकटादीनाम् । सौक्ष्म्यात्त्रुट्यादीनाम् । व्यवधानाद्धिरण्यादीनाम् । अभिभवात्सूर्यप्रकाशाद् ग्रहादीनाम् । समानाभिहारादनेकप्रदीपप्रभाणां चशब्दादैश्वर्ययोगाद्देवादीनाम् । न चार्हति भवितुं धर्मसामान्यानुपपत्तेः । तस्मादयुक्तं सर्वमतीन्द्रियमनुमानग्राह्यमिति । उच्यते शक्यं तावत्कारणान्तरतोऽनुपलभ्यमानं किञ्चित्सामान्यतोदृष्टादनुमानादधिगन्तुम् । तद्यथा समीपावस्थितस्य शकुनेरयत्नेन चक्षुषा ग्रहणं, यथा यथा तु विप्रकर्षं प्रतिपद्यते प्रणिधाय चक्षुर्गृह्यते तावद्यावत्क्रमेणादर्शनमुपसंप्राप्तः । तत्र देशविप्रकर्षे प्रचीयमानेऽदर्शनमुपचीयमानमवगम्यात्यन्तादर्शनमपि पश्चात्तद्धेतुकमनुमीयते । तथा नातिसमीपावस्थितस्य द्रव्यस्यास्फुटमाकारमवधार्य पश्चाद्यथा यथारादुपसंपद्यते तथा तथा प्रतिपद्यमानदर्शनशक्त्योऽनुमातारः कृष्णसाराञ्जनप्रभृतीनामग्रहणमतिसामीप्यादनुमिमते । तथा गिरिसरित्समुद्रसमीपवर्तिनं श्रवणप्रतिघातिनं प्राक् शब्दमुपलभ्य पश्चात्तस्मिन्नेव देशे शब्दमह्लानाः श्रवणोपघातमनुमिमते ।

तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्साध्यम् ॥ ६ ॥

तस्मादपि चासिद्धमित्यनेनागमविषये सामान्यतोदृष्टस्यानवतारमाचष्टे । परोक्षमिति विषयं प्रति निर्दिशति । आप्तागमात्साध्यमिति विषयिणमाह । एतदुक्तं भवति—तस्मादपि सामान्यतोदृष्टादनुमानाद्यन्न सिद्धयति प्रत्यक्षग्राह्यमपि स्वयमदृष्टं कारणान्तरप्रतिबद्धविषयभावमत्यन्तपरोक्षं वा स्वर्गापवर्गदेवतादि- धर्मसामान्यरहितं तदाप्तागमात्साध्यम् । सर्ववादसिद्धिप्रसङ्गादप्रामाण्यमिति चेत् स्यादेतत्, यदि तर्ह्यागमः प्रमाणीक्रियते तेन प्रतिशास्त्रं येऽभियुक्तास्तेषां प्रामाण्यमित्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । एवं सति सर्वाचार्यप्रामाण्यादनेकविकल्पविचित्रा तर्कवृत्तिरित्यपरिनिश्चितत्वाद् भ्रान्तिः प्रसज्येत । तथा च सति जिज्ञासूनामपवर्गप्राप्तिविघातः स्यात् । तस्माद् भिषजेव भवता परोपदेशः प्रयुक्तो नास्मानयं प्रीणाति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? आप्तलक्षणस्यानवधारितत्वात् । व्यपगतरागादिदोषाणामसन्दिग्धमतीनामतीन्द्रियार्थदृश्वनामीश्वरमहर्षीणामाप्तत्वमाचक्ष्महे, न सर्वेषाम् । यदि चान्योप्येवंधर्मोऽस्ति भवतु प्रमाणम् । किञ्चान्यत् । स्वविषये च तत्प्रामाण्यस्यादोषवत्त्वात् । यस्य खल्वपि यो विषयस्तस्य तस्मिन्विषये वचोऽन्तरेणापि साधनं प्रमाणमित्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम् ।

इतरथा प्रतिशास्त्रमाचारस्थितिनियमानामदृष्टार्थानामप्रतिपत्तिः स्यात् । एतेनाखिललिङ्गादागमोऽर्थान्तरम् । यस्मान्महताभिधानेन युक्तिरन्विष्यते तस्माद्युक्त्यपेक्षाल्लिङ्गादागमोऽर्थान्तरमिति । आह न, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामधिगमहेतुत्वात् । यथा कृतकत्वादिर्धर्मोऽनित्यत्वादौ विषये दृष्टस्तदभावे चादृष्ट इत्यनित्येऽर्थे निश्चयमादधाति एवं शब्दोपि स्वार्थे दृष्टोऽन्यत्र तज्जातीये न दृष्टः प्रतिपत्तिहेतुर्भवति तस्मादनुमानादभिन्न एवायमिति । उच्यते — चन्द्रादिष्विदानीमसाधारणविषयेषु का प्रतिपत्तिः स्यादिति ? आह अवयवापेक्षत्वाच्चन्द्रशब्दो ह्यनेकेषु अवयवेषु वर्तते, जातिद्रव्यगुणक्रियासु च, तथा डित्थादिशब्दः, तस्मादेवंजातीयकानामपि चानुमानादभेदः । उच्यते स्वर्गादीनां तर्हि कथमनुमानत्वमिति । आह — आप्तवचोऽविसंवादसामर्थ्यात् । यथा हैरण्यकप्रभृतीनामाप्तानां वाक्यमव्यभिचारि एवमीश्वरमहर्षयोपि चाप्ताः । तस्मादेषामपि वाक्यमव्यभिचारीति शक्यमत्रापि सामान्यविषयत्वं कल्पयितुम् । एवमनुमानमेवमागम इति । उच्यते यदुक्तमन्वयव्यतिरेकाभ्यामधिगमहेतुत्वाच्छब्दोऽनुमानमिति अत्र ब्रूमः न, अप्रतिज्ञानात् । न हि वयं व्यवहारानुपातिनां वृक्षादीनामागमत्वमाचक्ष्महे, किं तर्हि स्वर्गादीनामत्यन्तपरोक्षविषयाणाम् । तस्मादप्रतिज्ञानादनुपालम्भोऽयमिति । उपेत्य वा वक्त्रपेक्षत्वात् । अथवोपेत्यापि सर्वशब्दानामागमत्वमनुमानादर्थान्तरभावं ब्रूमः । तथा हि कृतकत्वादिति लिङ्गं चण्डालकापालिकैरपि प्रयुज्यमानं साहचर्यापेक्षं निश्चयमादधाति । न वक्तृविशेषमपेक्षते । वक्तृविशेषापेक्षस्तु शब्दः । तस्मान्न लिंगम् । किं चान्यत् विपर्ययात् । न हि लिंगं देशान्तरे विपर्येति । शब्दस्य तु दृष्टो विपर्ययः । स एव हि शब्दो देशान्तरे, कालान्तरे तु स्वार्थं न प्रत्याययति अर्थान्तरं च प्रशंसति । सम्बन्धानुपलब्धेरिति चेत् स्यादेतत्, सम्बन्धान्तरं देशान्तरेऽनुपलक्षितम् । तस्माच्छब्दार्थविपर्यय इति । एतदनुपपन्नम् । लिङ्गवैधर्म्यात् । न हि प्रत्यक्षाभिमतस्य लिंगिन उपलब्धौ गवादेर्लिङ्गं नोपलभ्यते । शब्दस्तूपलभ्यमानो गवादौ नोपलभ्यते । तस्मान्न लिङ्गम् । किञ्चान्यत् । देशनियमात् । न हि लिङ्गस्य देशनियमो दृष्टः । अस्ति तु शब्दस्य देशनियमः । तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा काम्बोजेष्वेव भाष्यते । रंहतिः प्राच्येषु, तथा दातिर्लवनार्थो दात्रमुदीच्येषु नान्यत्र[1] । तस्मान्न शब्दो लिङ्गम् । किञ्चान्यत्, इष्टतो विनियोगात् । स्वाभाविकं लिङ्गम् । न हि धूमोऽग्नेरपकृष्य शक्यतेऽप्सु वायावाकाशेऽन्यत्र वा निवेशयितुम् । शब्दस्तु यत्र यत्र वक्तुरभिप्रायस्तत्र तत्र विनिवेश्यते । यथा वृद्ध्यादयः शब्दाः स्वार्थाभ्युच्चयादिषु प्रसिद्धा आदैक्षु[2] विनिवेश्यन्ते । तस्मान्न ते लिङ्गम् । सर्वाभिधानशक्तित्वाच्छब्दस्यादोष इति चेत् स्यान्मतं सर्वाभिधानशक्तिः शब्दः सर्वाभिधेयशक्तिश्चार्थस्तयोः पुरुषव्यापारेण शक्त्यवच्छेदः क्रियते । कथम् ? अयमेव शब्दोऽस्यार्थस्य प्रत्यायको भवतु । अयमेव चार्थोऽनेन शब्देनाभिधीयताम् । एतावति पुरुषव्यापारः । तस्माच्छब्दस्य

---

१. म० भा० १।१।१ ।

२. 'वृद्धिरादैच्' पा० सू० १।१।१ ।

स्वाभाविकः सम्बन्धो वक्त्रपेक्षया व्यज्यत इति । एतदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? सुतरामनुमानादर्थान्तरत्वप्रसंगात् । एवमपि कल्पयित्वाऽनुमानात्सुतरां शब्दस्यार्थान्तरत्वमापद्यते । कस्मात् ? न हि यथा वक्त्रपेक्षया सर्वार्थस्य सतः शब्दस्य शक्त्यवच्छेदस्तथा सर्वार्थं लिङ्गं वक्त्रपेक्षयार्थान्तिरादवच्छिद्यते । यथा चैकः शब्दो जगत्येवमुदितः पुरुषविनियोगापेक्षः सर्वमर्थमभिधातुं समर्थस्तथैकं लिङ्गं कयाचिद्युक्त्या सर्वार्थप्रत्यायनसमर्थम् । तस्मान्न शब्दो लिङ्गम् । यत्पुनरेतदुक्तं चन्द्रादीनामवयवापेक्षं सामान्यमभ्युपगम्यते । तदयुक्तम् । असाधारणत्वात् । अनुमानाभावे शब्दप्रसिद्धोऽर्थ इति व्याघातः । किञ्चान्यत् । जात्यादिसाध्यत्वात् । जातिगुणद्रव्यक्रियाणां च परस्परतोऽर्थान्तरत्वं, समुदायश्च साध्यः । तस्मादयुक्तमेषां तदपेक्षया सामान्यविषयत्वम् । यदप्युक्तमाप्तवादाविसंवादसामान्यात्स्वर्गादिशब्दानामनुमानत्वमिति, अत्र ब्रूमः एतदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? प्रमाणविषयत्वात् । सत्यमस्त्येषां सामान्यपरिकल्पना, सा तु प्रमाणविषया न तु प्रमेयविषया । प्रमेयं तु सामान्यमनुमानस्येत्ययमभ्युपगमो वः । तच्चासाधारणत्वात्स्वर्गादीनां प्रतिषिद्धम् । तस्मात्यज्यतामियमाशङ्काऽनुमानमेवागम इति । अन्यः पुनरनुमानागमयोरभेदप्रतिज्ञ इदमाह । स्वर्गादयः शब्दा न प्रमाणम् । कस्मात् ? प्रमाणान्तरेण तदर्थानुपलब्धेः । यस्य हि शब्दस्यार्थः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा नोपलभ्यते स न प्रमाणम् । इतरस्तु प्रमाणम् । तद्यथा नद्यास्तीरे पक्वमाम्रवनं, पथि गुडशकटं विपर्यस्तमिति । न च स्वर्गादिशब्दानामर्थः प्रमाणान्तरेणोपलभ्यते । तस्माद्यथा विभुरात्मा, सर्वत्र सुखादिसम्भवादित्येवमादयो बौद्धं प्रति धर्म्यसिद्धत्वादयो यथार्थास्तथा वेदशब्दा अपि प्रायेणेति । एतत्तु न युक्तरूपम् । कस्मात् ? अन्यायेन सर्वशब्दापवादात् । का ह्यत्र युक्तिर्यदस्मदादिभिरनुपलभ्यमानार्थं प्रमाणभूतानामपि वाक्यमयथार्थं स्यात् ? सर्वेण चावश्यं कश्चिदाप्तस्तस्य च वाक्यमदृष्टार्थमित्यभ्युपगन्तव्यम् । अतोऽयं तवात्रापि समानः प्रसंगः । न च प्रमाणं स्वार्थसिद्धये प्रमाणान्तरमपेक्षते । तत्र यदि शब्दस्य प्रमाणान्तरापेक्षं यथार्थत्वमाश्रीयते तेन न केवलं स्वर्गादयः किं तर्हि शब्दा एवाऽप्रमाणमिति प्राप्तम् । अनुमानस्य च प्रमाणान्तरनिरपेक्षस्य गमकत्वाभ्युपगमादागमस्य ततोऽर्थान्तरत्वं सुतरां प्रसज्यते । तस्माद्युक्तागमविरोधिन एवंविधा नास्तिकवादाः श्रेयोऽर्थिभिर्दूरादपोह्या इति स्थितमेतत्—अनुमानादसिद्धं वस्तु यत्तदाप्तागमात्साध्यमिति ।

एवमस्य त्रिविधस्य प्रमाणस्यैन्द्रियिकं कारणान्तरतोऽनुपलभ्यमानं च प्रमेयं व्याख्यातम् । एतस्मात्तु यदन्यत्तदसदिति प्रत्यवगन्तव्यम् ॥ ६–७ ॥

त० प्र०—यदि प्रकृतिपुरुषौ स्त, तर्हि कस्मान्न तयोरुपलब्धिरिति जिज्ञासायामुच्यते—

अर्थः—यदि प्रकृति और पुरुष हैं तो किस कारण से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहते हैं—

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

अन्वयः—अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थानात्, सौक्ष्म्यात्, व्यवधानात्, अभिभवात्, समानाभिहारात्, च, (पदार्थस्य, अनुपलब्धिः)॥ ७ ॥

शब्दार्थः— अतिदूरात् = अत्यधिक दूर होने से, सामीप्यात् = समीप होने से, इन्द्रियघातात् = इन्द्रियों के नाश होने से, मनोऽनवस्थानात् = मन की चञ्चलता से, सौक्ष्म्यात् = सूक्ष्म होने से, व्यवधानात् = बीच मे किसी रुकावट के आ जाने से, अभिभवात् = (प्रबल के सामने) तिरस्कृत हो जाने से, च = तथा, समानाभिहारात् = एक जैसी वस्तुओं में मिल जाने से, च = भी, प्रदार्थस्य = पदार्थ का, अनुपलब्धिः = प्रत्यक्ष नहीं होता है ॥ ७ ॥

अर्थः—अत्यधिक दूर अथवा समीप होने से, इन्द्रियों के नाश तथा मन की चञ्चलता से, सूक्ष्म होने से, बीच में किसी रुकावट के आ जाने से, अभिभूत (तिरस्कृत) हो जाने से, और एक जैसी वस्तुओं में मिल जाने से (भी पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता) ॥७॥

त० प्र० अत्र वर्तमानानाम् अर्थानाम् अष्टधा उपलब्धिः न भवति तद्यथा— सुदूरे आकाशे उत्पतन् पक्षी सन्नपि प्रत्यक्षेण न उपलभ्यते । सुदूरे देशे वर्तमानः अपि स्वजनः न उपलभ्यते । सामीप्यादित्यत्राप्यतिरनुवर्तनीयः । यथा नेत्रस्थमप्यञ्जनम् अतिसामीप्यात् न अवलोक्यते । इन्द्रियघातादपि समीपस्थस्यापि वस्तुनः अनुपलब्धिः, यथा—बधिरान्धयोः शब्दरूपानुपलब्धिः । मनोऽनवस्थानात् मनसः व्यग्रतयेत्यर्थः—यथा व्यग्रमनाः सम्यक्कथितमपि नावधारयति । महाकवेः शाकुन्तले दुष्यन्तविरहव्याकुला शकुन्तला दुर्वाससः उच्चै कथितमपि न श्रृणोति । सौक्ष्म्यात् - यथा चक्षुःसमीपस्थं परमाण्वादि कृतेऽपि प्रयत्ने चक्षुषा न पश्यति । व्यवधानात्—यथा कुडयेन अन्तरितं वस्तु नोपलभ्यते । अभिभवात्—यथा सूर्यतेजसा अभिभूताः ग्रहाः नावलोक्यन्ते । समानेषु सदृशेषु अभिहारः मेलनं तस्मात् समानाभिहारात्—यथा कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते, धान्यराशौ धान्यं नोपलभ्यते जलाशये जलबिन्दवश्च नोपलभ्यन्ते, । एवमष्ट-प्रकारेण वर्तमानस्यापि वस्तुनः उपलब्धिः न भवति । अतः नैतद्वक्तुं शक्यते यदनुपलम्भात् प्रकृतिपूरुषौ न स्तः । चकारोऽत्राऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन अनुद्भवोऽपि ज्ञेयः । तद्यथा सुवर्णावस्थायां कटककुण्डलादीन् न पश्यति ॥ ७ ॥

टिप्पणी—सामीप्यात् - आँख का काजल अति समीप में होने से नहीं दिखलायी पड़ता ।

इन्द्रियघातात्—बहरे को शब्द तथा अन्धे को रूप की उपलब्धि नहीं होती ।

मनोऽनवस्थानात् मन की व्यग्रता के कारण ही शकुन्तला ने दुर्वासा के शाप को नहीं सुना था।

अभिभवात्—सूर्य के तेज से तिरस्कृत हो जाने के कारण वर्तमान भी ग्रहनक्षत्र नहीं दिखलायी पड़ते।

समानाभिहारात् जलाशय में गिरी हुई वर्षा की बूँदें अलग से नहीं देखी जा सकती हैं॥ ७॥

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धिः[1]।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपञ्च॥ ८॥

अन्वयः—सौक्ष्म्यात्, तदनुपलब्धिः, अभावात्, न; कार्यतः, तदुपलब्धिः; तत्, कार्यम्, महदादि; (तत्), प्रकृतिविरूपम्, सरूपम्, च, (वर्तते)॥ ८॥

शब्दार्थः—सौक्ष्म्यात् = सूक्ष्म होने के कारण, तदनुपलब्धिः = प्रकृति तथा पुरुष आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता; अभावात् = अभाव के कारण, न = नहीं; कार्यतः = कार्य से (परिणाम से), तदुपलब्धिः = उसका (प्रकृति का) ज्ञान होता है; तत् = वह, कार्यम् = कार्य (परिणाम), महदादि = महत्तत्व (बुद्धि) आदि (ही है), (तत् = वह कार्य), प्रकृतिविरूपम् = प्रकृति के असमान, (तथा) सरूपम् = समान, च = भी (है)॥ ८॥

अर्थः—सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति तथा पुरुष आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता, अभाव के कारण नहीं। कार्य से (निकले हुए तत्त्वों से) प्रकृति का ज्ञान होता है, अर्थात् उसके कार्यों को देखकर उसका अनुमान किया जाता है। (प्रकृति का अनुमान कराने वाला) वह कार्य बुद्धितत्त्व आदि है। यह कार्य अर्थात् बुद्धि आदि प्रकृति के समान भी है और उसके असमान भी॥ ८॥

त० प्र०- अभ्युपगम्यते प्रकृतिपुरुषयोः सत्ता। परञ्च केन हेतुना एतयोः अनुपलब्धिः? इत्याशङ्क्य उच्यते - सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मभावात्, तयोः प्रधानपुरुषयोः अनुपलब्धिः अप्रत्यक्षमिति तदनुपलब्धिः। सन्तौ अपि प्रकृतिपुरुषौ सूक्ष्मत्वात् न दृश्येते, न अभावात् न तु सत्ताराहित्यादित्यर्थः। कुतः? कार्यतः कार्यं विलोक्य कार्यद्वारा वा, तदुपलब्धिः— 'तत्' इति पदेन प्रधानं परामृशति। पुरुषोपलब्धौ तु प्रमाणकथनमग्रे सप्तदशकारिकया (का० १७) भविष्यति। तस्य प्रधानस्य उपलब्धिः ज्ञानं भवति। कार्यं दृष्ट्वा कारणस्यानुमानं तु स्वाभाविकमेव। महदादि पृथिव्यन्तं कार्यं विलोक्य अनुमिनोति— अस्ति प्रधानं कारणं यस्येदं कार्यमिति। येन प्रधानम् अनुमीयते तत् कार्यं महदादि

१—तदुपलब्धेः—सांख्यतत्त्वकौमुदी।

बुद्ध्यहङ्कारादि एव वर्तते। तत् कार्यं प्रकृतिविरूपम्—प्रकृतिः प्रधानं तस्याः विरूपम् असदृशम्; सरूपं तुल्यावस्थञ्च अस्ति। लोकेऽपि अवलोक्यते पुत्रः पितुः तुल्योऽतुल्यश्च। येन हेतुना तुल्यमतुल्यञ्च तदग्रे दशम्या एकादश्या च कारिकया वक्ष्यति ॥ ८ ॥

टिप्पणी—तदुपलब्धिः—इस वाक्य में आया हुआ 'तत्' पद केवल प्रकृति का ही बोध कराता है, पुरुष का नहीं। पुरुष की सिद्धि के लिये सत्रहवीं कारिका में अलग से प्रमाण देंगे ॥

प्रकृतिविरूपं सरूपञ्च–बुद्धि से लेकर पृथिवी तक के कार्य कुछ अंशों में कारणरूप प्रकृति के समान हैं और कुछ अंशों में विपरीत। इसे आगे स्पष्ट करेंगे।

विशेष–कार्य को देखकर प्रकृति के अनुमान की इस प्रक्रिया में सबसे पहले स्थूल भूतों का ही प्रत्यक्ष होता है। उनसे तन्मात्राओं का, तन्मात्राओं से अहङ्कार का, अहङ्कार से बुद्धि का और बुद्धि से प्रकृति का अनुमान किया जाता है। अन्यथा बुद्धि स्वयं अनुमेय होने के कारण प्रकृति के अनुमान में एकाएक सीधे कारण नहीं बन सकती ॥ ८ ॥

युक्ति॰—आह—यद्येवं प्रधानस्यासत्त्वप्रसङ्गः। अनुपलब्धौ कारणान्तरत्वानुपलब्धेः। तद्धि प्रत्यक्षाविषयत्वे सत्यतिदूरादिभिरनुपलब्धिकारणैर्नोपलभ्यते। तत्र तावत् अतिदूरात्सामीप्याद्व्यवधानाच्चास्याऽग्रहणम्। कस्मात्? विभुत्वात्। नेन्द्रियघातात्, अविकलेन्द्रियैरग्रहणात्। न मनोऽनवस्थानात्, अवस्थितमनोभिरग्रहणात्। न सौक्ष्म्यात्, शशविषाणादीनां सत्त्वप्रसङ्गात्। नाभिभवात्, असम्भवात्। न समानाभिहारादेकत्वात्। तस्मात् कारणान्तराभावतोऽनुपलभ्यमानस्यासत्त्वमिच्छतः प्रधानस्यापि शशविषाणवदसत्त्वप्रसङ्गः। अथैतन्नेष्यते कारणान्तरं तर्ह्यनुपलब्धौ वक्तव्यमिति। उच्यते—यत्तावदुक्तं अनुपलब्धौ कारणान्तरानुपपत्तेः प्रधानस्यासत्त्वप्रसंग इति अत्राऽस्तु—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्

यत्तूक्तं शशविषाणादिवदसत्त्वप्रसङ्ग इति तदयुक्तम्। कस्मात्? साधनोपपत्तेः। अस्ति हि प्रधानस्य सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धौ साधनं न शशविषाणादीनाम्। किं तत्? उच्यते

कार्यतस्तदुपलब्धिः।

प्रधानस्य हि कार्यत उपलब्धिरित्येतदुपरिष्टात्प्रतिपादयिष्यामः। न तु शशविषाणादीनां कार्यमस्ति। तस्माद्विषमोऽयमुपन्यासः।

आह—एवमपि प्रतिज्ञान्तरानर्थक्यम्, एकेन कृतत्वात्। सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिरित्युक्ते गम्यत एतन्नाभावादिति। तस्मात्तद्वचनमनर्थकमिति। उच्यते—न, वीतावीतपरिग्रहार्थत्वात्। एवं सिद्धे यत्प्रतिज्ञाद्वयं करोति तत् ज्ञापयत्याचार्यः वीतावीताभ्यामभिप्रेतार्थसिद्धिः। प्राक्च सौक्ष्म्यातिशयात्तदनुपलब्धिरित्याचक्षाणः प्रतिपादयति पुरस्ताद्वीतः प्रयोक्तव्य इति। एकस्मिंश्च विषये द्वौ प्रयुञ्जानः समुच्चयेन सिद्धिं द्योतयति। किं सिद्धं

भवति ? यदुक्तं तन्त्रान्तरीयैः न पृथक्प्रतिपत्तिहेतू वीतावीताविति तदिष्टमेवं संगृहीतं भवति । तत्र वीतस्य प्रतिज्ञा सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः । तस्य चावीतस्य प्रसंगिधर्मान्तरनिवृत्तिरूपेण, नाभावात् हेतुरुभययोगी । कथम् ? यस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्य कार्यतस्तदुपलब्धिस्तस्य सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्दृष्टा । तद्यथेन्द्रियाणि । यदि पुनरस्याभावादनुपलब्धिः स्यात्, कार्यतोऽनुपलब्धिप्रसङ्गः । अस्ति चेयं कार्यत उपलब्धिः । तस्मान्नाऽभावात् । न चेदभावात्, परिशेषतः सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिरिति ।

आह किं पुनस्तत्कार्यं यद् भवान्प्रधानस्यास्तित्वे लिङ्गमाचष्ट इति ? उच्यते—

महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपं च ॥ ८ ॥

तद्धि महदहंकारेन्द्रियविशेषाविशेषलक्षणं कार्यं प्रधानेन विसदृशं सदृशं चेत्युपरिष्टात्प्रतिपादयिष्यामः । आह प्रस्तावाभावादयुक्तमेतत् । किं पुनरधिकृत्येदमुच्यते प्रकृतिविरूपं सरूपं च महदादि कार्यमिति ? उच्यते—व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षोऽवाप्यत इत्येतत्प्रकृतम् । एतानि च परस्परवैधर्म्यसाधर्म्यप्रतिपत्तिमन्तरेण न शक्यानि विज्ञातुमित्येवमर्थमिदं प्रस्तूयते । तस्मान्नाकस्मिको वैरूप्यसारूप्योपन्यास इति ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीयुक्तिदीपिकायां सप्ततिपद्धतौ द्वितीयमाह्निकम् ॥

त० प्र०—येन कार्येण प्रधानम् अनुमिनोसि, तत् किं प्रधाने सदुदाहोस्विदसत् ? इत्याशङ्कायामुच्यते —

अर्थः—जिस कार्य के द्वारा प्रधान का अनुमान करते हो, वह कार्य प्रधान में अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी अप्रकटरूप से रहता है अथवा नहीं ? ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं :—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—असदकरणात्; उपादानग्रहणात्; सर्वसम्भवाभावात्; शक्तस्य, शक्यकरणात्; कारणभावात्; च, कार्यम्, सत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—असदकरणात्=(कारण-व्यापार अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व भी कारण में) असत् या अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति के न होने से; उपादानग्रहणात्=(कार्य की उत्पत्ति के लिये उसके) उपादान (वह कारण जिसकी सत्ता के विना कार्य मूर्त रूप नहीं धारण कर सकता, जैसे—घट रूप कार्य में मिट्टी का पिण्ड उपादानकारण है) कारण के ग्रहण करने से; सर्वसम्भवाभावात् = सभी कार्यों के सभी कारणों से उत्पन्न न होने से; शक्तस्य समर्थ (कारण) के, शक्यकरणात्=उत्पत्तियोग्य (संभव) कार्य के करने से; कारणभावात्-कार्य में कारणात्मकता अर्थात् कारण से अभिन्नता के होने से;

च=भी; कार्यम्=कार्य (अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में), सत्=(अप्रकट रूप से) वर्तमान रहता है ॥ ६ ॥

अर्थः—(कारण-व्यापार, अर्थात् उत्पत्ति के, पूर्व भी कारण में) असत् या अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति के न होने से; (कार्य की उत्पत्ति के लिये उसके) उपादान कारण के ग्रहण करने से; सभी कार्यों के सभी कारणों से उत्पन्न न होने से; जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है, उससे केवल उसी कार्य की उत्पत्ति होने से; और कार्य में कारणात्मकता अर्थात् कारण से अभिन्नता के होने से भी कार्य (अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में) (अप्रकटरूप से) वर्तमान रहता है ॥ ६ ॥

त० प्र०—'असदकरणात्'—न सत् कारणव्यापारात् पूर्वं कार्ये अविद्यमानम् असत्, असतोऽकरणं तस्मात्—इह संसारे कारणव्यापारात् पूर्वं कार्ये अवर्तमानस्य वस्तुनः उत्पादः न भवति, यथा सिकताभ्यः तैलोत्पत्तिः। सिकताभ्यः तैलोत्पत्तिः न भवति, अपि तु तिलैः; कस्मात्? तिलेष्वेव तैलस्य वर्तमानत्वात् न च सिकतासु। तस्मात् सतः करणादस्ति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने बुद्ध्यादिकार्यम्, अतः कार्यं सत्। किञ्चान्यत्—'उपादानग्रहणात्',—उपादानानि कारणनानि तेषां ग्रहणात्। दृश्यते हि संसारे कार्यार्थी कार्यस्य उपादानमेव गृह्णाति, दध्यर्थी क्षीरमेव न तु जलम् अन्यत् किञ्चिद्वा। ग्रहणमत्र 'कार्येण सम्बन्धः' इति वाचस्पतिमिश्राः। इतश्च कारणव्यापारात् प्राक् कार्यं सत्—'सर्वसम्भवाभावात्'—सर्वेभ्यः कारणेभ्यः सर्वेषां कार्याणां सम्भवस्य उत्पत्तेः अभावात्, यथा सुवर्णाभूषणस्य रजतात् तृणेभ्यः वा उत्पत्तिः न भवति। अतः कार्यं सत्। इतश्च,—'शक्तस्य शक्यकरणात्'—शक्तस्य कार्यविशेषस्य उत्पत्तौ परिणामे समर्थस्य शक्यस्य सम्भवस्य उत्पाद्यस्य कार्यस्य करणात् कार्यं सत्। यथा घटादौ मृण्मये शक्तः मृत्पिण्डः शक्यमेव घटादिकं मृत्पात्रमेव उत्पादयति परिणमयति, न तु वलयं केयूरं वा। वस्त्रनिर्माणे समर्थाः तन्तवः वस्त्रमेव उत्पादयन्ति, न तु घटम् अन्यत्किञ्चिद्वा। अतः कार्यं सत्। इतश्च—'कारणभावात्'- कारणस्य कार्ये भावात् विद्यमानत्, अर्थात् कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। न हि लोके कारणाद्भिन्नं कार्यम् कुत्रचिद्दृश्यते। कारणं च सदिति, तर्हि कथं तदभिन्नं कार्यमसद्भवेत्? इत्थं पञ्चभिः कारणैः प्रधाने बुद्ध्यादि कार्यम् उत्पत्तेः प्रागपि अस्ति। तस्मात् सतः उत्पत्तिः, न असतः अविद्यमानस्येत्यर्थः इति ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) 'असदकरणात्'—यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण में न रहे तो बालू से भी तेल निकलना चाहिये, न कि केवल तिल ही से। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः कार्य सत् है अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कारण में वर्तमान रहता है।

(२) 'उपादानग्रहणात्'—दही खाने की इच्छावाला व्यक्ति दूध ही लेता है, न कि जल। क्योंकि दूध में ही दही है। जल में नहीं। अतः कार्य सत् है।

(३) सर्वसम्भवाभावात् - सुवर्ण के आभूषणों के चाँदी अथवा तृण आदि से न बनने के कारण यह मानना पड़ेगा कि वे (सुवर्ण के आभूषण) केवल सुवर्ण ही में हैं, न कि चाँदी या तृणों में। इस प्रकार सुतराम् यह सिद्ध हो जाता है कि कार्य सत् है।

(४) 'शक्तस्य शक्यकरणात्'—घड़ा, कसोरा आदि बनाने में समर्थ मिट्टी का पिण्ड घड़ा, कसोरा आदि ही बनाता है, न कि कटक केयूर आदि। क्योंकि उसमें कटक केयूर आदि नहीं रहते हैं। अतः कार्य सत् है।

(५) 'कारणभावात्' :—कार्य में कारणभाव रहता है अर्थात् कार्य कारणरूप होता है, न कि उससे भिन्न। कारण सत् होता है। अतः उससे अभिन्न कार्य भी सत् होगा।

विशेष—सत्कार्यवादी सांख्य के मत में कार्य उत्पन्न नहीं होता, और न वह (कार्य) उससे (कारण से) भिन्न ही होता है। किन्तु कारण का दूसरा रूप धारण करना ही कार्य है। अतः उत्पत्ति के स्थान पर परिणाम अर्थ करना चाहिये। समझने की सुगमता केलिये उत्पत्ति शब्द का प्रयोग किया गया है ॥ ९ ॥

युक्ति०—आह—आस्तां तावद्वैरूप्यसारूप्यचिन्ता। कार्यमिदमेव तावन्महदादि परीक्षिष्यामहे। किं प्रागुत्पत्तेरस्ति नास्तीति ? कुतः संशय इति चेत् स्यान्मतम्—असङ्गतार्थं प्रकरणान्तरमुपक्षिप्यते भवता। न चाविद्यमानसम्बन्धस्य संशयस्य प्रकरणान्तरेऽभिधीयमानस्य निर्णीतिं साध्वीमाचार्या मन्यन्ते। अवकाशाऽसम्भवादिति। उच्यते—अस्ति संशयावकाशः। कस्मात् ? आचार्यविप्रतिपत्तेः। प्रागुत्पत्तेः कार्यमसदित्याचार्याः कणादाक्षपादप्रभृतयो मन्यन्ते। सदसदिति बौद्धाः। नैव सन्नासदित्यन्ये। तस्मादुपपन्नः संशयः। तत्रेदानीं भवतः का प्रतिपत्तिरिति ? उच्यते। नाऽविद्यमानस्य महदादेर्विकारस्य प्रधानादाविर्भाव इति प्रतिजानीमहे। कस्मात् ? सन्निवेशविशेषमात्राभ्युपगमात्। न हि नः कारणादर्थान्तरभूतं कार्यमुत्पद्यत इत्यभ्युपगमः। किं तर्हि विश्वात्मकानां सत्त्वरजस्तमसामपगतविशेषाविशेषाः स(त)न्मात्रलक्षणोपचयाः प्रतिनिवृत्तपरिणामव्यापाराः परमविभागमुपसंप्राप्ता ;सूक्ष्माः शक्तयः। तासामधिकारसामर्थ्यादुपजातपरिणामव्यापाराणां स(त)न्मात्रानुक्रमेण प्रचयमुपसंपद्यमानानां सन्निवेशविशेषमात्रं व्यक्तम्। एतस्यां कल्पनायामसत उत्पत्तौ कः प्रसङ्ग इति ? एतेनैव बाह्यानां तन्त्वादिकार्याणां पटादीनां सन्निवेशविशेषमात्रत्वादसत उत्पत्तिः प्रतिषिद्धा बोद्धव्या। आह - अविद्यमानमेतत्। कस्मात् ? असिद्धे, नार्थान्तरसिद्धेः। यदि हि सन्निवेशविशेषमात्रत्वं कार्यस्य सिद्धं स्यादत एतद्युज्यते वक्तुम्—तदभ्युपगमादसदुत्पत्तेरप्रसङ्ग इति। तत्त्वसिद्धम्। द्रव्यान्तरभूतस्यावयविनो निष्पत्तिप्रतिज्ञानात्। तस्मात् काकविषाणात् शशविषाणसिद्धिवदयुक्तं सन्निवेशविशेषमात्राभ्युपगमात्सत्कार्यसिद्धिरिति। इतश्चासत् कार्यम्, अग्रहणात्। इह श्रोत्रादीनां विषयभूतस्य तत्सन्निधानादवश्यं ग्रहणेन भवितव्यम्। यदि च प्रागुत्पत्तेः सत्कार्यं स्यात्

तदपि श्रोत्रादिसन्निधानात् गृह्येत, न तु गृह्यते। तस्मादसत्कार्यम्। अनुपलब्धिकारण-सद्भावादिति चेत्, तत्रैतत्स्यात्, अस्ति प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यानुपलब्धिकारणं तस्मादस्य सतोऽप्यग्रहणं भवति। उत्तरकालं तद्विगमात् ग्रहणमिति। एतच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? अनुप [लब्धि] असम्भवात्। तद्धि प्रत्यक्षाविषयत्वे सत्यतिदूरादिभिरनुपलब्धिकारणै-र्नोपलभ्यते। न चैषां तत्र सम्भवः। तस्मादसदेतत्। कारणान्तरानभिधानात्। न चाऽतिदूरादिव्यतिरिक्तमनुपलब्धौ कारणान्तरमधीध्वे यतोऽस्याग्रहणं स्यात्। अत-श्चासदेव। किं चान्यत् कारणानुपलब्धिप्रसङ्गात्। अनुपलब्धिकारणसद्भावात्कार्य-स्याग्रहणमिच्छतः कारणाग्रहणप्रसङ्गः। कस्मात्? अभिन्नदेशत्वात्। एकेन्द्रियग्राह्यत्वात् स्थूलत्वाच्च। तत्त्वनिष्टम्। तस्मादयुक्तमनुपलब्धिकारणसद्भावात्सतः कार्यस्याग्रहण-मिति। प्रमाणान्तरनिवृत्तिप्रसङ्गादयुक्तमिति चेत्, स्यादेतत् यदि तर्हि प्रत्यक्षविषय-मेवास्ति। ततोऽन्यन्नास्तीत्येतदुपगम्यते। तेनातीन्द्रियविषयस्यानुमानस्य निवृत्तिप्रसङ्गः। अनिष्टं चैतत्। तस्मान्नानुपलब्धेरसत्कार्यमिति। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? क्रियागुणव्य-पदेशासम्भवात्। यद्धि प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते तत्क्रिययास्तीति संसूच्यते। यथा हर्म्यावि-स्थितानां तृणानामुद्वहनाद्वायुः गुणेन, यथा मालतीलतागन्धेन व्यपदेशेन वा, कार्यादिना यथेन्द्रियाणि। न तु प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य क्रियागुणव्यपदेशसम्भवः। तस्मादसत्कार्यम्। इतश्चासत्कार्यम्। कर्तृप्रयाससाफल्यात्। इह प्राग् व्यापारोपक्रमात् कर्तारस्तस्मात्फल-मुपलिप्समानाः कार्यविशेषनियतसामर्थ्यं साधनमुपादाय व्याप्रियन्ते। तच्चेत्प्रागपि व्यापारात् स्यात्तदर्थस्य परिस्पन्दस्यानर्थक्यं प्राप्तम्। अनिष्टं चैतत्। तस्मात् कर्तृप्रयास-साफल्यात् असत्कार्यम्। परिणामाद्युपपत्तेर्न दोष इति चेत् स्यान्मतं कारणस्य परिणाम-व्यूहसंश्लेषव्यक्तिप्रचयलक्षणान्धर्मान् यस्मात् कर्त्रादीनि कुर्वन्ति नानर्थकानि स्युः। सत्त्वं च कार्यस्य न निरुध्यते। क एवं सति दोषः स्यादिति? उच्यते—न शक्यमेवं कल्पयितुम्। कस्मात्? मार्गान्तरानुपपत्तेः। परिणामो हि नामावस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तिः धर्मान्तरप्रवृत्तिश्च। तत्र सतो धर्मान्तरस्य निरोधाभ्युपगमादसतश्चो-त्पत्तिप्रतिज्ञानान्नेदमर्थान्तरमारभ्यते। एवं व्यूहादयोऽप्युपसंहर्तव्याः। तस्मात् परिणामा-दिभिरभिभवात् कर्त्रादीनामर्थवत्त्वादसत्कार्यम्। तथा चोक्तम्—

जहद् धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम्।
तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते॥

कुतश्च न सत्कार्यम्? आरम्भोपरमयोराद्यन्ताविशेषप्रसंगात्। यदि सत्कार्यं स्यात् तेन यः क्रियार्थः साधनानामादौ परिस्पन्दः सोऽन्तेऽपि स्यात्। वा योऽन्ते विरामः स आदावपि स्यात्। कस्मात्? सदविशेषात्। न तु तदस्ति। तस्मादसत्कार्यम्। इतश्चासत्कार्यम्—उत्पत्तिधर्मस्याद्यन्तयोरविशेषप्रसङ्गात्। यदि सत्कार्यं स्यात् तेन यथा निष्पन्नस्योत्पत्ति-धर्मेणाभिसम्बन्धः तथा आदावपि स्यात्। यथैवादावभिसम्बन्धः तथाऽन्तेऽपि स्यात्। दृष्ट-

स्त्वभिसम्बन्धो नाभिसम्बन्धश्चाऽद्यन्तयोः। तस्मादसत्कार्यम्। इतश्चासत्कार्यम्। जन्म-
सच्छब्दयोर्विरोधात्। इह जन्मशब्दः प्रागभूतस्यार्थस्य भावक्रममाह। सच्छब्दस्तु क्रियान्त-
रहेतुत्वमाह। यदि सतो जन्म स्यादैकार्थ्यमनयोः स्यात्। न त्वेतदस्ति। तस्मादयुक्तं
सज्जायत इति।

उच्यते—यदुक्तं द्रव्यान्तरभूतस्यावयविनो निष्पत्तिप्रतिज्ञानान्न सन्निवेशविशेषमात्र-
त्वात् सत्कार्यमित्येव ब्रूमः—तदसिद्धिः, भेदेनाऽग्रहणात्। यदि तन्त्वादिभ्यो द्रव्यान्तर-
भूतस्यावयविनो निष्पत्तिः स्यात् तेन यथा तन्तुकलापे पटस्तत्रैव वा पटान्तरमाहितं
भेदेनोपलभ्यते तथैवोपलभ्येत। न तूपलभ्यते। तस्मात् न द्रव्यान्तरम्। समवायादग्रहणमिति
चेत् स्यादेतत्, संयोगिनोर्द्रव्ययोः सत्याधाराधेयभावे भेदेन ग्रहणं भवति। समवायलक्षणा तु
प्राप्तिस्तन्तुपटयोः। तस्मान्नास्ति भेदेन ग्रहणमिति। तच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? असिद्ध–
त्वात्। सिद्धे सत्यर्थान्तरभावेऽवयविनस्तत्प्राप्तौ च समवाये सर्वमेतत्स्यात्। तत्त्वसिद्ध-
मुभयम्। तस्मादयुक्तमेतत्। किञ्चान्यत् दृष्टान्ताभावात्। महापरिमाणं द्रव्यमन्यत्राहितं
समवायात् भेदेन नोपलभ्यते इत्येतस्मिन्नर्थे पर्यनुयुक्तस्य कस्ते दृष्टान्तः? न चास्त्यनुदाहृतो
वादः। व्याप्ते न ग्रहणमिति चेत् स्यान्मतमकार्यकारणभूतं द्रव्यं सत्यपि सम्बन्धे न द्रव्यान्तरं
व्यश्नुत इत्यतो भेदेन गृह्यते। तन्तुपटयोस्तु कार्यकारणभूतत्वात् व्याप्तिः। तस्मान्नास्ति
भेदेन ग्रहणमिति। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? साध्यत्वात्। सत्यर्थान्तरभावेऽवयविद्र-
व्यान्तरवत् कार्यकारणभावः साध्यः समवायश्च। अत इयं व्याप्तिः स्यात्। सा चाप्रसिद्धा
इत्यतो न सम्यगेतत्। वेमादिवत् इति चेत् स्यादेतत्—यथा सत्यर्थान्तरभावे वेमादयोऽव-
यविनः कारणम् एवं तन्तवोऽपि। एतदनुपपन्नम्। कस्मात्? अनभ्युपगमात्। करणं
वेमादयः पटस्य, न कारणमित्ययमभ्युपगमो नः। तस्मात् विषमोऽयं दृष्टान्तः।
किं चान्यत्। तद्वदव्याप्तिप्रसङ्गात्। वेमादिवदर्थान्तरं पटात्तन्तव इत्येवं ब्रुवतस्तद्वद-
व्याप्तिप्रसङ्गः। किञ्चान्यत्। स्पर्शक्रियामूर्तिगुरुत्वान्तरवतस्तद्वति प्रतीघातादिति। इह
स्पर्शान्तरवति स्पर्शान्तरवत्प्रतीघातो दृष्टः। तद्यथा घटस्याश्मनि। स्पर्शान्तरवांश्च ते
पटस्तन्तुभ्य इत्यतोऽस्य तद्व्यापित्वमयुक्तम्। एवं च क्रियादयो वक्तव्याः। तस्माद्युक्तमेतत्
भेदानां ग्रहणान्नावयवी द्रव्यान्तरमिति। इतश्च नावयवी द्रव्यान्तरम्। कृत्स्नैकदेशवृत्त्यनु-
पपत्तेः। स ह्यवयवेषु वर्तमानः कृत्स्नेषु वा वर्तते प्रत्यवयवं वा? किञ्चातः? तन्न तावत्
कृत्स्नेषु वर्तते। कस्मात्? एकदेशग्रहणे ग्रहणाभावप्रसङ्गात्। यदनेकेषु वर्तते तस्य
कृत्स्नाधारग्रहणे सति ग्रहणं दृष्टम्। तद्यथा द्वित्वादीनाम्। एवं च सति विषाणादिग्रहणे
गोग्रहणप्रसङ्गः। किञ्चावयवानवस्थाप्रसङ्गात्। स ह्यवयवान् व्याप्नुवंस्तद्व्यतिरेकेणा-
वयवान्तराभावात् केन व्याप्नुयात्? अवयवान्तराभ्युपगमे चानवस्थाप्रसंगः। कृत्स्नैकदेश-
वृत्तिप्रसङ्गश्च समानः। तस्मान्न सर्वेषु परिसमाप्यते, न प्रत्येकमनेकत्वप्रसङ्गात्। अनेका-
धारपरिसमाप्तं ह्यनेकं रूपादि दृष्टमिति। किञ्चान्यत् शास्त्रहानेः। प्रत्यवयवं परिस-

माप्तोऽवयवीत्येतदिच्छतो मूर्तिमताऽवयवेन समानदेशः स्यात्। ततश्च यच्छास्त्रं मूर्तिमतामसमानदेशत्वमिति तस्य व्याघातोऽवयवपरिमाणं च प्राप्नोति। न महत्त्वादिपरिसमाप्तत्वादेकद्रव्यं च प्राप्नोति। ततश्च यच्छास्त्रं द्रव्यमनेकद्रव्यमद्रव्यं वा तस्य हानिरेतावता चास्य वृत्तिर्भवन्ती भवेत्। सर्वथा च दोषः। तस्मान्नावयवी द्रव्यान्तरम्। अर्थान्तरावस्थानेऽर्थान्तरोत्पत्तिविनाशदर्शनादन्यत्वमिति चेत् स्यादेतत्—विद्यमानेषु तन्तुषु पटो न भवति संयोगलक्षणस्य कारणान्तरस्यानुत्पत्तेः। संयोगोत्तरकालं तु भवति। कारणसामग्र्याद् विद्यमानेष्वेव च तन्तुषु विनाशमुपयाति। विभागादर्थान्तरावस्थाने चार्थान्तरोत्पत्तिविनाशौ दृष्टौ। तद्यथा हिमवदवस्थाने दवाग्नेः। तस्मादर्थान्तरं पटस्तन्तुभ्य इति। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? साध्यत्वात्। साध्यं तावदेतत् - किमत्रार्थान्तरमुत्पद्यते विनश्यति वा? आहोस्वित्तन्तुष्वेव समवस्थानविशेषापेक्षस्य पटाभिधानस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती सेनावनवद् भवतः? तस्मादेतदपि नावयविनो द्रव्यान्तरभावे लिंगम्। तत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्द्वसमासोपपत्तेरन्य इति चेत् स्यान्मतम्, इहार्थान्तरत्वे सति तत्पुरुषो दृष्टः। तद्यथा राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इति। बहुव्रीहिश्च चित्रगुः शबलगुः। द्वन्द्वश्च प्लक्षन्यग्रोधाविति। अस्ति चेहापि तत्पुरुषस्तन्तूनां पटः। बहुव्रीहिश्च दृढतन्तुः शुक्लतन्तुः। द्वन्द्वश्च तन्तुपटाविति। तस्माच्चावयव्यर्थान्तरम्। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? अनेकान्तात्। अनन्यत्वेपि हि तत्पुरुषो दृष्टः। तद्यथा सेनागजः काननवृक्ष इति। बहुव्रीहिश्च वीरपुरुषा मत्तगजा सेना इति। द्वन्द्वस्तु यदि स्यात्सत्यमेवार्थान्तरमवयवी स्यात्। न तु कश्चित्पटावस्थायामेवं प्रयुङ्क्ते – तन्तुपटावानयेति। तस्मान्मनोरथमात्रमेतत्। एतेन समाख्यासामर्थ्यभेदाः प्रत्युक्ताः। ते चापि चानर्थान्तरत्वे(?) सति सेनादिषु दृष्ट (ाः)। तस्मान्नाऽवयवी द्रव्यान्तरम्। द्रव्यान्तरभूतस्याऽवयविनो निष्पत्तिप्रतिज्ञानात्, न सन्निवेशविशेषमात्रत्वात् सत्कार्यमित्येतदयुक्तम्। यत्पुनरेतदुक्तमनुपलब्धेरसत्कार्यमिति, अत्र ब्रूमः। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? संशयकारणत्वात्। स च सद्विषयाऽनुपलब्धिः। इत्येतस्मादेव हेतोस्सांशयिका वयम्। तामेव तु निश्चयार्थमलम्बमानो न युक्तिमार्गमनुयाति। यत् पुनरेतदुक्तं कारणान्तराऽनभिधानादिति—एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? अभिप्रायाऽनवबोधात्। यो हि यथा कुण्डे बदराण्यर्थान्तरभूतान्याहितानि तथा कारणे कार्यमस्तीत्येतदाचष्टे तं प्रत्ययमुपालम्भः स्यात्। वयन्तु अनेकशक्तिधर्मिणः सहकारिशक्त्यन्तरा(नु?)गृहीतस्य पूर्वस्याश्शक्तेस्तिरोभावमुत्तरस्याश्चाविर्भावमुपादधानाः कारणमेव कार्यमित्यनुमन्यामहे। तयोस्तु शक्त्योर्युगपदग्रहणम्। इतरेतरप्रतिबन्धहेतुत्वात्। वस्त्रस्यायामविस्तारवत्, कूर्माङ्गमिव द्रष्टव्यम्। यथा वस्त्रस्योपसंहारप्रतिबन्धादायामविस्तारौ न ग्रहणविषयतां प्रतिपद्येते, सत्तां वा न जिहीतः कूर्मस्येवाङ्गानि, तथा तन्त्वादीनामपि भावानां कारणाभिमता कार्याभिमता चावस्था क्रमेण वा स्थिरश्च भवत् (?) तन्निमित्तस्तद्ग्रहणाऽग्रहणविकल्पः।

एतेन कारणग्रहणं प्रत्युक्तम् । यदप्युक्तं प्रमाणान्तरनिवृत्तिप्रसङ्गादिति । सत्यमेतत् । यत्तूक्तं क्रियागुणव्यपदेशासम्भवादनुमानाभाव इति तदनुपपन्नम् । कस्मात् ? पृथक्त्वाऽनभ्युपगमात् । कार्यकारणपृथक्त्ववादिनस्तत्क्रियागुणानां पृथक्त्वमनुमातुं युक्तमित्यतस्त (न्त्व)वस्थाने पटक्रियागुणग्रहणादनुमानाभाव इत्ययमुपालम्भः सावकाशः स्यात् । अस्माकन्तु कारणमात्रस्यैव संघातादाकारान्तरपरिग्रहात् वा क्रियागुणानां प्रचितिर्व्यक्तिविशेषो भवतीति ब्रुवतामदोषः । व्यपदेशस्तु कार्यकारणपर्यायः । सोऽप्युक्तः । कस्मात् ? अनेकान्तात् । द्रव्यगुणत्वकर्मत्वादीनां क्रियागुणकार्यकारणभावोऽथ च सत्त्वमिष्यतेऽथ लिङ्गपर्यायः । न तर्हि वयं पर्यनुयोज्या व्यपदेशाभावादसत्कार्यमिति । किं कारणम् ? प्रकरणात् । विप्रतिपत्तौ हि सत्यां लिङ्गतः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य समधिगमं करिष्याम इति प्रकृतमेवैतत् । अनैकान्तित्वं च समानम् । निष्पत्त्यनन्तरं द्रव्यस्यास्तित्वाभ्युपगमादगुणवतो द्रव्यस्य गुणारम्भः । कर्मगुणा अगुणा इति वचनादुत्पन्नमात्रं द्रव्यं निष्क्रियं निर्गुणमवतिष्ठते इति वः पक्षः । न चास्य तथाभूतस्य लिङ्गमस्ति । अथ चास्तित्वं भवद्भिरभ्युपगम्यते । सिद्धेर्ग्रहणात्सद्भाव इति चेन्न । सर्वविवादसिद्धिप्रसङ्गात् । दृष्टान्तविरुद्धमर्थं प्रतिज्ञाय प्रतिषिध्यमानेन सिद्धबुद्धिविषयता स्मर्तव्येत्येतस्यां कल्पनायां सर्वविवादसिद्धिप्रसंगः स्यात् । किञ्चान्यत् । प्रतिपक्षे समानत्वात् । अस्मत्पक्षेऽपि तर्हि भगवत्पञ्चशिखादीनां प्रत्यक्षत्वात्सत्कार्यमभ्युपगन्तव्यम् । तस्मान्न क्रियागुणव्यपदेशासम्भवादसत्कार्यम् ।

यत्पुनरेतदुक्तं—कर्तृप्रयाससाफल्यादसत्कार्यमिति, अत्र ब्रूमः—एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ?

असदकरणात्

यद्युभयपक्षप्रसिद्धस्यासतः क्रियायोग स्यात् अत एतद्युज्यते वक्तुं कार्ये सति कर्तुः प्रयासोऽनर्थक इति । तत्त्वसतः करणमनुपपन्नम् । तस्मादयुक्तमेतत् । हेत्वनभिधानादसिद्धिरिति चेत् स्यादेतत् - यथा निष्पन्नत्वान्मध्वादीनां धारणसमर्थो घटो न क्रियत इत्ययमपदिष्टो हेतुरस्माभिः एवमित्थं कार्यस्यासतः कारणं नोपपन्नमिति नोक्तं भवता । तस्मादसिद्धिरिति । एतच्चानुपपन्नम् । कस्मात् ? सत्यसति वा सम्बन्धे दोषप्रसङ्गात् । तद्धि क्रियमाणं सति वा सम्बन्धे कारकैः क्रियतेऽसति वा ? सम्बन्धश्चास्य भवन्प्रवृत्तिकाले वा कारणानां स्यात्, निष्पत्तिकाले वा ? किञ्चातः ? तन्न तावत्प्रवृत्तिकाले सम्बन्धो युक्तः । कस्मात् ? अद्रव्यत्वात् । प्रवृत्तिकाले कर्त्रादीनां क्रियागुणव्यपदेशाभावादवस्तुभूतं शशविषाणस्थानीयं वः कार्यम् । न चास्ति तथाभूतस्य वस्तुभूतेन सम्बन्धः । अथ निष्पत्तिकालेऽभिसम्बध्यते यदुक्तं सतो निष्पन्नत्वात्क्रियानुत्पत्तिरिति तस्य व्याघातः । अथ मतमसत्यपि सम्बन्धे निष्पत्तिर्भवतीति तेन कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसंगः । प्रागपि च कारकोपादानात्कार्यनिष्पत्तिप्रसङ्ग इति । उक्तञ्च

असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारकैः सत्त्वसंगिभिः ।
असम्बन्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ।। इति ।

आह, ननु च मध्यमे काले कर्त्रादिभिः कार्यं क्रियते । कः पुनरसौ मध्यमः काल इति ? आह—

आरम्भाय प्रसृता यस्मिन्काले भवन्ति कर्त्तारः ।
कार्यस्यानिष्पादात्तं मध्यमं कालमिच्छन्ति ।। इति ।

यदा हेतवः प्रवृत्तारम्भा भवन्त्युद्दिश्य कार्यं न च तावन्नैमित्तिकस्यात्मलाभः संवर्तते स मध्यमः कालः । तस्मिन्क्रियते कारकैः कार्यमिति । उच्यते, न, अवस्थान्तरानुपपत्तेः । प्राङ्निष्पत्तेरसत्ता । निष्पन्नस्य सत्तेत्यवस्थाद्वयम् । सदसद्रूपा चावस्था नास्ति यो मध्यमः स्यात् । अतो न युक्तमेतदिति । किञ्चान्यत् । पूर्वदोषापरिहारादुद्दिश्य कार्यं तस्यात्मनो लाभात्केन सह सम्बन्ध इति ? अत्राप्ययं पर्यनुयोगो नैव निवर्तत इति । तस्माच्चित्रमपि वाक्यं प्रसार्य न किञ्चित्परिहृतं भवता । तस्माद्युक्तमेतत् सत्यसति वा सम्बन्धे दोषप्रसंगादसन्न क्रियत इति ।

यस्य पुनः सत्कार्यं तस्य दोषो नास्ति । कस्मात् ?

उपादानग्रहणात्

उपादानमिति कारणं तन्त्वाद्याचक्ष्महे । तद्धि तस्य कारकैर्गृह्यते अभिसम्बध्यत इत्यर्थः । तस्माच्च नार्थान्तरं कार्यम् इत्यतः कारणेनाभिसम्बद्धानां कारकाणां कार्येणैव सम्बन्धो भवतीत्यदोषः । आह – ननु च यस्यापि सत्कार्यं तस्योपादानादर्थान्तरं तत्कार्यं स्यात् । कस्मात् ? कार्यार्थिभिरुपादानात् । यद्यदर्थमुपादीयते तत्तस्मादर्थान्तरं यथा वेमादिभ्यः पटः । तन्तवश्च पटादिभिरुपादीयन्ते तस्मात्तेभ्योऽप्यर्थान्तरं पट इति । एतेन सत्त्वं प्रत्युक्तम् । यद्यदर्थमुपादीयते तत्तस्मिन्नसत् । यथा वेमादिषु पट इति । उच्यते, न अवयविप्रतिषेधात् । प्रतिषिद्धस्तावदवयवी द्रव्यान्तरभूतस्तस्मादनुपपन्नार्थमेतत् ।

किञ्चान्यत्

सर्वसम्भवाऽभावात् ।

उपादानसामान्याद्वेमादिवदर्थान्तरं पटस्तन्तुभ्य इति ब्रुवतोऽर्थान्तरत्वसामान्यात्तन्तुवत्सर्वस्मात्कारणात्कार्यस्य सम्भवः स्यात् । न त्वेवमस्ति । तस्मात्सर्वसम्भवाभावादसम्यगेतत् । किञ्चान्यत्, जातिभेदप्रसंगादर्थान्तरारम्भप्रसङ्गाच्च उपादानसामान्याद्वेमादिवदर्थान्तरं पटस्तन्तुभ्य इति ब्रुवतो यथा वेमादिभ्यो भिन्नजातीयो भिन्नदेशश्च, तथा तन्तुभ्यः पटः स्यात् यथा चाऽवस्थिते पटे वेमादयः पटान्तरं कुर्वन्ति तथा ह्यवस्थिते पटे तन्तवोऽपि पटान्तरमारभेरन् । न चैतदिष्टम् । न तर्ह्युपादानसामान्याद्वेमादिवत्तन्तुभ्यः पटस्यार्थान्तरत्वम् । यत्पुनरेतदुक्तं यद्यदर्थमुपादीयते न तत् तत्रास्तीति, अत्र ब्रूमः—अयुक्तमेतत् ।

कस्मात् ? आधाराधेयभावानभ्युपगमात् । असकृदुक्तमस्माभिर्न तन्तुषु पटो नाम कश्चिदस्ति । किं तर्हि तन्तव एव पटः । तत्तु सन्मार्गविद्वेषाद् भवता न गृह्यते । किञ्चान्यत् । अनेकान्तात् । उपेत्य वा ब्रूमः कथं तावत्तिलास्तैलार्थमुपादीयन्ते, भवति चात्र तैलम् । मृद्वीका रसार्थमुपादीयते, भवति चास्यां रसः । गोधुक्च पयोऽर्थं गामादत्ते, भवति च तस्यां क्षीरम् । शालिकलापश्च तण्डुलार्थमुपादीयते, सन्ति चात्र तण्डुला इत्यनैकान्तिको हेतुः । आह–आवरणोपलब्धेरयुक्तम् । तिलादिष्वावरणं प्रत्यक्षत उपलभ्यते । तत्प्रतिबन्धात्तैलादीनामग्रहणम् । व्यापारश्च कर्तुस्तद्विगमार्थो न तु कार्यस्यावरणमस्ति । तस्माद्विषमो दृष्टान्तः । उच्यते न, मार्गान्तरत्वात् । यद्यत्रास्ति तन्न तदर्थमुपादीयते इति पूर्वं भवताऽतिसृष्टम् । इदानीं त्ववगमविगमार्थं सतोप्युपादानमिति ब्रुवतो मार्गान्तरगमनं पूर्ववादत्यागोऽनैकान्तिकस्य चापरिहार इति । यत्पुनरेतदुक्तं परिणामाद्युपपत्तेरदोष इति तथा तदस्तु । यत्तूक्तं मार्गान्तरानुपपत्तेरिति अत्र ब्रूमः—एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? परिणामधर्मानवबोधात् । सतो धर्मान्तरस्य निरोधमसतश्चोत्पत्तिं परिणाममभिदधतो व्यक्तमयमुपालम्भः स्यात् । न त्वनयाऽनुसृत्या प्रतिष्ठामहे । किं तर्हि साधनानुगृहीतस्य धर्मिणो धर्मान्तरस्याविर्भावः पूर्वस्य च तिरोभावः परिणामः । न चाविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिनिरोधौ । व्यूहसंश्लेषव्यक्तिप्रचयास्तु किमसतो धर्मा उत स्वतोऽसन्त इति विचार्यम् । किं चातः ? यदि तावदसतो धर्माः यथा कस्येति वाच्यम् । अथ स्वयमसन्तः पश्चाद् भवन्ति तदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? अनर्थान्तरत्वात् । सत्यर्थान्तरभावे प्रागसन्तः पश्चादुपलभ्यमानाः सत्कार्यवादं निराकुर्युः । स चैषामर्थान्तरभावो न प्रसिद्धः । तस्मात्किमत्रोत्पन्नम् ? ग्रहणाग्रहणविकल्पे चोक्तः परिहारः । किं चान्यत् । द्रव्यान्तरोत्पत्तिव्याघातात् । उपेत्य वैषामुत्पत्तिं ब्रूमः—यदि हि परिणामव्यूहसंश्लेषव्यक्तिप्रचयमात्रं कार्यमिष्यते यदुक्तं द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्त इति तस्य व्याघातः । कस्मात् ? न ह्येते भावा द्रव्यान्तरम् । तस्मात् दिनकरकिरणप्रतापमूर्छितस्येव दावाग्न्युपसर्पणदोषोऽनुतापायैव भवतः प्रतिपत्तिः । एतेनारम्भोपरमोत्पत्त्यविशेषप्रसङ्गो जन्मसच्छब्दः प्रत्युक्तः । कथम् ? आत्मभूतं हि तन्तूनां पटाख्यं व्यूहस्थानीयं सन्निवेशविशेषं यदा कारकाणि स्वेन स्वेन व्यापारेणाविष्कुर्वन्ति तदा क्रियते उत्पद्यते जायत इत्येवमादिर्लोकस्य व्यवहारः प्रवर्तते । यदा तु कारकाणि शक्त्यन्तराविर्भावात्संस्थानान्तरेणौत्सुक्यवर्तितामवस्थामुपसंहरन्ति तदा प्रागुपलब्धं संस्थानं विनाशशब्दवाच्यतां प्रतिपद्यते । परमार्थतस्तु न कस्यचिदुत्पादोऽस्ति न विनाशः । यत्पुनरेतदुक्तं जन्मशब्दः प्रागभूतस्यार्थस्य भावोपक्रममाहेति तदपीच्छामात्रम् । कस्मात् ? विवादात् । सदसद्विषयं जन्मेति विवादेऽनुषक्ते जन्मशब्दः प्रागभूतस्य सद्भावमाचष्ट इति ब्रुवतोऽनुक्तसमम् । पुरुषादावदृष्टत्वादसिद्धिरिति चेत् स्यादेतत् यदि तर्हि क्रियते उत्पद्यते जायत इत्येषोर्थः सद्विषयः कल्प्यते, प्रधानपुरुषयोरपि तत्प्रसंगः, सदसदविशेषादिति । अतश्च विवादावस्थमेवैतत्प्रकरणमिति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ?

संस्थानविषयत्वात् । यदा भावः स्वतोऽनर्थान्तरभूतं संस्थानं भजते तदैते शब्दाः प्रवर्तन्त इत्युक्तम् । दृष्टं च लोके तद्यथा मुष्टिग्रन्थिकुण्डलानि करोति जनयत्युत्पादयति, अभिव्यक्तात्मसु च मूलोदकादिषु भवत्युत्पन्नं जातमिति । उभयपक्षप्रसिद्धे तु शशविषाणादौ नैते शब्दाः प्रवर्तन्ते । तस्माद् भवत एवानिष्टप्रसङ्ग इति । उक्तं च—

यद्यसत्त्वं घटादीनामुत्पत्तौ हेतुरिष्यते ।
शशशृङ्गेऽपि तुल्यत्वादुत्पत्तिस्ते प्रसज्यते ॥

इति सिद्धं सत्कार्यम् । इतश्च सत्कार्यम् ।

शक्तस्य शक्यकरणात्

शक्यमिदमस्य, शक्तश्चायमस्येत्ययं नियमः सतां दृष्टः । तद्यथा चक्षुषो रूपस्य । अस्ति चायं पटस्य वेमादीनां च नियमः । तस्माच्च सत्कार्यम् । सहकारिवत्तन्नियम इति चेत् स्यान्मतम् । यथापो बीजाङ्कुरस्योत्पत्तौ समर्था भवन्ति न काष्ठादग्नेर्वा । उभयं च तत्तासु न विद्यते । बीजादपां विच्छिन्नत्वात् । यथा च सूर्यः सूर्यकान्तादग्निमुत्पादयितुं समर्थो न चन्द्रकान्ताच्च पानीयम् । उभयं तत्तत्र न विद्यते । तथा च तन्त्वादीनां पटस्यैव शक्तिनियमः स्यात् । न च पटस्य तन्तुषु सत्त्वं स्यादिति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? साध्यत्वात् । अंकुरादयोऽपि कार्यमवादीनाम् । अतः साध्यम् । किमङ्कुरोस्त्यथ नास्त्येव । तथा सूर्यकान्तेऽग्निः । तदर्थमेव चायं विवादोऽनुषक्तः । यत्तूक्तमपां विच्छिन्नत्वान्न तास्वङ्कुरोऽस्तीति तत्रापि यासामपां बीजानुप्रवेशादङ्कुरभावेन विपरिणामस्ताभ्यस्तस्यानन्यत्वं साध्यम् । अतो न किञ्चिदेतत् । किञ्चान्यत् । रूपव्यवस्थानाच्च । तद्यथा रूपं विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे सति न रूपं दृष्टमिति नेदानीं तत्सामान्यात् रूपमप्यरूपं भवति । एवं पटकारणत्वाद्वेमादयो न पट इति नेदानीं तन्तवोऽप्यपटः । तस्माद्युक्तमेतच्छक्तस्य शक्यकरणात्सत्कार्यम् ।

कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

इहासति कार्ये कारणभावो नास्ति । तद्यथा वन्ध्यायाः । अस्ति चेह कारणभावस्तन्तुपटयोस्तस्मात्सत्कार्यम् । कारणान्तरात्कार्योत्पत्तिदर्शनादन्यत्र तद्बुद्धिरिति चेत्, स्यान्मतं प्राक्कारणान्तरात्कार्यान्तरस्यासत उत्पत्तिमुपलभ्य पश्चात्कारणान्तरे कारणबुद्धिर्भवतीति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? अनभ्युपगमात् । असतः कार्यस्योत्पत्तिरेव न सिद्धा शशविषाणादिष्वसिद्धत्वात् । कुतः पुनस्तन्निमित्ताकारबुद्धिः ? कारणभावादिति चेत्— स्यादेतत्, असत्त्वाविशेषेऽपि पटस्य कारणं समवाय्यसमवायिनिमित्तलक्षणमस्ति । तस्मात्पट उच्यते, न शशविषाणमिति । एतच्चायुक्तम् । कुतः ? हेत्वभावात् । असत्त्वाविशेषेऽपि पटस्य कारणमस्ति न शशविषाणस्येत्यत्र हेतुरनुक्तः । पुरुषवदिति चेत् स्यादेतत्, यथा तुल्यत्वे सत्त्वे पटस्य कारणमस्ति न पुरुषस्य, एवमसत्त्वे पटस्य कारणमस्ति न शशविषाण-

स्येत्येतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? उक्तत्वात्। संस्थानं कार्यं पटस्य। संस्थानं न पुरुष एवमसत्त्वाविशेषे पटः कार्यं न शशविषाणमिति। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? सामान्यविशेषभावात्। सामान्यस्य हि विशेषपरिग्रहः संस्थानम्। न त्वयमस्ति चेतनाशक्तौ विकल्पः। तस्मान्न पुरुषः संस्थानम्। असतस्तु निरात्मकत्वाद्विशेषो दुरुपपादः। तदुपपत्तौ वा सत्त्वप्रसंग इति। आह च—

निरात्मकत्वादसतां सर्वेषामविशिष्टता।
विशेषणं चेद् भिन्नं ते सत्त्वमभ्युपगम्यताम्॥

तस्माद्युक्तमेतत्कारणभावाच्च सत्कार्यम्। एवं तावद्वैशेषिकमतेनासत्कार्यवादो न विमर्दसहः।

बौद्धपक्षे तु भूयान्दोषः। कथं तर्हि द्रव्यान्तरं पटो नेष्यते? "तन्तुष्वेव तथास्थेषु पट इत्यादिबुद्धयः" इत्येवमादिना न्यायेनावयविप्रतिषेधात्संयोगोऽपि न संयोगिभ्यस्तेषामर्थान्तरमिष्टः। तत्रैतावती परिकल्पना स्यात्—यदुत तन्तुसयोगो वा पटः, संयोगकारणं वा द्रव्यान्तरम्? उभयं च तेषां नार्थान्तरम्। अथोत्पत्तिविनाशौ कस्यापीति मायाकारचेष्टितम्। तदपि चित्रतरोऽयमुपन्यासः। काणादानां तु द्रव्यान्तरोत्पत्तिविनाशाभ्युपगमात् न तार्किकसदृशो विचारः। तस्मात्पारमर्ष एव पक्षो ज्यायान्। यथा चासत्कार्यं न सम्भवति तथा च—शब्दात्सदसत्कार्यमपि। परस्परविरोधात् नैव सन्नासदिति एके। एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? सत्त्वे हेत्वभिधानान्निश्चितः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सद्भावः॥ ९॥

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ १०॥

शब्दार्थः—व्यक्तम्=बुद्धि से लेकर पृथ्वी तक के तत्त्वों का समूह, हेतुमत्=सकारण अर्थात् उत्पन्न होनेवाला, अनित्यम्=विनाशशील, अव्यापि=एकदेशीय अर्थात् सर्वत्र न रहनेवाला (व्याप्य), सक्रियम्=क्रियावान्, अनेकम्=अनेक, आश्रितम्=अपने कारण में आश्रित, लिङ्गम्=अपने कारण में लीन होनेवाला, अपने कारण का अनुमान करानेवाला, सावयवम्=अवयवों से (शब्दरूप रस आदि से अथवा संयोगात्मक होने के कारण अवयवों से) युक्त, परतन्त्रम्=अपने कारण के परतन्त्र, (अस्ति=है); व्यक्तम्=प्रकृति, (अस्मात्=इससे), विपरीतम्=प्रतिकूल, (भवति=होती है)॥ १०॥

अर्थः—बुद्धि से लेकर पृथ्वी तक के व्यक्त कहे जाने वाले तत्त्व सकारण अर्थात् उत्पन्न होने वाले, विनाशशील, एकदेशीय अर्थात् व्याप्य, संसरण करने वाले अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन करने वाले, अनेक, अपने कारण में आश्रित तथा उन्हीं (कारणों) में लीन होने वाले अथवा अपने कारण का अनुमान कराने वाले, अवयवों से (शब्द, रूप, रस, आदि से या संयोगात्मक होने के कारण अवयवों से) युक्त, अपने कारण के परतन्त्र हैं। अव्यक्त, जिसे प्रकृति कहते हैं, इसके विपरीत

होता है, (अर्थात् अव्यक्त निर्हेतुक, व्यापक, संसारण-रहित, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव, तथा स्वतन्त्र होता है) ॥ २ ॥

त० प्र० - यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां 'महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपञ्च', तत् कथमित्युच्यते कारिकाद्वयेनादौ विरूपकथनपूर्वकम् — व्यक्तं बुद्ध्यादि पृथिव्यन्तं कार्यम्, हेतुमत्, हेतुः कारणम्, तद्वत् । व्यक्तस्य प्रधानं मूलहेतुः अस्ति । अतो हेतुमद् व्यक्तम् । तत्त्वेष्वपि एकैकं प्रति एकैकं कारणम् । तद्यथा बुद्धितत्त्वं प्रधानेन हेतुमत् । अहङ्कारो बुद्ध्या हेतुमान् । पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च अहङ्कारेण हेतुमन्ति । आकाशं शब्दतन्मात्रेण हेतुमत् । वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमान् । तेजो रूपतन्मात्रेण हेतुमत् । आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्यः । पृथिवी गन्धतन्मात्रेण हेतुमती । इत्थं व्यक्तं हेतुमत् । किञ्चान्यत्,—अनित्यं विनाशशीलं स्वकारणे तिरोभावीति यावत् । 'नाशः कारणालयः' (१।१२१) इति सूत्रात् नाशः कारणे सूक्ष्मतया अवस्थानमेव न तु उच्छेदः । 'लीङ्' श्लेषणे इत्युक्तेर्लयः संश्लेष एव । किञ्च अव्यापि-अव्यापकमित्यर्थः, व्याप्यमिति यावत् । कारणेन हि कार्यं व्याप्यते, न च कार्येण कारणम् । यथा प्रकृत्या व्यक्तं व्याप्तं सर्वगतत्वात्, न तथा व्यक्तेन प्रधानं पुरुषो वा व्याप्यते । किञ्चान्यत्,—सक्रियं संसरणशीलम् । संसरणकाले महदादिकार्यं सूक्ष्मशरीरमाश्रित्य संसरति । क्रियाशब्देनात्र संसरणमेवाभिप्रेतम्, न क्रियामात्रम् । विपरीतमव्यक्तमसंसारि । सर्वत्र स्थितत्वात् अतः अवकाशाभावात् न संसरति । न च पुनः क्रियैव नास्तीति निष्क्रियं, तस्य जगद्धेतुत्वात् । किञ्चान्यत्,—अनेकम्, बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानि चेति । "अनेकं प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादीनां भेदाद् । पृथिव्याद्यपि शरीरघटादिभेदेनानेकमेव" इति मिश्राः । किञ्चान्यत्,—आश्रितम्,—स्वकारणाश्रितम् । कार्यं हि कारणाश्रितं भवति । वस्तुतस्तु कार्यकारणयोरभेदः एव । परञ्च भेदविवक्षयाऽऽश्रयाश्रयिव्यवहारः, यथा 'अत्र वने सरलाः' इति । किञ्च लिङ्गम्, - लययुक्तम्, लयकाले हि व्यक्तानि यथायथं स्वकारणेष्वेव लीयन्ते । यथा पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च अहङ्कारे, अहङ्कारश्च बुद्धौ, सा च प्रधाने तिरोभवतीति । अथवा लिङ्ग्यते सूच्यते अनेन अव्यक्तमिति लिङ्गम् । अथवा लीनं गमयति बोधयति इति लिङ्गं कारणानुमापकमित्यर्थः । तथा सावयवम्,—मिथःसंयोगात्मकावयववत् अनेकत्वात् । किञ्च परतन्त्रम्,—परायत्तम् । यस्मादुत्पद्यते तदेवानुरुद्ध्य स्वकार्यं जनयति न व्यतिरेकेणेति । अन्यथा हेतुमदित्यनेनैव परतन्त्रत्वं सूचितमेव । अव्यक्तम् अस्माद्विपरीतमस्ति,— विपरीतमव्यक्तमितिव्यक्तं हेतुमत् कथितम्, अव्यक्तम् अहेतुमदस्ति, न हि प्रधानतत्परं किञ्चिद्वर्तते, यतः प्रधानस्य न कदापि उत्पत्तिः भवति । तथाऽनित्यञ्च व्यक्तम्, नित्यञ्च अव्यक्तम् अन्यस्मादनुत्पत्तेः । किञ्च अव्यापि व्यक्तम्, व्यापि प्रधानं सर्वत्रानुस्यूतत्वात् । सक्रियं व्यक्तम्, अक्रियमव्यक्तं सर्वत्र अनुस्यूतत्वादनवकाशादेव । तथाऽनेकं व्यक्तम्,

प्रधानमेकमेव कारणत्वात्। तथाहि कारणरूपा पृथ्वी एकैव परञ्च तस्याः कार्याणि घटादिरूपेण बहूनि भवन्ति। तथा आश्रितं व्यक्तम्, अनाश्रितं प्रधानमकार्यत्वात्, न हि प्रधानात् परं किञ्चिदस्ति प्रधानं यस्य कार्यं स्यात्। तथा व्यक्तं लिङ्गम्, अव्यक्तमलिङ्गं नित्यत्वात्। सावयवयं व्यक्तम्, निरवयवम् अव्यक्तम् एकत्वात्। तथा परतन्त्रं व्यक्तम्, स्वतन्त्रम् अव्यक्तं कार्योत्पादने अन्यकारणापेक्षाराहित्यादिति ॥ १० ॥

टिप्पणी—इस कारिका में 'अनित्यम्', 'अव्यापि', 'आश्रितम्', 'लिङ्गम्' तथा 'परतन्त्रम्' पद के न रहने पर भी कारिकाकार का आशय स्पष्ट हो जाता है। अतः ये पद कुछ निरर्थक से लगते हैं। 'व्यक्त हेतुमत् है' ऐसा कहने मात्र से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अनित्य, अव्यापक, आश्रित, लिङ्ग तथा परतन्त्र है। हेतुमान् अर्थात् कार्य कभी भी नित्य, व्यापक, अनाश्रित अर्थात् कारण का आश्रय न लेने वाला, अलिङ्ग अर्थात् अपने कारण का अनुमान न कराने वाला अथवा अपने कारण में लीन न होने वाला तथा कुछ भी करने में स्वतन्त्र नहीं हो सकता ॥

ऐसी अवस्था में इन पदों के उपन्यास का कारण सरलता से अर्थ का बोध हो जाना ही प्रतीत होता है ॥ १० ॥

युक्ति॰—प्रकृतमिदानीं वक्ष्यामः। किं च प्रकृतम्? महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपं चेति वचनाद्वैरूप्यम्। आह—प्राक्सारूप्यग्रहणं, सुखप्रतिपत्तिहेतुत्वात्। अधिगतसारूप्यस्य हि सुखं वैरूप्यस्य प्रतिपत्तिर्भवतीति प्राक्सारूप्यग्रहणं कर्तव्यम्। यथा तन्त्रान्तरीयाणां सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषसामान्यमुक्त्वा द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरमित्येवमादिः विशेषोऽभिधीयते। उच्यते—तदनुपपत्तिः। अविशेषात्। यथैवाधिगतसारूप्यस्य लघीयसी वैरूप्यप्रतिपत्तिरेवमधिगतवैरूप्यस्य लघीयसी सारूप्यप्रतिपत्तिः। कस्मात्? परस्परापेक्षत्वात्। वैरूप्यापेक्षं हि सारूप्यं, सारूप्यापेक्षं च वैरूप्यमिति। आह—एवमपि वैरूप्यस्य प्रागभिधाने प्रयोजनवचनम्। द्वयोरविशेषेऽन्यतरस्य प्रागभिधाने नियमहेतुर्वक्तव्य इति। उच्यते न, वैरूप्यस्य प्रकरणानङ्गभावात्। विच्छिन्नं हि वैरूप्यमतस्तत्पूर्वमभिधाय प्रकरणाङ्गं सारूप्यं सुखमभिधातुमित्येवमर्थमाचार्येणैवं क्रियते। कथं सारूप्यस्य प्रकरणाङ्गत्वमिति चेत् त्रैगुण्याभिधानद्वारेण गुणलक्षणोपदेशात्। तत्सिद्धौ चाविवेक्यादीनां व्यक्तसिद्धेः, कारणगुणात्मकत्वाच्च कार्यस्य प्रधाने त्रैगुण्यादिप्रतिपत्तेः, कार्यकारणभावासन्देहाच्च प्रधानास्तित्वप्रसिद्धयपदेशात्तत्सिद्धौ च भोग्यस्य भोक्त्रपेक्षत्वात् पुरुषसिद्धेरधिगतभोक्तृभोग्यस्य तत्संयोगस्य च सुखप्रतिपाद्यत्वात्तादर्थ्याच्च तत्त्वभूतभावसर्गाणाम्। तस्माद्युक्तमेतत्प्रकरणाङ्गत्वात्सारूप्यं पश्चान्निर्दिश्यते। तदसम्बन्धादितरत्प्रागिति।

आह—यदि तर्हि भवान्प्राग्वैरूप्याभिधानं न्याय्यं मन्यते तद्वक्तव्यं किं पुनरिदं वैरूप्यमिति। उच्यते—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

तत्र हेतुः कारणमित्यनर्थान्तरम् । तदस्यास्तीति हेतुमत् । नित्यं ध्रुवम् । न नित्यमनित्यम् । व्याप्नोतीति व्यापि । न व्याप्यव्यापि । असर्वगतमित्यर्थः । सह क्रियया सक्रियम् । अनेकं भिन्नम् । आश्रितमाधेयम् । लिङ्गं तल्लक्षणोपपन्नम् । अवयूयन्त इत्यवयवाः । पृथगुपलभ्यन्त इत्यर्थः । सहावयवैः सावयवम् । परतन्त्रमन्याधीनम् । एते हेतुमदादयः परतन्त्रान्ता निरपवादा व्यक्तस्यासाधारणाः प्रधानपुरुषाभ्यां धर्माः । आह—हेतुमदित्यविशेषः सर्वत्र सद्भावात् । व्यक्ताव्यक्तपुरुषाणां हि सर्वेषां हेतुरस्तीति अविशेष एवायं पठितव्यः । उच्यते न, कारकपरिग्रहात् । यद्यपि व्यक्ताव्यक्तपुरुषाणामविशिष्टं हेतुमत्त्वं तथापि विशिष्टस्य कारकस्य हेतोः परिग्रहं करिष्यामः । स च व्यक्तस्यैव नान्यस्येति नायमविशेषो भविष्यति । आह—तदनुपपत्तिः, विशेषानुपादानात् । हेतुरिति सामान्यशब्दोऽयम् । सामान्यशब्दाश्च नार्थप्रकरणशब्दान्तराभिसम्बन्धमन्तरेण विशेषेऽवतिष्ठन्त इति विशेष उपादेय स्यात् । स तु नोपादीयते । तस्मात्ते अविशेषा एवेति । उच्यते न, सर्वसम्भविनोऽभिधानस्य प्रकर्षार्थत्वात् । इह यः सर्वसंभवी धर्म एकविषय उपादीयते तस्मात्प्रकर्षो विज्ञायते । तद्यथा भोक्ता माणवक इत्युक्ते सर्वेषां भोक्तृत्वस्य संभवादेवं विज्ञायते प्रकर्षेणायं भोक्तेति, एवमिहापि सर्वसम्भवीत्याहाचार्यो व्यक्तं हेतुमदिति । तेन वयमस्मात्प्रकर्षं विज्ञास्यामः । कश्च प्रकर्षः ? कारकज्ञापकयोरुभयोरपि सम्भवे कारकस्यैव ग्रहणम् । अनित्यशब्दसम्बन्धाद्वा । अथवाऽयमाचार्यो हेतुमदित्युक्त्वाऽनित्यमिति पठति । शब्दान्तराभिसम्बन्धात् योऽनित्यसहचरो हेतुस्तस्येह ग्रहणं गम्यते । कश्चाऽनित्यसहचरो हेतुः ? कारकः । आह एवमप्यनुपपन्नमेतत् । कस्मात् ? उभयत्र तत्संभवात् । उत्पाद्यव्यङ्ग्ययोर्हि विनाशं पटादिषु दृष्टत्वात् अव्यभिचारात्तन्त्रान्तरीया मन्यन्ते । तस्य वा परिहारो वक्तव्यः । न वा वक्तव्यो विशेषे स्थितिरस्तीति । उच्यते न, एकान्तवादप्रसङ्गात् । सर्वेण हि वादिनाऽवश्यं किञ्चिन्नित्यमभ्युपगन्तव्यम् । अन्ततो विनाशेऽपि न कश्चिदर्थः शब्दबुद्धिभ्यां न व्यज्यते । तथा सत्येकान्तवादोऽयं स्यात् । स च युक्तिमद्भिर्नेष्यते । तथा च संस्कृतमप्येवं कल्प्यमाने विनाशि स्यात् । तस्मादुत्पाद्यव्यङ्ग्ययोर्विनाशं ब्रुवतोऽतिसाहसम् ।

आह—अनित्यत्वानुपपत्तिः, सत्कार्यवादाभ्युपगमात् । यथैव हि नाऽसत उत्पत्तिरस्त्येवं सतोऽपि विनाशेन न भवितव्यम् । अथ सतोऽपि विनाशोऽभ्युपगम्यते तेन प्रलयकाले विनष्टानां तत्त्वादीनां पश्चादसतामुत्पत्तिः सत्कार्यवादं निराकुर्यात् । तस्मादनित्यं व्यक्तमित्युक्तम् । उच्यते न, व्यक्त्यपगमप्रतिज्ञानात् । सत्यमेव वयं सतो विनाशमाचक्षाणाः सत्कार्यवादं प्रत्याचक्षीमहि । कारणानान्तु यः परस्परं संसर्गात्संस्थानविशेषपरिग्रहस्तस्य विरोधिशक्त्यन्तराविर्भावाद् व्यक्तिस्तिरोधीयत इत्येतद् विनाशशब्देन विवक्षितम् । तथा

च वार्षगणाः पठन्ति – तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, न सत्त्वाद् अपेतमप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधात्। असंसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं, सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिस्तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाशः। स तु द्विविधः। आसर्गप्रलयात्तत्त्वानां, किञ्चित्कालान्तरावस्थानादितरेषामिति। आह— अयुक्तमेतत्। कस्मात्? विप्रतिपत्तेः। सर्वमेव क्षणिकं बुद्धिबोध्यमाकाशनिरोधवर्जितमिति शाक्यपुत्रीयाः प्रतिपन्नाः। तेषां प्रतिषेधो वक्तव्यः। न वा वक्तव्यो द्विविधमनित्यमिति। उच्यते—न, हेत्वनुपगमात्। प्रतिक्षणमुच्छिद्यते त्रैलोक्यमित्यत्र लिङ्गमभियुक्ता अपि नोपलभामहे। तस्मान्नैतत् युक्तमस्माकं बुद्धाववतिष्ठत इति। आह—अन्ते क्षयदर्शनात्। इह यस्यान्ते क्षयस्तस्य क्षणिकत्वं दृष्टम्, तद्यथा प्रदीपज्वालाबुद्धिशब्दानाम्। अस्ति चान्ते क्षयः संस्काराणाम्, तस्मात् क्षणिका उच्यन्ते। तदनुपपत्तिः। साध्यत्वात्। इह तु सिद्धेनातिदेशो भवति। तद्यथा गवा गवयस्य। न तु प्रदीपज्वालाबुद्धिशब्दानां क्षणिकत्वं प्रसिद्धम्। अतो न किञ्चिदेतत्। आह नैतदप्रसिद्धम्। कस्मात्? वृद्ध्यदर्शनात्। यदि हि अविनष्टायां ज्वालायामिन्धनान्तरे ज्वालान्तरमुत्पद्येत, वृद्धिः स्यात्। न तु दृश्यते। तस्मादनवस्थिता प्रदीपज्वाला। किञ्चाश्रयाभावात्। यदाश्रया ज्वालोत्पत्तिस्तदुत्पद्यमानैवासौ निरुणद्धीति न युक्तमस्या विनाश्रयेणावस्थातुम्। उपयुक्तेन्धनाया अवस्थानप्रसङ्गात्। किञ्चावरणोपनिपातेन प्रभाभेदप्रसङ्गात्। ज्वालानामवस्थानमिच्छत उपरिष्टादावरणोपनिपातात्प्रभायास्तन्तोरिव द्वैधीकरणं स्यात्। अनिष्टं चैतत्। तस्मान्न दीपे ज्वालानामवस्थितिरस्तीति। एतेन शब्दोऽपि प्रत्युक्तः। कथम्? तस्यापि यदि विनाशो न स्यात् द्रुतपवनाम्बुधाराभिघातात्प्रतिक्षणमपूर्वशब्दाविर्भावात्पूर्वशब्दाविनाशाच्च वृद्धिः स्यात्। अदृष्टा चासौ। किञ्च प्रत्यक्षत उपलब्धेः। पाण्युपघातजो हि शब्द उत्पत्तेरूर्ध्वं न भवतीति प्रत्यक्षसिद्धमिदम्। अभिव्यक्तेरितिचेन्न, नियमदर्शनात्। शब्दानां वाच्यवक्तृभेदभिन्नानां कारणनियमो दृष्टः। न चैतदस्ति समानेन्द्रियग्राह्याणाम्। किञ्च पृथक्श्रुतेः। अभिव्यक्तिकरणदेशाच्च पृथक् श्रूयते शब्द। न चैतदभिव्यक्तानां घटादीनां दृष्टमिति क्षणिकाः। बुद्धेस्तु प्रागेवोक्ता नाशहेतवः। तत्र यदुक्तं साध्यत्वात्प्रदीपज्वालाबुद्धिशब्दादीनां क्षणिकत्वस्य न संस्काराः क्षणिका इति, एतदयुक्तम्। उच्यते – यदुक्तं वृद्ध्यदर्शनादिति, अत्र ब्रूमः—अयुक्तमेतत्। कस्मात्? विशेषप्रतिपत्तेः। क्षणिकमित्युक्तपरिमाणोऽयं कालनिर्देश आश्रीयते। वृद्ध्यभावादिभ्यश्च कदाचिद्विनाशमात्रं प्रतीयते। स तु विनाश एकक्षणमवस्थितानां ज्वालानां भवति न पुनः क्षणद्वयं त्रयं वा पर्युषितनामित्यत्र हेतु········तस्माद्युक्तमप्येतदनुक्तम्। यत्पुनरेतदुक्तं इन्धनाऽनवस्थानाज्ज्वालानवस्थनमित्यत्र ब्रूमः—एतदप्यनुपपन्नम्, साध्यत्वात्। क्षणमवस्थितस्येन्धनस्य निरोधः, न पुनः········ इत्येतदप्रमाणकमाज्ञामात्रादगृहीतशिक्षाकः कः प्रतिपत्तुमुत्सहेत? यत्तूक्तं आवरणोपनिपातात्प्रभाभेदप्रसङ्ग इति—एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? उभयथाऽनुपपत्तेः। किं तावद् यस्य द्वैधीभावो दृष्टस्तदक्षणिकम्, आहोस्विद्यस्य न दृष्टः तत्क्षणिकमिति? किञ्चातः? तद्यदि

तावदेवमभ्युपगम्यते यस्य द्वैधीभावस्तदक्षणिकमिति—तन्तोरक्षणिकत्वप्रसङ्गः। अथ मतं यस्य द्वैधीकरणं न दृष्टं तत्क्षणिकमिति यथा किमित्युदाहार्यम्। कुतः? यस्मात् न ह्यनुदाहृतो वादः। एतेन शब्दवृद्धिः प्रत्युक्ता। यत्पुनरेतदुक्तं पाण्युपघातजशब्दानवस्थानादिति तत्र भवतैवोक्तं व्यङ्ग्यत्वादिति। यत्तूक्तं नियमदर्शनान्न व्यङ्ग्यः शब्द इति तदयुक्तम्। अनेकान्तात्। यथा शुक्लकृष्णौ नियमतः शुक्लकृष्णशब्दाभ्यां प्रत्याय्येते न च तौ तयोर्न व्यङ्ग्यौ। एवं शब्दस्यापि वक्तृवादिनियमः स्यात्। न चाव्यङ्ग्यः स्यात्। यदप्युक्तं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोर्देशभेदानुपपत्तेर्न व्यङ्ग्यः शब्द इति तदप्ययुक्तम्। कस्मात्? चक्षुर्वत्तत्सिद्धेः। तद्यथा चक्षुषो रूपस्य च देशभेदेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः, एवं शब्दस्यापि स्यात्। तस्मान्न शब्दोऽपि क्षणिकः। बुद्धेस्तु स्वाधिकार एव क्षणिकत्वहेतुनिराकरणं वक्ष्यामः। तत्र यदुक्तमन्ते क्षयदर्शनात् प्रदीपज्वालाबुद्धिशब्दवत्क्षणिकाः संस्कारा इत्येतदयुक्तमिति। आह—इतस्तर्हि प्रदीपादीनामन्येषां च भावानां क्षणिकत्वम्। कुतः? अवस्थाने हेत्वभावात्। नष्टश्चेदर्थोऽभ्युपगम्यते ननु प्राप्तमिदमुत्पन्नमात्रस्यास्य विनाशविघ्नो नास्तीति। तावत्येव विनाशेन भवितव्यम्। अथ सति प्रतिबन्धे न विनाशः स्यादिति कौटस्थ्यं सर्वभावानां प्राप्तमिति। उच्यते—न, कारणोपपत्तेः। अधिकारो हि सर्वभूतानां संस्कारवशादुत्पत्तिस्तदवस्थानमेव तेषामलं स्थितये। सति विनश्वरत्वे संस्कारोपयोगे तु स्थित्यपभ्रंश इत्यतोऽस्ति कञ्चित्कालमवस्थानं भावानाम्। न च कौटस्थ्यप्रङ्गः। किञ्चान्यत्। संततिविनाशप्रसंगात्। नंष्टुंश्चेदुत्पत्तिसमनन्तरं विनाश इष्यते सन्ततिरप्यन्ते क्षयदर्शनान्नंष्ट्री। तस्या अपि तथैव विनाशः प्राप्तः। ततश्च तडिद्विलसितवत्क्षणदृष्टनष्टस्य त्रैलोक्यस्याभावे संसारोच्छेदप्रसङ्गः। तस्मादयुक्तं नंष्टुरुत्पत्तिसमकालमेव विनाश इति। कारणावस्थानान्न दोष इति चेत् स्यान्मतमस्ति कारणं पूर्वोत्पन्नो भाव उत्तरस्योत्पत्तौ। स चाप्युत्तरस्य, इत्येवं सन्ततेरनुच्छेदः। विरोधिभावान्तरसंसर्गात्तूभतस्तथोत्पत्तेभ्रंश इति। एतदप्युक्तम्। कस्मात्? पूर्वहेतुत्यागात्। प्रागुक्तं येन नंष्टव्यमसौ मन्त्रौषधमंगलप्रयोगैरपि क्षणादूर्ध्वं नावतिष्ठते। साम्प्रतं तु नंष्ट्री संततिः कारणवशादेव तिष्ठतीति सोऽयं पूर्वहेतुत्यागः। विनाशहेत्वभावात्क्षणिकत्वमिति चेत् स्यादेतत्, नास्ति भावानां विनाशहेतोरुपलम्भ इति। अतः स्वाभाविकः प्रध्वंसः। तस्मादुत्पत्तिसमकालमसौ केन वार्यते? इदमप्ययुक्तम्। कस्मात्? अनभ्युपगमात्। को ह्येतदवमंस्यति अहेतुको विनाशः। किं तर्हि प्रागेवोक्तमर्थवशाद् भावानां स्थितिस्तदव········ विरोधिद्रव्यान्तरसम्बन्धेनाध्यात्मिकादिना भवतीति। विनाशस्य विनाशप्रसङ्गादयुक्तमिति चेत् यदि तर्ह्यभावोपि हेतुमान्परिकल्प्यते प्राप्तमस्यापि घटवद् विनाशित्वम्। अनिष्टं चैतत्। तस्मादहेतुको विनाश इत्येतदयुक्तम्। कस्मात्? व्यक्त्यपगमप्रतिज्ञानात्। भावविनाशिनं प्रति सत्यमेवायमुपालम्भः स्यात्। व्यक्त्यपगमस्तु नो विनाशः। स तु हेतुमत्त्वेन कथं विरोत्स्यत इति? तस्मान्न विनाशहेत्वभावात्क्षणिकं संस्कृतमिति।

इतश्च न क्षणिकम् । कस्मात् ? अग्रहणप्रसङ्गात् । इहाऽसतोऽग्रहणं दृष्टम् । तद्यथा द्वितीयस्य शिरस । क्षणादूर्ध्वं च ते घटादयो न भवन्ति । तस्मात्तेषामप्यग्रहणप्रसङ्गः । तत्सदृशोत्पत्तेरदोष इति चेत् स्यादेतत्—उत्पत्तिसमकालं निरोधेऽपि घटस्याऽन्यस्य तादृशस्योत्पत्तिर्भवति, तन्निरोधेऽन्यस्येत्येवमविच्छेदेन ग्रहणं भवति, ज्वालानदीस्रोतोऽनुसन्धानवदिति । एतदप्ययुक्तम् । कुतः ? कारणाभावात् । स्यादेतदेवं यदि तदानीं सदृशोत्पत्तौ कारणं स्यात् । न तु तदस्ति, प्रागेव निरोधात् । तस्मादसदेतत् । पूर्वोत्पन्नस्य कारणभावात्तत्सिद्धिरिति चेन्न, उपादानात् तन्निष्पत्तिप्रसिद्धेः । इहोपादानान्मृत्पिण्डकसंज्ञकाल्लोके घटनिष्पत्तिः प्रसिद्धा । न च तदानीमस्ति मृत्पिण्डः । किञ्च क्रमाऽनुपलब्धेः । इह शिविकादीनामनुक्रमेण घटोत्पत्तिरुपलभ्यते । न चानुक्रमोऽस्ति । किञ्च कारकसामग्र्याभावात् । इह कुम्भकारदण्डचक्रसूत्रोपलसामग्र्याद् घटनिष्पत्तिः प्रसिद्धा । न चास्त्येषां तत्र सम्भवः । किञ्च तदुत्पाद्यान्तरोत्पाद्यस्यानिष्पत्तेः । इह घटाद् घटे निर्वृतिर्न प्रसिद्धा लोके । न चाऽप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः । बुद्धिशब्दवदितिचेत् स्यादेतत् यथा बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरं सदृशं सूते, शब्दश्च शब्दान्तरमेवं घटाद् घटनिष्पत्तिर्भवति इति । एतदप्यसत् । कस्मात् ? सिद्धं हि बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरं शब्दाच्च शब्दान्तरं जायत इत्येतदप्यस्माकं प्रसिद्धम् । तस्मात्प्रलापमात्रमेतत् । तत्र यदुक्तं सदृशोत्पत्तेः सोऽयमिति ग्रहणमविच्छिन्नं क्षणिकत्वेऽपि भावानामित्येतदयुक्तम् । किञ्चान्यत् । कार्योत्पत्तिकाले कारणनिवृत्तेः । यदा न कारणमस्ति न तदा कार्यमुत्पद्यते द्वयोर्घटयोर्युगपदुपलब्धिप्रसङ्गात् । यदा तु कार्यमुत्पद्यते तदा कारणं निरुद्धमिति निर्बीजः प्रादुर्भावः प्राप्नोति । अनिष्टं चैतत्; सततोत्पत्तिप्रसंगात् । अनुत्पन्ने हेतुसामर्थ्याददोष इति चेत् स्यात्तदनुत्पन्ने कार्ये कारणेन प्रयोजनम् । उत्पन्ने तद्व्यापारानर्थक्यात् । अस्ति चाऽनुत्पन्ने कार्ये कारणम् । अतो न निर्बीजः प्रादुर्भाव इति । एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? अभावेऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । अंग तावत् अणुशो विभज्यन्तामग्नौ वा क्षिप्यन्ताम्, तन्तवस्तदापि प्रसिद्धविनाशानामभूवन्निति (?) शक्यमुपदेष्टुं, यदि तेभ्यः पट उत्पद्यते । तस्माद् भ्रान्तिरियम् । युगपत्कार्यकारणयोरुत्पत्तिनिरोधौ तुलानतोन्नतवदिति चेत् स्यादेतद्यथा नामोन्नामौ तुलान्तर्या (?) यौगपद्येन भवत एवमुत्पत्तिविनाशौ कार्यकारणयोरिति । तदप्ययुक्तं । कस्मात् ? कार्यकारणभावाऽदर्शनात् । किमिदमुदके निमज्जद्भिः फेनमवलम्ब्यते ? तुल्या तस्य ह्येकस्यावनतिरवस्था तद् द्वितीयस्योन्नतये हेतुर्भवति, भवतः कारणविनाशः कार्योत्पत्तिश्च यौगपद्येन भवतः । न च तयोर्हेतुमद्भावः शक्यः कल्पयितुम् । विशेषग्रहणात् क्षणिकत्वसिद्धिरिति चेत् स्यान्मतम्—यद्युत्पन्नमात्रोपरतिर्नास्ति भावानां किंकृतः शरीरादीनां प्राणापानश्रमरूपादिकृतोऽञ्जाश्मप्रभृतीनां च शीतोष्णस्पर्शकृतो भेदः ? घण्टादीनां चाशब्दकानां पश्चाच्छब्दवतां ग्रहणम्, तस्मादनिषिद्धः क्षणभङ्ग इत्येतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? उक्तत्वात् । उक्तमत्रोत्तरं कारणाऽभावेऽनुत्पत्तिप्रसङ्गादिति । किञ्च संस्थानान्तराऽनुपलब्धेः । न ह्यत्र पूर्वसंस्थानविपरीतं संस्थानान्तरं गृह्णीमहे । तस्माद-

त्रिशिष्टास्त इत्येवमवगम्यताम्। विशेषग्रहणन्त्ववस्त्वन्तरानुग्रहे शक्त्यन्तराविर्भावात्। उक्तं च—"व्यक्तेरपगमोऽभीष्टः पूर्वसंस्थानहानितः। तदभावादसिद्धोऽस्य विशे[1] ...॥१०॥

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

अन्वयः—व्यक्तम्, तथा, प्रधानम्, (उभयम्, एव), त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः, सामान्यम्, अचेतनम्, (तथा), प्रसवधर्मि, (अस्ति); पुमान्, तद्विपरीतः, तथा, च, (वर्तते) ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—व्यक्तम् बुद्धि से लेकर पृथिवी तक के तत्त्व, तथा=और, प्रधानम्=प्रकृति, (उभयम्=दोनों, एव=ही), त्रिगुणम्=त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तम रूप, अविवेकि=अपृथक् या अभिन्न, विषयः=विषय अर्थात् भोग्य, सामान्यम्=सर्व-साधारण (वेश्या के समान सभी पुरुषों के भोग्य), अचेतनम्=जड़, (तथा=और) प्रसवधर्मि=परिणामी, (अस्ति=है); पुमान्=पुरुष, तद्विपरीतः = उन दोनों से (उक्त बातों में) विपरीत, तथा=वैसा (जैसा कि पीछे की कारिका में प्रधान और व्यक्त को बतलाया गया है), च=भी, (वर्तते=है) ॥ ११ ॥

अर्थः—व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही त्रिगुणात्मक (तीनों गुणों से बने हुए), अपृथक् या अभिन्न, (पुरुषों के) भोग्य, सभी पुरुषों के लिये समान, जड़ तथा परिणामी (अर्थात् कुछ न कुछ उत्पन्न करने वाले) हैं। पुरुष उन दोनों से (उक्त बातों में) विपरीत तथा (पीछे की कारिका में बतलाये गये अव्यक्त तथा व्यक्त के) सदृश भी है ॥ ११ ॥

त० प्र०—पूर्वस्यां कारिकायां व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तम्, सम्प्रति साधर्म्यमुच्यते, यदुक्तं 'सरूपञ्च'। व्यक्तं तथा प्रधानम् उभयमेव 'त्रिगुणम् त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि यस्मिन् तत् त्रिगुणम्। त्रिगुणेभ्यः अपृथग्भूतमित्यर्थः। दृश्यते हि लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमिति, कृष्णेभ्यः तन्तुभ्यः कृष्णः एव पटः उत्पद्यते। एवं त्रिगुणस्वरूपात् प्रधानात् त्रिगुणात्मकमेव व्यक्तम् उत्पद्यते। 'अविवेकि' व्यक्तं तथा अव्यक्तम्। इदं व्यक्तम्, इदम् अव्यक्तं तथा इमे गुणाः इति विवेको न सम्भवति। ये गुणाः तदव्यक्तं यदव्यक्तं ते च गुणाः। एवमेव ये गुणाः तद् व्यक्तं यद्व्यक्तं ते च गुणाः इति। गुणेभ्यो व्यतिरिक्तं न चास्ति व्यक्तं तथा अव्यक्तम्। प्रधानं गुणाभिन्नमेव। प्रधानस्य कार्यत्वाद् व्यक्तमपि तथा। व्यक्ताव्यक्तयोः गुणेभ्यः व्यतिरिक्तः निर्देशः न सम्भवतीति। तथा 'विषयः' भोग्यमित्यर्थः व्यक्तम् अव्यक्तञ्च, सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात्। तथा 'सामान्यं' व्यक्तमव्यक्तञ्च। नर्तकीव व्यक्तमव्यक्तञ्च सर्वपुरुषाणां समानरूपेण

1–Hre a considerable portion is left blak and it is apparent that discussion on Tne Karikas XI and XII Nas been left out.

ग्राह्यम् अथवा घदादिवदनेकैः पुरुषैः गृहीतमित्यर्थः। 'अचेतनं' व्यक्तमव्यक्तञ्च, सुखदुःखमोहान् न चेतयतीत्यर्थः। वस्तुतस्तु गुणमयत्वात् गुणपरिणामत्वाच्च अव्यक्तं तथा व्यक्तं जडमेव। तथा 'प्रसवधर्मि' व्यक्तं तथा अव्यक्तञ्च। प्रसवधर्मि परिणामि चेत्यर्थः। सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यते इति भावः। प्रकृतेस्तु केवलं विरूपपरिणामः, पञ्चमहाभूतानाम् एकादशेन्द्रियाणाञ्च केवलं सरूपपरिणामः, अन्येषां सरूपपरिणामः विरूपपरिणामश्च। एभिरव्यक्तं सरूपं-यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति।

इदानीं 'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्'—इत्येतद् विविच्यते—ताभ्यां व्यक्ताव्यक्ताभ्याम् उक्तेषु विषयेषु विपरीतः विरुद्धधर्मः इति तद्विपरीतः पुमान्, तद्यथा—त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तञ्च, अगुणः पुरुषः। अविवेकि व्यक्तमव्यक्तञ्च, विवेकी पुरुषः, गुणेभ्योऽस्य विवेकः कर्तुं शक्यः इमे गुणाः अयं पुरुषः इति। विषयो व्यक्तमव्यक्तञ्च अविषयः पुरुषः भोक्तृत्वात्। तथा सामान्यं व्यक्तमव्यक्तञ्च, असामान्यः पुरुषः। अचेतनं व्यक्तमव्यक्तञ्च, चेतनः पुरुषः। प्रसवधर्मि व्यक्तमव्यक्तञ्च, अप्रसवधर्मी पुरुषः, न हि पुरुषात्किञ्चिदुत्पद्यते। तस्मादुक्तं-'तद्विपरीतः पुमानि'ति। यदुक्तं—'तथा च पुमान्', तत् पूर्वस्यामार्यायां यथा प्रधानं व्यक्तञ्च व्याख्यातं तथाऽपि आंशिकरूपेण पुरुषः, अर्थात् एकत्वं सक्रियत्वञ्च विहाय अन्येषु विषयेषु पुमान् अव्यक्तेन तुल्यः, तद्यथा—तत्र हेतुमद् व्यक्तमहेतुमत् प्रधानम्; तथा च पुमानप्यहेतुमान् अनुत्पाद्यत्वात्। अनित्यं व्यक्तं, नित्यं प्रधानम्; तथा च नित्यः पुमान्। अव्यापि व्यक्तं, व्यापि प्रधानम्; तथा च व्यापी पुमान्, सर्वगतत्वात्। व्यापकत्वमत्र भोग्यत्वभोक्तृत्वसम्बन्धरूपम् आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तम्, तथा च पुमानप्यनाश्रितः, कारणान्तरराहित्यात्। लिङ्गं व्यक्तमलिङ्गं प्रधानम्; तथा च पुमानप्यलिङ्गः कारणान्तरगमकत्वाभावात् कारणान्तरे लीनत्वाभावाद्वा। सावयवं व्यक्तं निरवयवमव्यक्तम्; तथा च—पुमान् निरवयवः। किञ्च परतन्त्रं व्यक्तं स्वतन्त्रमव्यक्तम्; तथा च पुमानपि स्वतन्त्रः आत्मनः प्रभवतीत्यर्थः। सम्प्रति व्यक्तेनापि तुल्यं विविच्यते सक्रियं व्यक्तमक्रियं प्रधानम्; तथा च पुमानपि सक्रियः संसरणशीलत्वात्। अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तम्, तथा च पुमानप्यनेकः 'पुरुषबहुत्वं सिद्धमिति, निर्देशात्। इत्थं पुमान् तद्विपरीतस्तत्सदृशश्चापि वर्तते इति भावः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—प्रसवधर्मि—व्यक्त तथा अव्यक्त परिणामी हैं। परिणामी का परिणाम दो तरह का होता है—सरूपपरिणाम और विरूपपरिणाम। सरूपपरिणाम नाश की अवस्था में होता है, जब कि कार्य अपने कारण में विलीन होता है। विरूपपरिणाम सृष्टि की अवस्था में होता है, जब कि कारण से कार्य उत्पन्न होता है। कार्य के कारण

के रूप में चले जाने को सरूप परिणाम तथा कारण को कार्य के रूप में कुछ बिगड़ जाने को विरूपपरिणाम कहते हैं।

'तथा च पुमान्'—दशवीं कारिका में अव्यक्त को व्यक्त से विपरीत बतलाया गया है। पुरुष उस कारिका में बतलाये गये व्यक्त के सदृश है और अव्यक्त के भी। वह (पुरुष) सक्रिय तथा अनेक होने के कारण व्यक्त के समान है और बाकी बातों में अव्यक्त के समान है। यही है रहस्य 'तथा च पुमान्' इस पद का। विशेष के लिये द्रष्टव्य टीका ॥ ११ ॥

विशेषः—११ वीं कारिका की युक्तिदीपिका नहीं मिलती।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥

अन्वयः—गुणाः, प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः, प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः, अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः, च, (सन्ति) ॥ १२ ॥

शब्दार्थः - गुणाः=सत्त्व, रज एवं तम ये तीनों गुण, प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः=(क्रमशः) सुखात्मक, दुःखात्मक तथा मोहात्मक (हैं); प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः=प्रकाश करना, प्रवर्तन (सञ्चालन) करना एवं नियमन (अवरोध) करना क्रम से इनका प्रयोजन कार्य है; अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः=(ये) एक दूसरे को दबाकर बढ़ने वाले, (अन्योन्याभिभवाः), एक दूसरे के आश्रय (सहायक) बनने वाले एक दूसरे के (सरूप) परिणाम में सहायता करने वाले तथा स्त्री पुरुष के समान आपस में संयोग स्वभाववाले अर्थात् सहचारी होते हैं ॥ १२ ॥

अर्थः—सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण क्रमशः सुखात्मक, दुःखात्मक एवं मोहात्मक हैं (अर्थात् सुख-दुःख तथा मोह ही इनका स्वरूप है)। प्रकाश करना, प्रेरणा करना एवं अवरोध करना क्रम से इनका कार्य है (अर्थात् सत्त्वगुण से प्रकाश=नाना प्रकार के कार्य करने का ज्ञान होता है, और रजोगुण से नानाकार्य करने में प्रवृत्ति होती है, तथा तमोगुण से कार्य करने की प्रवृत्ति रुक जाती है)। और ये तीनों गुण एक-दूसरे को दबाकर बढ़ने वाले, एक-दूसरे के सहायक बननेवाले, एक-दूसरे के (सरूप) परिणाम (प्रलयकालीन परिणाम या प्रकृति—परिणाम) में सहायता करनेवाले तथा (स्त्री-पुरुष के समान) आपस में संयोग स्वभाव वाले अर्थात् सहचारी होते हैं ॥ १२ ॥

त० प्र०—पूर्वस्यां कारिकायां त्रिगुणमित्युक्तम्, तत्र के ते त्रयो गुणाः, किञ्च तेषां लक्षणमिति जिज्ञासायामुच्यते—**प्रीत्येति**। गुणाः सत्त्वरजस्तमांसीत्यर्थः, प्रीत्यात्मकाः अप्रीत्यात्मकाः तथा विषादात्मकाश्च। प्रीतिः सुखम्, सुखात्मकः सत्त्वगुणः। अप्रीतिः

दुःखम्, अप्रीत्यात्मको रजोगुणः। विषादोः मोहः, मोहात्मकस्तमोगुणः। अनेन गुणानां स्वरूपमुक्तं भवति। साम्प्रति प्रयोजनमुच्यते प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अर्थशब्दोऽत्र सामर्थ्यवाची। सत्त्वं प्रकाशार्थम्, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः। रजः प्रवृत्त्यर्थम्, प्रवृत्तौ समर्थमित्यर्थः। तमोगुणः नियमार्थम्, नियमने स्थितौ समर्थमित्यर्थः। सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः प्रकाशक्रियास्थितिशीलाः इति यावत्।

प्रयोजनमुक्त्वा क्रियामाह—'अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च' इति। वृत्तिश्चात्र क्रिया। 'द्वन्द्वादौ तदन्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति न्यायात् आदौ श्रूयमाणस्य 'अन्योन्य' पदस्य अन्ते श्रूयमाणस्य 'वृत्ति' पदस्य च प्रत्येकमभिसम्बन्धो बोध्यः। **'अन्योन्याभिभववृत्तयः'** इति एषु गुणेषु अर्थवशात् स्वकार्यजननोन्मुखेन अन्यतमेन अन्यौ द्वौ अभिभूयेते। तथा हि यदा सत्त्वं स्वकार्योन्मुखं भवति तदा रजस्तमसी अभिभूय स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेन अवतिष्ठते। एवं रजः सत्त्वतमसी अभिभूय अप्रीतिप्रवृत्यात्मना धर्मेण, तथा तमः सत्त्वरजसी अभिभूय विषादस्थित्यात्मना धर्मेण अवतिष्ठते। **'अन्योन्याश्रयवृत्तयः'**- आश्रयत्वमत्र उपकारकत्वं बोध्यम् न तु आधाराधेयभावरूपम्। यथा त्रिदण्डी परस्पराश्रया घटादीन् धारयति तथैव इमे गुणाः परस्परम् आश्रिता सन्तः एव सर्वकार्यकरणसमर्थाः। अथवा यथा विद्युदा, सञ्चालनयन्त्रेण तथा अवरोधकयन्त्रेण च सज्जितमेव धूमशकटं स्वकार्ये प्रभवति, न च परस्परापेक्षामुपेक्ष्य, तथैव गुणानामप्याश्रयत्वं बोध्यम्। **'अन्योन्यजननवृत्तयः'**—अन्यतमः अन्यतमं जनयति--परिणमयतीत्यर्थः। जननं चात्र गुणानां सदृशरूपः परिणामः एव। वस्तुतस्तु 'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' इति पदस्य 'अन्योन्यजननवृत्तयः' इति च पदस्य अभिधेयतात्पर्यमेकमेव। स्वीकारे तु समानाभिप्राये पुनरुक्तिदोषः। अतः 'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' इत्यनेन विसदृशे परिणामे अन्यतमोऽन्यतममुपकरोतीत्यभिहितम्, अत्र तु सदृशे परिणामेऽन्यतमो गुणोऽन्यतमं गुणमपेक्षते इत्युक्तमिति न पौनरुक्त्यम्। **'अन्योन्यमिथुनवृत्तयः'**- अन्योन्यसहचराः, अविनाभाववृत्तयः इति यावत्। चात्र समुच्चये उक्तञ्च--

अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिनः।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
तमसश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसी उभे।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते॥
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते॥ इति॥

—(देवी भागवयम्, ३।८।)

गुणानां सहचारित्वस्योदाहरणं यथा—काचित् चन्द्रानना सुप्रियरूपशीला। अयं सत्त्वगुणः उच्यते। एतत्सत्त्वपरिणतं रूपं भर्तुः पित्रादीनाञ्च प्रीतिं करोति। सैव च सपत्नीनां

शोकं जनयति। अयं रजोगुणः उच्यते। सैव च पुनः कामुकादीनां मोहं जनयति। अयं तमोगुणः उच्यते। इत्थं त्रयोऽपि सहचारिभावेनापि एकत्र अवलोक्यन्ते इति॥ १२॥

टिप्पणी—कारिका की दूसरी पंक्ति में आया हुआ 'अन्योऽन्य' तथा 'वृत्ति' पद का प्रत्येक पद के साथ अन्वय है। जैसे—'अन्योऽन्याभिभववृत्तयः' आदि॥ १२॥

विशेषः—१२ वीं कारिका की भी युक्तिदीपिका नहीं मिलती।

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ १३॥

अन्वयः—सत्त्वम्, एव, लघु, प्रकाशकम्, इष्टम्; रजः, (एव), चलम्, च, उपष्टम्भकम्, (इष्टम्); तमः, (एव), गुरु, (तथा), वरणकम्, (इष्टम्); अर्थतः, (एषाम्), प्रदीपवत्, वृत्तिः॥ १३॥

शब्दार्थः—सत्त्वम्= सत्त्वगुण, एव = ही, लघु = हल्का, प्रकाशकम् प्रकाशक, इष्टम्=माना गया है। रजः=रजोगुण, (एव=ही), चलम्=चञ्चल, उपष्टम्भकम् उत्तेजक, (इष्टम्=अभीष्ट है)। तमः तमोगुण, (एव=ही), गुरु=भारी, वरणकम्=अवरोधक (ढकनेवाला), (इष्टम् = माना गया है)। अर्थतः = प्रयोजन की सिद्धि के लिए, (एषाम्=इन गुणों का), प्रदीपवत्=प्रदीप के समान, वृत्तिः=व्यापार होता है॥ १३॥

अर्थः—सत्त्व गुण ही हल्का तथा प्रकाशक है, (सत्त्व गुण की अधिकता में ही, शरीर में हल्कापन पाया जाता है और इन्द्रियों से अपने-अपने विषय का ज्ञान भी शीघ्रता से होता है)। रजोगुण ही चञ्चल तथा प्रवर्तक (अर्थात् कार्य करने के लिये प्रेरित करने वाला) माना गया है। तमोगुण ही भारी तथा अवरोधक माना गया है (तमोगुण से ही शरीर तथा इन्द्रियों में भारीपन और विषय ज्ञान की रुकावट देखी जाती है)। (पुरुष के भोग एवं मोक्ष रूप एक ही) प्रयोजन की सिद्धि के लिए तीनों ही गुण प्रदीप के समान मिल कर कार्य करते हैं॥ १३॥

त० प्र०— किञ्चान्यत्—'**सत्त्वं लघु प्रकाशकमिति**'—सत्त्वमेव लघु प्रकाशकमिष्टं सांख्याचार्यैः। शरीरे यदा सत्त्वं प्रबलं भवति तदा अङ्गानि लघूनि भवन्ति बुद्धीन्द्रियाणि च झटिति अर्थप्रकाशम् अर्थज्ञानमित्यर्थः कुर्वन्ति। सत्त्वगुणधर्मात् लाघवादेव अग्नेः उर्ध्वज्वलनं तथा वायोः तिर्यग्गमनं भवति। '**उपष्टम्भकं चलञ्च रजः**' रजोगुणः चलं चञ्चलमित्यर्थः, अत एव उपष्टम्भकम्—उपष्टम्नातीत्युपष्टम्भकमुद्योतकमित्यर्थः। सत्त्वतमसी स्वयमुदासीने। ते रजसा औदासीन्यात् प्रच्याव्य स्वकार्ये प्रयत्नं कार्येते। रजसः चलतया सर्वदा प्रवृत्तिशीलत्वेन प्रवाहस्य तदन्तर्गततृणादिचालकत्वमिव रजसोऽपि सत्त्वतमसोः प्रवर्तकत्वं सङ्गतमिति सुषमाकाराः। रजोवृत्तिः स्वकार्ये साभिमानां प्रवृत्तिं करोति तथा चलचित्तो भवति। '**गुरुवरणकमेव तमः**' तमः गुरु अत एव वरणकम् आच्छादकं

भवति। अनेन रजसः प्रवृत्तिः प्रतिबध्यते। यदा तमः प्रबलं भवति तदा अङ्गानि गुरूणि भवन्ति तथा इन्द्रियाणि आवृतानि स्वार्थेषु असमर्थानीत्यर्थः जायन्ते। यदि एते गुणाः परस्परं विरोधशीलाः सन्ति तर्हि एषाम् अन्योन्यमेलनमेव तावदसम्भवं, मिलित्वा एकार्थसम्पादनन्तु दूरतो निरस्तमित्याशङ्कायामुच्यते—'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' अर्थतः पुरुषार्थतः इति यावत्; पुरुषस्य भोगापवर्गार्थमित्यर्थः, एषां गुणानां वृत्तिः व्यापारः, प्रदीपवत् प्रदीपेन तुल्यं प्रदीपवत् भवति। यथा प्रदीपः परस्पर-विरुद्धतैलाग्निवर्तिसंयोगादर्थप्रकाशान् जनयति, तथैव परस्परं विरुद्धानि सत्त्वरजस्त-मांस्यपि पुरुषस्य भोगापवर्गरूपमर्थं निष्पादयन्ति। पुरुषस्य भोगमोक्षयोः कारणभूतम् अदृष्टमेव त्रयाणां गुणानां मिलित्वा कार्यनिष्पादने हेतुरिति ध्वनितमिति ॥१३॥

टिप्पणी—'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः'— तीनों गुण स्वभावतः एक-दूसरे के विरोधी हैं। किन्तु पुरुष के भोग एवं अपवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये ये मिलकर उसी प्रकार से कार्य करते हैं, जैसे दीपक। अग्नि, बत्ती और तेल का विरोधी है। फिर भी उसके साथ मिलकर बत्ती और तेल वस्तुओं को प्रकाशित करने का कार्य करते हैं। ठीक यही बात गुणों के भी मिलकर कार्य करने में समझनी चाहिए।

परस्पर विरोधी गुणों के मिलकर कार्य करने में वाचस्पति मिश्र ने एक दूसरा उदाहरण भी दिया है जो सर्वांश में समान उदाहरण है—"यथा च वातपित्तश्लेष्माणः परस्परविरोधिनः शरीरधारणलक्षणकार्यकारिणः। एवं सत्त्वरजस्तमांसि मिथो विरुद्धान्य-प्यनुवर्त्स्यन्ति स्वकार्यं करिष्यन्ति च।" अर्थात् जैसे परस्पर विरोधी वात, पित्त और कफ शरीर को धारण करने का कार्य करते हैं, उसी प्रकार सत्त्व रज और तम भी परस्पर विरोधी होने पर भी आपस में अनुकूल रहते हुए अपना कार्य करते हैं ॥ १३ ॥

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।

गुरु वरणकमेव तमः

युक्ति०—एवशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। सत्त्वं लघु प्रकाशकमेवेष्टम्। यत् किञ्चित्कार्यकरणे लघु प्रकाशञ्च तत्सत्त्वरूपमिति प्रत्यवगन्तव्यम्। तत्र कार्यस्य तावदुद्-गमनहेतुर्धर्मो लघुत्वम्, करणस्य वृत्तिपटुत्वहेतुः। प्रकाशस्तु पृथिवीधर्मस्य च्छायालक्षणस्य तमसस्तिरस्कारेण द्रव्यान्तरप्रकाशनम्। करणस्यापि ग्रहणं सङ्कल्पाभिमानाध्यवसाय-विषयेषु यथास्वं प्रवर्तमानम्। उपष्टम्भकं चलमेव रजः। यः कश्चिदुपस्तम्भश्चलता चोपलभ्यते तद्रजोरूपमित्यवगन्तव्यम्। तत्रोपस्तम्भः प्रयत्नः, चलता क्रिया। सा च द्विविधा, परिणामलक्षणा प्रस्पन्दलक्षणा च। तत्र परिणामलक्षणया सहकारिभावान्तरानु-गृहीतस्य धर्मिणः पूर्वधर्मात्प्रच्युतिः। प्रस्पन्दलक्षणा प्राणादयः कर्मेन्द्रियवृत्तयश्च वचनाद्याः। बाह्यानां द्रव्याणामुत्पतननिपतनभ्रमणादीनि। गुरु वरणकमेव तमः। यत्किञ्चिद् गौरवं

वरणं चोपलभ्यते तत्तमोरूपमिति प्रत्यवगन्तव्यम् । तत्र गुरुत्वं कार्यस्याधोगमनहेतुर्धर्मः करणस्य वृत्तिमन्दता । वरणमपि कार्यगतं च द्रव्यान्तरतिरोधानम् । करणगता चाशुद्धिः प्रकाशप्रतिद्वंद्विभूता । इत्येष सत्त्वादीनामव्यतिकरेण स्वभावोपलम्भो यत एषां नानात्वमवसीयते । यत्पुनरेतदुक्तं स्त्रीक्षत्रमेघेषु स्वभावव्यतिकरोपलम्भादेको गुणस्त्रिरूपः, सर्वे वा सर्वरूपा, रूपान्तरस्य वा सत उत्पत्तिरिति अत्र ब्रूमः न, गुणभूतस्य भक्तित उपकारात्प्रधानरूपोपपत्तेः । इह गुणभूतस्य भक्तित प्रधानोपकारित्वे सति भक्तितस्तद्रूपोपपत्तिर्दृष्टा । तद्यथा क्षीरादेः । तद्धि मुखादिषु दृष्टप्रतिलब्धप्रवृत्तिः पित्तस्य स्वेन रूपेणाङ्गभावं गच्छंस्तस्योपकारात्तिक्तं सम्पद्यते । न च तथा सदेव । सत्त्वमपि स्त्रैणगुणभूतं सपत्नीरजसः स्वेन रूपेणाङ्गभावं गच्छंस्तस्योपकाराद् दुःखं सम्पद्यते । तमसो मोहः । एवं क्षात्रं रजः आर्यदारलक्षणस्य सत्त्वस्य दस्युलक्षणस्य च तमसः । एवं मेघ्यं तमः कार्षिके सत्त्वस्य प्रोषितदयितायाश्च रजसः । तस्मान्नास्ति गुणानां स्वभावव्यतिकरः । किञ्चान्यत् । अगुणभूतानां स्वभावग्रहणात् । यदा चैतेऽङ्गभावमुपगच्छन्तो मध्यस्थास्तुल्यसंस्काराश्च प्रतिपद्यन्ते तदा स्वरूपेणैव । तस्मादसंकीर्णं गुणरूपम् । आह—न, सन्देहात् । उभयथा हि रूपान्तरग्रहणं क्षीरादिषु दृष्टम् । ताद्रूप्यात्तैश्च विपरिणतानां गुणभावाच्च । यथोक्तं तत्र कथमिदमेकान्तेन निश्चीयते गुणभावात्सत्त्वादीनां रूपान्तरग्रहणं न पुनस्ताद्रूप्यादेवेति ? उच्यते—ग्रहणविकल्पोपलम्भात् । यदि स्त्रैणं सत्त्वं ताद्रूप्यादेव सपत्न्या तेन गृह्यते तेन भर्तुरपि तथा ग्रहणप्रसंगो मध्यस्थानां तुल्यसंस्काराणां च । अनिष्टं चैतत् । तस्माद् भावतोऽयं गुणविकल्पोपलम्भः । किञ्चान्यत् । उत्तरकालं स्वरूपग्रहणान्निवृत्तानुशयाभिश्चैकार्थतामुपगताभिः सपत्नीभि स्वेनैव रूपेण स्त्रैणस्य सत्त्वस्य ग्रहणमुपलभ्यते । स्वगृहसमवस्थितैश्चार्यदारैः क्षत्रियाणाम् । निष्पन्नशस्यैश्च कृषीवलैर्मेघानाम् । तस्माद् भाक्तोऽयं ग्रहणविकल्पोपलम्भः । तस्माद्युक्तमेतत् अन्योऽन्यजननवृत्तयो गुणाः, न च संकीर्णस्वभावा इति ।

यत्पुनरेतदुक्तम् अन्योन्यमिथुनत्वानुपपत्तिः, सत्त्वस्येतरविरोधात्, इत्यत्र ब्रूमः—अस्ति चायं विरोधो गुणानां

प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

किमुपपद्यत इति वाक्यशेषः । तद्यथा वर्तिज्योतिस्तैलानां परस्परविरोधेऽपि प्रदीपकरणैककार्यसाधनभावोपगतानां वृत्तय एकत्र संमूर्छिताः सहभावं प्रकृष्टमपि कालमनुभवन्ति एवं सत्त्वरजस्तमसां सति विरोधे महदाद्येककार्यसाधनभावोपगताना वृत्तय एकत्र मूर्छिताः सह भवन्तीति । युक्त्यभावादसिद्धिरिति चेत् स्यान्मतम् - का पुनरत्र युक्तिर्येन विरोधिनामेककार्यता भवतीति ? उच्यते—गुणप्रधानभावात् । गुणभूतो हि प्रतियोगी प्रधानभूतेन तदुपकारकत्वान्न विरुद्धयत इति संसर्गेण वर्त्तितुमुत्सहते । तुल्यबलयोस्तु द्वयोः सत्यमेव सहावस्थानस्य नास्ति सम्बन्धः । तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति रूपातिशया वृत्त्यति-

शयाश्च विरुध्यन्ते। सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते[१]। (योग सू० भा० ३-१३) तद्यथा जलाग्नी पचनीयस्वेदनीयेषु कार्येषु, छायातपौ च सूक्ष्मरूपप्रकाशने, शीतोष्णे च प्रजावस्थितौ। एवं तत्सिद्धः प्रदीपवत्सत्त्वरजस्तमसां विरोधेऽपि सहभावः।

आह, यदुक्तं लघ्वादिभावस्वभावभेदाद् गुणनानात्वमित्यत्र ब्रूमः

भिन्ना लक्षणभेदाश्चेन्मिथः सत्त्वादयो गुणाः।
तर्हि लक्षणयुक्तत्वात्षड्गुणाः प्राप्नुवन्ति ते॥

यदि लघ्वादिलक्षणभेदात्सत्त्वादीनां नानात्वं मिथोऽभ्युपगम्यते तेन लघुत्वप्रकाशत्वयोरपि भेदोऽस्ति गुणद्वयप्रसंगः। एवमुपस्तम्भचलताभ्यां गौरववरणाभ्यां च द्वयं द्वयमिति षड् गुणाः प्राप्नुवन्ति। अथ मतं लघुत्वप्रकाशयोरभेद इति पृथगनभिधानं प्राप्तम्। तद्भेदे वा ग्रहणभेदमनिच्छतः प्राप्तो लघुत्वादिभेदेऽपि गुणाभेदस्तथा चैको गुण इति प्राप्तम्। यत्पुनरेतदुक्तं गुणभूतस्य भक्तित उपकारात्प्रधानरूपापत्तिरिति,

अङ्गभावं व्रजत्सत्त्वं दुःखं सम्पद्यते यदि।
वैरूप्यस्योपसंहारात्पूर्वदोषानिवर्तनम्॥

यदि हि रजसोऽङ्गभावमुपगच्छत्सत्त्वमुपकारात्तद्रूपं भवति तेन प्रतिज्ञातस्य रूपान्तरस्योपसंहारात्त्रैरूप्यं गुणानामेकैकस्य प्राप्तम्। रूपान्तरस्य वा सत उत्पत्तिः। तस्मात्पूर्वदोषापरिहारात्प्रतिज्ञामात्रमेवायं समाधिः। यदप्युक्तं अगुणभूतानां स्वभावग्रहणादिति।

अङ्गभावानपेक्षं तु ग्रहणं नास्ति ऋषेरपि।

परमर्षेरपि गुणानां कार्यमेव प्रत्यक्षं न शक्तिमात्रेणावस्थानमसंवेद्यत्वात्। तत्र चाङ्गाङ्गिभावगमनमनिवार्यम्। तस्माद्दोषमनिच्छता गुणा एव परित्याज्याः। नास्ति वा सुदूरमपि गत्वा तत्संकरदोषपरिहारः।

उच्यते यत्तावदुक्तं लक्षणभेदाद् गुणनानात्ववादिनो लक्षणद्वययोगादेकैकस्य गुणषट्त्वप्रसंग इति तन्न। कस्मात्? द्वयोर्गुणप्रधानभावानुपपत्तेः। इहार्थान्तरस्यार्थान्तरेण गुणप्रधानभावो भवति। यथा स्त्रीक्षत्रमेघेषु व्याख्यातम्। न च लघुत्वप्रकाशयोरुपस्तम्भचलनयोर्गौरववरणयोश्च मिथो गुणप्रधानभावोऽस्ति, तदनर्थान्तरं धर्मास्त इति नास्ति षट्त्वप्रसंग इति। किञ्च अप्रसिद्धत्वात्। न ह्येतत्क्वचित्प्रसिद्धम्, यथा यावन्तो धर्मास्तावन्तो धर्मिण इति। न चाप्रसिद्धेन व्यवहारः। किञ्च पृथक्त्वैकान्तप्रसङ्गात्। लक्षणभेदान्नानात्वप्रतिज्ञस्य सर्वार्थानां स्वसामान्यलक्षणयोगात्स्वतोऽर्थान्तरमिति पृथक्त्वैकान्तप्रसंगः। अथैतदनिष्टं न तर्हि वक्तव्यं लक्षणभेदाद् गुणानां षट्त्वमिति। यत्पुनरेतदुक्तं अङ्गभूतस्य प्रधानरूपापत्तेः पूर्वदोषानिवृत्तिरिति तदप्ययुक्तम्। कस्मात्? भक्त्यभिधानात्। असकृदधीतमस्माभिर्भक्तितोऽयं गुणानां ग्रहणविकल्प इति। न च भक्तितः

१—वाचस्पतिमतेनैतद्विचारं पञ्चशिखाचार्यस्येति।

परमार्थ इत्यस्थाने यत्नः । यत्पुनरेतदुक्तं अगुणभूतानां सत्त्वादीनामृषेरप्यविषयत्वमिति सत्यमेतत् । यत्तूक्तं कार्यस्य विषयभूतत्वादङ्गाङ्गिभावगमनं गुणानां सकलसत्कार्यमपेक्षते । तथा स्त्रीक्षत्रमेघाः प्रकृतास्तेष्वङ्गभावमगच्छत (न्त ?) इति विज्ञायत इति । सामान्यशब्दानां हि प्रकरणाद्विशेषेऽवस्थानं भवति । तद्यथा भोजनकाले सैन्धवमानयेत्युक्ते लवणे संप्रतिपत्तिर्नाश्वादिषु । तस्मात्प्रकरणमनपेक्ष्य महति तन्त्रे दोषाभिधानं बालवाक्यस्थानीयम् । एवं गुणलक्षणोपदेशात्सिद्धं त्रैगुण्यम् ॥१३॥

त० प्र:—स्यादेतत्—स्थूलेषु पृथिव्यादिषु अविवेकित्वादयस्तु प्रत्यक्षसिद्धाः एव परञ्च अव्यक्ते तथा सूक्ष्मे व्यक्ते कथं तेषां सिद्धिः ? इत्यत आह – 'अविवेक्यादेः' इति ।

अर्थः - प्रत्यक्ष होने वाले पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों में अविवेकित्व इत्यादि धर्म तो प्रत्यक्षसिद्ध हैं, किंतु अव्यक्त तथा सूक्ष्म व्यक्त में उनकी सत्ता कैसे मान ली जाय ? इसके उत्तर में "अविवेक्यादिः सिद्धः" इत्यादि अगली कारिका कही जा रही है ।

अविवेक्यादिः[1] सिद्धस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्य्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्य्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—(अव्यक्तादौ), त्रैगुण्यात्, (तथा), तद्विपर्ययाभावात्, अविवेक्यादिः, सिद्धः, कार्यस्य, कारणगुणात्मकत्वात्, अव्यक्तम्, अपि, सिद्धम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—(अव्यक्तादौ=अव्यक्त तथा व्यक्त आदि सूक्ष्म पदार्थों में), त्रैगुण्यात्=त्रिगुणभाव होने के कारण, (तथा), तद्विपर्ययाभावात्=इन अविवेकित्व आदि के अभाव में त्रिगुण का अभाव होने के कारण, अविवेक्यादिः-अविवेकित्व इत्यादि धर्म, सिद्धः=सिद्ध होते हैं । कार्यस्य-कार्य के, कारणगुणात्मकत्वात्=कारण के गुणों से युक्त होने के कारण, अव्यक्तम्-प्रकृति, अपि=भी, सिद्धम्=सिद्ध हो जाती है ॥ १४ ॥

अर्थः—(अव्यक्त तथा व्यक्त=महान् इत्यादि सूक्ष्म पदार्थों में), त्रिगुण भाव होने के कारण अर्थात् अव्यक्त आदि के त्रिगुणात्मक होने के कारण तथा अवित्रेकित्व आदि के अभाव में तीनों गुणों का भी अभाव होने के कारण, अविवेकित्व आदि की सत्ता सिद्ध होती है । कार्य के कारण के ही गुणों से युक्त होने से (इन अविवेकित्व आदि धर्मों के आश्रयभूत) अव्यक्त=प्रकृति की भी सिद्धि होती है ॥ १४ ॥

त० प्र०—अविवेकित्वमविवेकि । अव्यक्तादौ अव्यक्ते सूक्ष्मे च व्यक्ते त्रैगुण्यात् त्रिगुणभावात् अविवेकित्वादिः अविवेकित्वं विषयत्वम् अचेतनत्वं प्रसवधर्मित्वञ्चेत्यर्थः सिद्धः । प्रकृत्यादिकम् अविवेकि त्रिगुणात्मकत्वात्, यद्यत् त्रिगुणात्मकं तत्तदविवेकित्वादियुक्तम्, यथेदमनुभूयमानं स्थूलं व्यक्तमित्यन्वयि अनुमानम् । यदा तु सकलमेव व्यक्ताव्यक्तं

१–'अविवेक्यादेः सिद्धः' युक्तिदीपिकायां क्वचित् ।

तत्त्वं पक्षीक्रियते तदा तु पक्षातिरिक्तस्य अन्वयसहचारोदाहरणस्थलस्य अभावेन व्यतिरेकि अनुमानं तद्विपर्ययाभावात्—तेषाम् अविवेकित्वादीनां विपर्यये अभावे अभावात् त्रैगुण्य-विरहादिति तद्विपर्ययाभावात्। पुरुषे अविवेकित्वादीनाम् अभावः अतस्तत्र त्रैगुण्याभावोऽपि वर्तते। इत्थम् अन्वयव्यतिरेकिभ्याम् अनुमानाभ्यां प्रकृतौ सूक्ष्मे च भूते अविवेकित्वादि-सिद्धिर्भवति।

स्यादेतत् - प्रकृतिसिद्धौ सत्यां तद्धर्माः अविवेकित्वादयः सिध्यन्ति। परञ्च प्रकृतिस्तु अद्यापि न सिद्धयति। अस्यां दशायां कथमविवेकित्वादिसिद्धिरित्याशङ्कायामुच्यते—'कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याऽव्यक्तमपि सिद्धमि' ति, लोके यदात्मकं कार्यं तदात्मकं कारणमपि दृश्यते, यथा कृष्णैः तन्तुभिः कृष्णः एव पटः उत्पद्यते। एवमेव सुखदुःखमोह-स्वरूपेण महदादिलक्षणेन कार्येण कारणं सुखदुःखमोहात्मकं प्रधानमव्यक्तमपि सिद्धयतीति ॥ १४ ॥

टिप्पणी—'त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्' प्रकृति तथा व्यक्त सूक्ष्म तत्त्वों में अविवेकित्व, विषयत्व आदि (जिन्हें ग्यारवीं कारिका में बतलाया गया है) सिद्ध करने के लिए दो हेतु दिये गये हैं (१) त्रैगुण्यात् तथा (२) तद्विपर्ययाभावात्। पहला हेतु अन्वयी हेतु या अनुमान कहा जाता है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है —"प्रकृति आदि अविवेकित्व आदि से युक्त हैं अर्थात् अविवेकी आदि हैं, क्योंकि ये त्रिगुणात्मक हैं, जो जो त्रिगुणात्मक होता है वह वह अविवेकित्व आदि से युक्त अर्थात् अविवेकी आदि होता है, जैसे अनुभव में आने वाला स्थूलभूत।" दूसरा हेतु व्यतिरेकी हेतु या अनुमान कहा जाता है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—अव्यक्त तथा व्यक्त अविवेकी आदि हैं अर्थात् अविवेकित्व आदि से युक्त हैं, क्योंकि ये त्रिगुण हैं, जहाँ अविवेकित्व आदि नहीं रहते वहाँ त्रिगुण भी नहीं रहते; जैसे—पुरुष।

कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्येति—कारिका के पूर्वार्द्ध में दो अनुमानों के द्वारा प्रकृति में तथा उसके कार्यों में अविवेकित्व आदि की सिद्धि की है। किन्तु प्रकृति की सिद्धि किये विना उसमें धर्मों को सिद्ध करना असङ्गत है, अतः कारिका के उत्तरार्द्ध में प्रकृति की सिद्धि कर रहे हैं—'कार्य सर्वदा कारण के ही गुणों से युक्त रहता है। जैसे काले तन्तुओं से काला ही कपड़ा बनता है। उसी तरह व्यक्त कार्य भी त्रिगुणात्मक तथा अविवेकित्वादि-धर्मवाले उपलब्ध होते हैं। ऐसी अवस्था में तद्रूप मूल कारण अव्यक्त भी मानना आवश्यक है' ॥ १४ ॥

युक्ति०—आह—अविवेक्यादिरिदानीं गणः कथं प्रतिपत्तव्य इति ? उच्यते—

अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात्

यत्त्रिगुणं तदविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मीति (का० ११)। कथमवगम्यत इति चेत्

तद्विपर्ययाऽभावात् ।

यस्माद् गुणविपर्ययः क्षेत्रज्ञः । तत्र विषयत्वमचेतनत्वं प्रसर्धमित्वं च न भवतीति पुरस्तात्प्रतिपादयिष्यामः । तस्मात्परिशेषतो व्यक्ते एतेषां धर्माणामविरोधः । आह, तथा प्रधानमिति प्रागुक्तं (का० ११) भवता । तदिदानीं कथं प्रतिपत्तव्यं प्रधानमपि त्रिगुणादियुक्तमिति ? उच्यते —

कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ।। १४ ।।

इह कारणगुणात्मकं कार्यं दृष्टं पटादि । व्यक्ते च त्रैगुण्याद्युपलभ्यते । तस्मात्कारणमप्यस्य तथाजातीयकमिति शक्यमनुमातुम् । सिद्धान्तमात्रोपदर्शनमेतदाचार्यः करोति । न्यायं तु यथोक्तेषु प्रदेशेषूपपादयिष्यामः ।। १४ ।।

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ।। १५ ।।
कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ।। १६ ।।

अन्वयः— भेदानाम्, परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः, प्रवृत्तेः, च, कारणकार्य-विभागात्, वैश्वरूपस्य, अविभागात्, अव्यक्तम्, कारणम्, अस्ति । (इदम्), त्रिगुणतः, च, समुदयात्, प्रवर्तते । (समुदिताः, ते, गुणाः), प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्, परिणामतः, सलिलवत्, (भवन्ति) ।। १५–१६ ।।

शब्दार्थः भेदानाम्=बुद्धि आदि कार्यों के, परिमाणात्=परिमित होने से; (व्यापक न होने से), समन्वयात्=(कारण और कार्य के) सदृश होने से; शक्तितः= (कारण की) शक्ति से, प्रवृत्तेः= (कार्य की) उत्पत्ति होने से; कारणकार्यविभागात्= कारण और कार्य के अलग-अलग मालूम पड़ने से, (अर्थात् कारण से कार्य के उत्पन्न होने से) अथवा कारण और कार्य के काम में भिन्नता होने से; वैश्वरूपस्य=बुद्धि आदि नानारूप कार्य के, अविभागात्=अविभाग होने से अर्थात् प्रलय की अवस्था में कारण में तिरोहित (लीन) हो जाने से; अव्यक्तम्=अव्यक्त (प्रकृति), कारणम्=(सबका) हेतु, अस्ति=है । (इदम्=यह अव्यक्त), त्रिगुणतः=(अपने) तीनों गुणों के स्वरूप से, च= तथा, समुदयात्=मिले हुए, अतः प्रधान और गौणरूप से स्थित तीनों गुणों के समूह से, प्रवर्तते=परिणत होता है अर्थात् कार्य करता है । (समुदिताः=प्रधान और अप्रधान रूप से मिले हुए, ते=वे, गुणाः=गुण), प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्=एक एक गुण के आश्रय से उत्पन्न भेद या अनेकत्व के कारण (अर्थात् प्रधानभूत एक-एक गुण का आश्रय लेने

वाले अप्रधान गुणों की विशेषता के कारण, परिणामतः=परिणाम से (अर्थात् विभिन्न कार्यों के रूप से), सलिलवत्=जल की भाँति, (भवन्ति होते हैं) ॥ १५–१६ ॥

अर्थः—बुद्धि आदि कार्यों के व्यापक न होने से अथवा बुद्धि आदि कार्यों के संख्या में इने-गिने होने से; (कारण और कार्य के) सदृश होने से (अर्थात् कार्य के कारण-गुणात्मक होने से), (कारण की) शक्ति से (कार्य की) उत्पत्ति होने से; कारण और कार्य के अलग-अलग मालूम पड़ने से (अर्थात् कारण से कार्य के उत्पन्न होने से) अथवा कारण और कार्य के काम में भिन्नता होने से; (प्रलय की अवस्था में) बुद्धि आदि नानारूप कार्यों के कारण में लीन होने से; सब का एक कारण अव्यक्त (प्रकृति) अवश्य है। यह अव्यक्त अपने तीनों गुणों के स्वरूप से तथा मिले हुए तीनों गुणों के समूह से परिणत होता है अर्थात् कार्य करता है। (प्रधान और अप्रधान रूप से मिले हुए वे गुण) एक-एक गुण के आश्रय से उत्पन्न भेद या अनेकत्व के कारण (अर्थात् प्रधान भूत एक-एक गुण का आश्रय लेने वाले अप्रधान गुणों की विशेषताओं के कारण) परिणाम से (अर्थात् विभिन्न कार्यों के रूप से), जल की भांति, विभिन्न होते हैं ॥ १५–१६ ॥

त० प्र०—अव्यक्तकारणस्य स्वीकारे वैशद्येन हेतून् दर्शयति—**भेदानामिति**। भेदानाम्—भिद्यन्ते परस्परं व्यावृत्ताः प्रतीयन्ते इति भेदाः कार्याणि महदादीनि तेषाम्, महदादीनां भूम्यन्तानां कार्याणामित्यर्थः, **'परिमाणात्'** परिच्छिन्नत्वात् अव्यापित्वादिति यावत्। अनुमानं तु 'महदादयः अव्यक्तकारणवन्तः अव्यापित्वात्, घटादिवदिति। अव्यापि कार्यम्, व्यापि च भवति कारणम्। अथवा कार्याणां परिमाणात् संख्याभिः गणितत्वात्—लोके यत्र कर्ताऽस्ति तत्र परिमाणं दृश्यते, यथा कुम्भकारः परिमितैः मृत्पिण्डैः परिमितानेव घटान् करोति। एवं प्रधानमपि बुद्धयादिकं कार्यं परिमितमेव करोति। यदि प्रधानं कारणं न स्यात्तर्हि कार्यं बुद्धयादिकं निष्परिमाणं स्यात्। कार्याणां परिमाणात् अस्ति कारणम् अव्यक्तम्—यस्मात् व्यक्तम् उत्पन्नम्। तथा **समन्वयात्'**—कार्यगुणान् दृष्ट्वा तद्रूपकारणगुणानां कल्पनं समन्वयः तस्मात्। सुखदुःखमोह-समन्वितान् बुद्धयादीन् विलोक्य तद्रूपाव्यक्तकारणस्य कल्पनं तु स्वाभाविकमेव। दृश्यते एव व्यवहारे यथा व्रतधारिणं बालकं दृष्ट्वा पुत्रगुणान् पितरि कल्पयति—'नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणाविति। अतः कार्याणि दृष्ट्वा एषां एतद्गुणसमन्वितं कारणमस्ति अव्यक्तमिति। तथा **'शक्तितः प्रवृत्तेश्च'**, कारणशक्तितः कार्यं प्रवर्तते प्रादुर्भवति इति सिद्धम्। न हि अशक्तात् कारणात् कार्यस्योत्पत्तिर्भवतीति। शक्तिश्चात्र कारणे कार्यस्याऽव्यक्तावस्थानमेव। तैलमव्यक्तरूपेण तिलेष्वेवावतिष्ठते, न तु सिकतासु। अतः तैलरूपं कार्यं तिलेभ्यः एव प्रादुर्भवति न च सिकताभ्यः। तथा च—**'कारणकार्य विभागात्'**—कारणञ्च कार्याणि चेति कारणकार्याणि तेषु विभागात्। अथवा कारणात् कार्याणां विभागात् आविर्भावात्। सांख्यमते कारणे सत् कार्यमिति स्थितम्। तथा च यथा कूर्म-

शरीरे स्थितान्येव अङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते च—'इदं कूर्मशरीरम्, एतान्येतस्याङ्गानि—इति। प्रसृतमेव कूर्मशरीरम् अङ्गपदेनोच्यते तथा निविष्टान्येवाङ्गानि शरीरपदेनोच्यन्ते। एवमेव बुद्ध्यादिरूपेण व्यक्तमेवाव्यक्तं कार्यमिति मन्यते तथा निविष्टं कार्यम् अव्यक्तमिति। अथवा यथा घटो दधिमधूदकादीनां धारणे समर्थः, न तथा तत्कारणं मृत्पिण्डः। एवं बुद्ध्यादि लिङ्गं दृष्ट्वा अनुमीयते—'अस्ति विभक्तं तत्कारणं, यस्य विभागः इदं व्यक्तमिति। इतश्च—**'वैश्वरूपस्य अविभागात्'**,–विश्वात्मकनानाविधकार्यस्य स्वस्वकारणे तिरोभावादित्यर्थः। सृष्टिकाले व्यक्तानि कार्याणि प्रलयकाले व्यक्तक्रमेणैव स्वस्वकारणे लीनानि भवन्ति। एवं पञ्चभूतानि तन्मात्रेषु, तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो बुद्धौ, बुद्धिः प्रधाने लयं याति। इत्थं व्यक्तानि अव्यक्तौ अविभागं गच्छन्ति। अत. व्यक्तस्य अस्ति अव्यक्तं कारणमिति।

व्यक्तकारणमिदमव्यक्तत्रिगुणतः प्रवर्तते। प्रलयावस्थायां सत्त्वरजस्तमांसि सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणामस्वभावाः हि गुणाः परिणामं विना क्षणमपि नावतिष्ठन्ते। तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया, रजो रजोरूपतया, तमस्तमोरूपतया प्रलयावस्थामपि प्रवर्तते।

तदिदमुक्तं–'त्रिगुणतः' इति। तदेवाव्यक्तं सृष्टिकाले 'समुदयाच्च' प्रवर्तते' समुदयश्चात्र गुणानां परस्परसम्मिश्रणम्। सम्मिश्रणञ्चैतत् न प्रधानाप्रधानमन्तरेण सम्भवति। न च प्रधानाप्रधानभावो वैषम्यं विना। इत्थं सृष्टिकाले यदा गुणेषु वैषम्यं जायते तदा प्रधानं महदादि रूपेण प्रवर्तते परिणमतीत्यर्थः। अयमेव प्रकृतिगुणानां सरूपपरिणामः विरूपपरिणामश्च निगद्यते।

यदि एकमेव प्रधानं कार्यरूपेण परिणमति तदा कार्येषु कस्माद्वैषम्यमिति शङ्कायां समाधत्ते—'परिणामतः इति। समुदिताः ते गुणाः 'प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्; प्रतिप्रतीति वीप्सा, गुणस्य प्रधानगुणस्य आश्रयौ अप्रधानभूतौ यौ द्वौ गुणौ तयोः विशेषात् प्रभावात् परिणामतः कार्यतः सलिवद् भवन्ति। यथाऽऽकाशात्पतितमेकरसमपि जलं तत्तद्भूविकारानासाद्य आम्रजम्बूनिम्बादिफलरसतया परिणमन्मधुरांम्लतिक्ततया विकल्पते, तथैव एकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानं गुणमाश्रित्यऽप्रधानगुणाः परिणामभेदान् कार्यभेदानित्यर्थः जनयन्तीति यावत् ॥१५, १६॥

टिप्पणी—'प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च'—प्रधान के दो तरह से परिणाम या कार्य होते हैं अर्थात् प्रधान दो तरह से परिणमित होता है। इनमें प्रथम प्रलयकालीन परिणाम है, जिसे 'त्रिगुणतः' शब्द से कहा गया है। और दूसरा सृष्टिकालीन परिणाम है, जिसे समुदयात्' शब्द से बतलाया गया है। जब प्रकृति के गुण साम्यावस्था में रहते हैं; तब प्रलय रहता है, क्योंकि तब सत्त्व सत्त्व रूप से, रज रजोरूप से, और तम तमोरूप से परिणत होता रहता है। यही है तदृश परिणाम जिसे 'त्रिगुणतः' से कहा गया

है। जब तीनों गुणों की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है, अर्थात् प्रकृति के गुणों में वैषम्य या प्रधान-अप्रधानभाव आजाता है, तब बुद्धि आदि तत्त्वों की सृष्टि होती है; क्योंकि उस समय तीनों गुण विभिन्न अंशों में समिश्रित होकर विभिन्न परिणाम उत्पन्न करते हैं। यही है विरूप प्रकृति का विरूप परिणाम जिसे 'समुदयात्' शब्द से कहा गया है।

'परिणामतः सलिलवत्'—जैसे आकाश से गिरा हुआ एक ही जल अनेक भू-विकारों को प्राप्त करके आम, जामुन तथा नीम आदि का रस बनजाने पर मीठा, खट्टा तथा कड़ुवा आदि अनेक प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक काल में एक ही एक गुण के प्रबल होने से प्राधान्यप्राप्त उस गुणका आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं। यही है एक ही कारण से उत्पन्न होने वाले कार्यों की विभिन्नता का रहस्य जिसे कारिकाकार ने 'प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्' शब्द से कहा है ॥१५, १६॥

युक्ति०—आह, कार्यधर्मस्य कारणोपलब्धौ हेतुमदादिप्रसंगः, अविशेषात्। यदि कार्ये दृष्टस्य धर्मस्य कारणे सद्भावोऽभ्युपगम्यते प्राप्तो हेतुमदादीनामपि धर्माणां कार्यदृष्टत्वात्प्रधाने प्रसंगः। अथ कार्योपलब्धौ तुल्यायां हेतुमदादयो नेष्यन्ते न तर्हीतरेषामपि कारणावस्थितिरस्तीति। उच्यते न, स्वरूपविरोधित्वे तदपवादविज्ञानात्। कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्येत्यनेन लिंगेन हेतुमदादयोऽपि कारणे प्रसज्यन्ते। तेषां तु कार्यकारणरूपविरोधित्वादपवादो विज्ञायते। कथम्? यदि तावद्धेतुमदादयो व्यक्ते दृष्टत्वात्प्रधाने व्यज्जन्ते, कृतकत्वात्कार्यमेव तन्न कारणमिति प्राप्तम्। अनित्यत्वाच्च स्वयमुच्छिद्यमानमननुग्राहकमव्यापित्वादिभिश्चानन्तविकारोत्पादनशक्तिहीनम्। अहेतुमदादयः प्रधानेऽभ्युपगमाद्व्यक्तेरपि प्राप्यन्ते तादृशाः कारणासम्भवात्कार्यमेव तन्न भवतीति प्राप्तम्। अविवेक्यादयस्तूभयत्रापि भवन्तो नेतरेतरस्वरूपविरोधिनः। तस्मात्कार्यकारणभावाभ्युपगमाद्धेतुमदाद्यपवाद, इतरेषां च कारणसद्भावः सिद्धः।

यदुक्तं कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धमिति तदयुक्तम्। कस्मात्? व्यक्ताव्यक्तयोः कार्यकारणभावाप्रसिद्धेः। सिद्धे हि व्यक्ताव्यक्तयोः कारणत्वे एतदेवं स्यात्। तत्त्वसिद्धम्। तस्मादयुक्तमेतत्। विशेषानभिधानादुभयसाम्यमिति चेत् स्यान्मतम्, यथा भवानाह व्यक्ताव्यक्तयोः कार्यकारणभावोऽप्रसिद्धः, एवं वयं वक्ष्यामः तयोः कार्यकारणभावाप्रसिद्धिरप्यसिद्धा। न च क्वचिद्विशेषोऽस्त्युभयसाम्यं भविष्यतीति। तच्चायुक्तम्। कस्मात्? सद्भावासिद्धेः। सत्यम्, अनभिधीयमाने विशेषे स्यादुभयसाम्यम्। अव्यक्तस्य तु सद्भाव एवासिद्ध इत्ययं विशेषः। तस्मादयुक्तमेतदपीति कार्यस्य कारणपूर्वकत्वाद्व्यक्तस्य च कार्यत्वादव्यक्तसद्भावे प्रतिपत्तिरिति चेत् स्यादेतत्। कार्यं कारणपूर्वकं दृष्टम्। घटादिकार्यं चेदव्यक्तं प्रमितत्वात्तस्मादिदमपि कारणपूर्वकं भवितुमर्हति। यच्च तस्य कारणं तदव्यक्तमिति। तच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? अनेकान्तात्। इहाकस्मिकी च कार्यस्योत्पत्तिर्दृष्टा। तद्यथेन्द्रधनुषः। असतश्च

भ्रान्तिमात्रात्। तद्यथा मायास्वप्नेन्द्रजालमृगतृष्णिकालातचक्रगन्धर्वनगराणाम्। सतश्च कारणात्। तद्यथा मृदादिभ्यो घटादीनाम्। कार्यं चेदव्यक्तमतः संशयः किमिन्द्रधनुर्वद्-कस्मादस्य प्रादुर्भावोऽथ मायादिवदसतोऽथ कारणात्सतो घटवदिति? उच्यते—नाकस्मिकमसत्पूर्वं व्यक्तम्। कस्मात्?

भेदानां परिमाणात्

यत्परिमितं तस्य सत उत्पत्तिर्दृष्टा। तद्यथा मूलाङ्कुर-पर्णनालदण्डवुसतुषशूकपुष्पक्षीरतण्डुलकणानाम्। परिमिता महदहंकारेन्द्रियतन्मात्रमहाभूतलक्षणभेदाः। तस्मात्सत्कारण-पूर्वकाः। यदेषां कारणं तदव्यक्तम्।

॥ इति युक्तिदीपिकायां सांख्यसप्ततिपद्धतौ तृतीयमाह्निकं प्रथमं च प्रकरणं समाप्तम्॥

आह—कस्मादस्त्यव्यक्तम्? असद्भेदानामपि परिमाणदर्शनात्। अनेकान्त इति चेत् स्यान्मतम्, अस्ति हि मायास्वप्नेन्द्रजालानुविधायिनामपि भेदानां परिमाणमिति। तस्मादनैकान्तिको हेतुरिति। तच्च नैवम्। कस्मात्? न हि तेषां नियमोऽस्ति, एतावद्भिरेवोत्पत्तव्यं नान्यैरिति। महदादयस्तु प्रलयकालतिरोभूतास्तावन्त एवोत्पद्यन्ते। तस्मान्नैकान्तः। आह, परिमाणानवस्थानं कालद्वयानुपलब्धेः। सत्यं, साम्प्रते काले महदादयो युक्तपरिमाणाः प्रत्यक्षानुमानोपलब्धेः। आतीतानागतयोस्तु कालयोर्नास्ति प्रसिद्धिः। तस्मादयुक्तमेतत्। उच्यते न, विपर्यये प्रमाणानुपलब्धेः। इदानीमेतावन्तो भेदा इत्येतच्छक्यमनुमातुम्। अतीतानागतयोस्तु कालयोर्नास्ति प्रसिद्धिः। तस्मान्न भेदानवस्थाप्रसंगः। आह, भेदाभेदानवस्थानात्। महदादीनां ये भेदा देवमनुष्यतिर्यञ्चो घटादयश्च तेषामशक्यं परिमाणं परिच्छेत्तुम्। सामान्येऽन्तर्भावदयुक्तमिति चेत् स्यान्मतम्, अस्ति शरीराणां महाभूतसामान्यं घटादीनां च पृथिवीसामान्यं, तत्परिमाणादेतेऽपि परिमिता इति। तदयुक्तम्। कस्मात्? अभावात्। नहि वः सामान्यं द्रव्यादर्थान्तर-भूतमस्ति। सारूप्यमात्रे सामान्यपरिकल्पनात्। उच्यते न, तत्त्वान्तरानुपपत्तेः। तत्त्वभेदेन परिमिता भेदा इत्येतद्विवक्षितं यथोक्तमस्माभिरुक्तं च यद्यस्ति तत्त्वान्तर-मुच्यताम्। यत्पुनरेतदुक्तं सामान्यस्यार्थान्तरभूतस्य भवत्पक्षेऽनुपपत्तिरिति सत्यमेतत्। तथाविधेनापि तु तेन संव्यवहारो न प्रतिषिध्यते इति वक्ष्यामः। तस्मात्सिद्धं भेदानां परिमाणादस्त्यव्यक्तम्।

किञ्चान्यत्।

समन्वयात्

इह येन भेदानां समनुगतिस्तस्य सत्त्वं दृष्टम्। तद्यथा मृदा घटादीनाम्। अस्ति चेयं सुखदुःखमोहैः शब्दादीनां समनुगतिः। तस्मात्तेऽपि सन्ति ये च सुखादयोऽस्तमितविशेषा-स्तदव्यक्तम्। तस्मादस्त्यव्यक्तम्। आह, नासिद्धत्वात्। सुखादिभिः शब्दादयोऽनुगम्यन्त

इत्येतदप्रसिद्धं केन कारणेन प्रतिपत्तव्यमिति ? उच्यते – तद्बुद्धिनिमित्तत्वात् । इह शब्दस्पर्शरूपरसगंधानां सन्निधाने स्वसंस्कारविशेषयोगात्सुखदुःखमोहाकाराः प्राणिनां बुद्धय उत्पद्यन्ते । यच्च यादृशीं बुद्धिमुत्पादयति तत्तेनान्वितम् । तद्यथा चन्दनादिभिः शकलादयः । तस्मान्नासिद्धिः समन्वयस्येति । आह; असिद्ध एवायं समन्वयः । कस्मात् ? विलक्षणकार्योत्पत्तिदर्शनात् । न ह्ययं नियमः कारणसदृशमेव कार्यमुत्पद्यते । किं तर्हि विलक्षणं अग्निधूमशब्दादि । कथम् ? न ह्यग्निस्तृणादिस्वभावकोऽग्निस्वभावको वा धूमः । न च भेरीदण्डादिस्वभावः शब्दः । तस्मात्सुखाद्यनुगताः शब्दादयः इतीच्छामात्रम् । उच्यते न, विशेषितत्वात् । सुखादिस्वरूपाः शब्दादयः, तत्सन्निधाने सुखाद्याकारप्रत्ययोत्पत्तिरित्येतदादित एवास्माभिर्विशेषितम् । तस्मान्न भिन्नजातीयास्त इति । यत्तु खल्विदमुच्यतेऽग्न्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात्प्रधानभेदानामतज्जातीयप्रसंग इति तदयुक्तम् । कस्मात् ? अभिप्रायानवबोधात् । नैव ब्रूमो यो यस्य विकारः स तज्जातीयक इति । किं तर्हि यो यज्जातीयकः स तस्य विकार इति । तस्मादयुक्तमेतत् । किञ्चान्यत् उदाहरणाप्रसिद्धेः । न चैतदुदाहरणं प्रसिद्धं अग्न्यादयः स्वकारणजातिं नानुविदधतीति । कस्मात् ? बलवीर्यानुविधानात् । तद्यथा अग्नेर्धूमस्य च त्वक्चन्दननलिकादिस्निग्धतानुवृत्तेस्तैक्ष्ण्याद्यनुवृत्तेश्च । भेरीविकारः शब्दो न तु यथा भेरीरूपमवस्थितम् । प्रदीपेनेव तु दंडाभिघातेन व्यज्यत इति साध्यमेतत् । न चैकैको रूपादीनां द्रव्याकारः समुदायधर्मत्वात् । तस्मान्न भेरीविकारः शब्दः । तत्र यदुक्तं विलक्षणकार्योत्पत्तिदर्शनादसिद्धोऽन्वय इत्येतदयुक्तम् । तस्माद्युक्तमेतत् समन्वयादस्त्यव्यक्तमिति ।

किञ्चान्यत् ।

शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।

इह यावती काचिल्लोके प्रवृत्तिरुपलभ्यते सा सर्वा शक्तितः । तद्यथा कुम्भकारस्य दण्डादिसाधनविन्यासलक्षणायाश्च शक्तेः सन्निधानाद् घटकरणे प्रवृत्तिरस्ति । व्यक्तस्य चेयं कार्यत्वात्तद्भावेन प्रवृत्तिरिति । अतस्तस्यापि शक्त्या भवितव्यम् । याऽसौ शक्तिस्तदव्यक्तम् । तस्मादस्त्यव्यक्तमिति । आह, प्राक्प्रवृत्तेः शक्त्यभावः, प्रवृत्त्यनुपलब्धेः । यदि शक्तिपूर्विका प्रवृत्तिरिति मन्यध्वं तेन यावत्प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते तावच्छक्तिर्नास्तीत्येतदापन्नम् । कस्मात् ? सत्यां शक्त्यां कार्याभावे स्वरूपाभावप्रसंगात् । यदि खल्वपि विद्यमाना शक्तिः केनचित्प्रतिबन्धेन कार्यं नोत्पादयेच्छक्तिरशक्तेत्येतदापन्नम् । तस्मात्सहकारिभावान्तरसन्निधानात्प्रवृत्तिसमकालमेवार्थानां शक्तय उत्पद्यन्ते । ताश्च तावदेव प्रध्वंसन्ते । तत्र यदुक्तं प्राक्प्रवृत्तेः शक्तिदर्शनाद्व्यक्तस्यापि निष्पादिका शक्तिरस्तीत्येतदयुक्तम् । किं चान्यत् भेदाभेदकल्पनानुपपत्तेः । इह प्रधानमेव वा शक्तिः स्यात् प्रधानाद्वा भिन्ना ? किं चातः ? तद्यदि तावत्प्रधानमेव शक्तिस्तेन कार्ये भेदाच्छक्तिभेदोऽवसीयत इति शक्तिभेदात्प्रधाननानात्वप्रसंगः । प्रधानैकत्वाद्वा तदव्यतिरिक्तानां शक्तीनामेकत्व-

प्रसंगः। ततश्च कार्यनानात्वाभावः। अथ मा भूदयं दोष इति प्रधानादर्थान्तरभावः शक्तीनामभ्युपगम्यते तेन भिन्नानां शक्तीनां प्रवृत्तितः सिद्धौ प्रधानसिद्धिर्नास्तीत्येतदापन्नम्। किं चान्यत्। स्वरूपाभिधानं च प्रधानस्य शक्तिमात्रादप्यर्थान्तरत्वमभ्युपगम्य रूपमीदृक्प्रधानं स्वावस्थायामिति, तच्चाशक्यमभिधातुम्। तस्मात् भेदाभेदकल्पनानुपपत्तेरकल्पनीया शक्तिरिति। उच्यते—यदुक्तं प्राक्प्रवृत्तेः शक्त्यभावः प्रवृत्त्यनुपलब्धेरिति, अत्र ब्रूमः—नाऽप्रसिद्धत्वात्। कारणं शक्तिः कार्यं प्रवृत्तिः। न च कार्यानुपलब्धौ कार्याभाव इत्येतल्लोके प्रसिद्धम्। यत्पुनरुक्तं कार्यानिष्पत्तौ शक्तेः स्वरूपहानमिति, अत्र ब्रूमः न, प्रदीपदृष्टान्तात्। तद्यथा प्रदीपस्य घटादिप्रकाशनशक्तिरस्ति। अथ च कुड्याद्यावरणसामर्थ्यान्न घटादीन्प्रकाशयितुं शक्नोति। न च शक्यते वक्तुं प्रदीपस्य प्रकाशनशक्तिरशक्तेति। एवमन्येषामपि भावानां प्राक्प्रवृत्तेरपि शक्तिः स्यात्। न चाऽप्रवृत्तिदर्शनादस्याः स्वरूपहानं स्यात्। यत्तूक्तं सहकारिभावान्तरसन्निधानात्प्रवृत्तिसमकालमेवार्थानां शक्तिप्रादुर्भाव इति, अत्र ब्रूमः—तदप्रसिद्धिः शक्त्यपेक्षत्वात्। इह सर्वः कर्ता स्वगतां शक्तिमपेक्ष्य तद्योग्यतया सहकारिभावान्तरमुपादत्ते, सा चेत्प्राक्प्रवृत्तेर्न स्यात्साधनानां विषयस्वभावानवधारणादनुपादानप्रसंगः। अनिष्टं चैतत्। तस्मात्प्राक्प्रवृत्तेः शक्तिः। यत्पुनरेतदुक्तं तावदेव प्रध्वंस इति, अत्र ब्रूमः—न, कार्यनिष्ठादर्शनात्। यदि प्रवृत्तिसमकालमेव प्रध्वंसः स्यात्कार्यनिष्ठैव न स्यात्। तन्निमित्तत्वात्कार्यस्य। अस्ति त्वसौ। तस्मान्न प्रवृत्तिसमकालमेव शक्तिप्रध्वंसः। सदृशसन्धानोत्पत्त्या कार्यनिष्ठेति चेन्न। विनाशसमकालोत्पत्त्यसम्भवात्। अथापि स्यादेकस्यां शक्तौ क्षणसाध्यमंशमवसाय विनष्टायामन्यत्तत्सदृशं शक्त्यन्तरमुत्पद्यते, तस्मिन्विनष्टेऽन्यदिति। एवं शक्तिसन्तानात्कार्यनिष्ठा भवतीति। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? विनाशकालोत्पत्त्यसम्भवात्। को ह्यत्र हेतुर्येन विनाशसमकालमन्यच्छक्तिरूपं कार्यमवसाययति न पुनः प्राक्तनमेवावस्थितमिति? किञ्चान्यत्। कौटस्थ्यदोषपरिहारात्। क्षणोत्तरकालावस्थाने च भावानां यो दोष उपात्तः कौटस्थ्यप्रसंग इति तस्य परिहार उक्तः। तस्मान्नास्ति शक्तीनां प्रवृत्तिकाले विनाशः। प्रवृत्त्युत्तरकालमपि नास्ति। कस्मात्? पुनः प्रवृत्तिदर्शनात्। शक्त्यन्तरोत्पत्तौ प्रवृत्त्यन्तरसद्भाव इति चेत् न, हेत्वभावात्। को ह्यत्र निर्बन्धः तस्यां विनष्टायामन्या प्रवृत्त्यन्तरहेतुर्भवति नैव पुनः सैवेति? कृतार्थत्वादिति चेत् न, अनभ्युपगमात्। न ह्येकघटार्था शक्तिरभ्युपगम्यते। तत्र येनैव हेतुना एकं घटमवसाय न विनश्यति तेनैव यावन्ति कर्त्तव्यानीति। तस्मात्त्रिषु कालेषु शक्तयोऽवतिष्ठन्ते। यत्पुनरेतदुक्तं भेदाभेदकल्पनानुपपत्तिरिति, अत्र ब्रूमः—अस्तु प्रधानादभिन्ना शक्तिः। न तस्य नानात्वं शक्त्येकत्वं वा प्रसज्यते। कस्मात्? संख्याव्यवहारस्य बुद्ध्यपेक्षत्वाद् बुद्धिनिमित्तस्य चासत्कारेण प्रधानशक्तिस्वभावात्, इहायं संख्याव्यवहारो बुद्ध्यपेक्षः। कथम्? यदभिन्नां बुद्धिमुत्पादयति तदेकं, प्रधानावस्थायां च शक्तयोऽस्तमितविशेषत्वादभिन्नां बुद्धिमुत्पादयन्ति। तस्मादेकं

तत्प्रवृत्तिकाले विशेषावग्रहेण भेदं प्रतिपद्यते, देवशक्तिर्मनुष्यशक्तिरित्यादि। तस्मान्नासामेकत्वमतो न भेदाभेदकल्पनानुपपत्तिरिति। व्यक्ते दर्शनाच्छक्तीनामव्यक्ते प्रतिपत्तिरिति चेत्, स्यादेतत्। व्यक्ते शक्तिप्रवृत्ती दृष्टे न चाव्यक्ते। क्वचिदन्यतो व्यक्तमेवैतस्माद्धेतोः सिद्ध्यति नाव्यक्तमित्येतच्चायुक्तम्। कस्मात्? सामान्यतोदृष्टान्तात्सिद्धेः। यथैव हि देवदत्ताधारया क्रियया तस्य देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यात्यन्तादृष्टं ज्योतिषां देशान्तरप्राप्तेर्गमनमनुमीयते, एवं प्रवृत्तेः शक्तिनियमितत्वाद् व्यक्तस्य च प्रवृत्तिभूतत्वादवश्यमत्यन्तादृष्टा शक्तिरभ्युपगन्तव्येति सिद्धं शक्तितः प्रवृत्तेरस्त्यव्यक्तम्।

किञ्चान्यत्।

कारणकार्यविभागात्

कारणं च कार्यं च कारणकार्ये तयोर्विभागः कारणकार्यविभागः। इदं कारणमिदं कार्यमिति बुद्ध्या द्विधावस्थापनं विभागो यः स कारणकार्यविभागः। तदवस्थितभावपूर्वकं दृष्टम्। तद्यथा शयनासनरथचरणादिः। अस्ति चायं व्यक्तस्य कारणकार्यविभागस्तस्मादिदमप्यवस्थितभावपूर्वकं, योऽसाववस्थितो भावस्तदव्यक्तम्। आह, तदनुपलब्धेरयुक्तम्। न हि शयनादीनां कारणकार्यविभागः कश्चिदुपलभ्यते। तस्मादयुक्तमेतत्। उच्यते, न—कार्यकारणयोरुपकारकोपकार्यपर्यायत्वात्कारणं कार्यमिति निर्वर्त्यनिर्वर्तकभावोऽभिप्रेतः। किं तर्ह्युपकारकोपकार्यभावः। स चास्ति शयनादीनां व्यक्तस्य च। अतो न प्रमादाभिधानमेतत्। आह, कः पुनर्व्यक्तस्य परस्परस्य कार्यकारणभाव इति? उच्यते गुणानां तावत्सत्त्वरजस्तमसां प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणैर्धर्मैरितरेतरोपकारेण यथा प्रवृत्तिर्भवति, तथा 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका' (का० १२) इत्येतस्मिन्सूत्रे व्याख्यातम्। तथा शब्दादीनां पृथिव्यादिषु परस्परार्थमेकाधारत्वम्। श्रोत्रादीनामितरेतरार्जनरक्षणसंस्काराः। करणस्य कार्यात्स्थानसाधनप्रख्यापनादिकार्यस्य करणाद् वृत्तिक्षतभंगसंरोहणसंशोषणपरिपालनानि। पृथिव्यादीनां वृत्तिसंग्रहपन्थिव्यूहावकाशदानैर्गवादिभावो देवमानुषतिरश्चां यथर्तुविधानेज्यापोषणाभ्यवहारसंव्यवहारैरितरेतराध्ययनं वर्णानां स्वधर्मप्रवृत्तिविषयभावः। अन्यश्च लोकाद्यथासंभवं द्रष्टव्यः। आह, तदनुपपत्तिः। क्रमयौगपद्यासम्भवात्। योऽयं गुणानां प्रकाशप्रवृत्तिनियमैरितरेतरोपकारोऽभ्युपगम्यते स खलु क्रमेण वा स्यात् युगपद्वा? किं चातः? तन्न तावत्क्रमेण संभवति। कस्मात्? एकस्य निरपेक्षस्य प्रवृत्तावितरयोरपि तत्प्रसङ्गात्। यदि तावत्सत्त्वं पूर्वं गुणान्तरनिरपेक्षं स्वशक्तित एव प्रकाशते तयोरुपकारकमित्याश्रीयते। तेन यथा सत्त्वमेवमितरावप्युपकारनिरपेक्षौ स्वकार्यं करिष्यत इत्युपकारानर्थक्यम्। अथ मा भूदयं दोष इत्यतो यौगपद्यमाश्रीयते। तदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? सहभूतानामनुपकारकत्वाद्, गोविषाणवत्। किञ्चान्यत्। सदसद्विकल्पानुपपत्तेः। इह सत्त्वं प्रकाशमानं रजस्तमसोर्विद्यमानं वा प्रकाशमविष्कुर्यात्, अविद्यमानं वा? किं चातः? तद्यदि तावद्विद्यमानमभिव्यनक्ति तेन सर्वेषामेक-

स्वाभाव्याद् गुणत्वप्रसंगः। किञ्च सत्त्ववच्चेतरयोः स्वातंत्र्यप्रसंगः। यथा सत्त्वस्य प्रकाशशक्तिरस्तीत्यतस्तद् गुणान्तरनिरपेक्षं प्रकाशते तद्वदितरावपीत्यदोषः। अथवाऽविद्यमाना प्रकाशशक्तिः सत्त्वसम्बन्धाद्रजस्तमसोरुपजायते। तेन यदुक्तं प्राक्प्रवृत्तेरेव तिष्ठन्ते शक्तय इति तद् हीनम्। ततश्च सत्कार्यवादव्याघातः। किं चायमनेकान्तात्। न ह्ययमेकान्तः परस्परोपकारिणामवस्थितभावपूर्वकत्वमिति। तथा हि सत्त्वादयः परस्परोपकारिणो न चावस्थितभावपूर्वकाः। तेन यदुक्तं कारणकार्यविभागाद् भेदानामव्यक्तमस्ति, एतदयुक्तम्। उच्यते—यदुक्तमुपकाराभावः क्रमयौगपद्यासम्भवादिति, अस्तु युगपदुपकारः। यत्तूक्तं सहभूतानामनुपकारकत्वं गोविषाणादिवदिति, अत्र ब्रूमः—न, अन्यथानुपपत्तेः। न हि गोविषाणयोः सहभूतत्वादुपकारानुपपत्तिः। किं तर्हि एककार्याभावात्। येषां तु कार्यमेकं सहभावे तु तेषामुपकारो न प्रतिषिध्यते। तद्यथा पृथिव्यादीनां धृतिसंग्रहशक्तिव्यूहावकाशदानैः। शरीरस्थितयोरक्रमभाविनोरपि खुरविषाणयोर्नास्ति परस्परोपकारः। तस्मान्न सहभावासहभावावुपकारानुपकारहेतू। किञ्च दृष्टत्वात्। दृष्टः खलु वेगेनोर्ध्वगमने वायोररघट्टादीनां (?) युगपदुपकारः, न च कश्चिद्दोषः। तथा गुणानामपि स्यात्। संयोगनिमित्त इति चेत् साध्यं किमर्थान्तरभूतमुत प्राप्तिमात्रं संयोग इति। यत्पुनरेतदुक्तं सदसद्विकल्पानुपपत्तेरिति। अत्र ब्रूमः अयुक्तमेतत्। कस्मात्? पङ्ग्वन्धवत्तदुपकारे दोषानुपपत्तेः। तद्यथा पंङ्ग्वन्धयोरितरेतरसम्बन्धान्न विद्यमानयोर्दृग्गतिशक्त्योरन्योन्यात्मनि व्यक्तिः न चाविद्यमानयोरथ चैककार्यसिद्धिर्यथा च पृथिव्यादीनां परस्परोपकारित्वं शक्तयोरभिव्यज्यते न परशक्त्या एवं गुणानामपीति। यत्पुनरेतदुक्तमनेकान्तादिति तदयुक्तम्। कस्मात्? शास्त्रानवबोधात्। इहास्माकं कार्यकारणयोरर्थानभ्युपगमाद् गुणानामवस्थान्तरमेवावस्थान्तरापेक्षं कार्यकारणशब्दवाच्यतां लभते। तत्र ये तावत्प्रधानावस्थानुभाविनो गुणास्तेषां शक्तिमात्ररूपत्वादनिर्देश्यप्रकाशादिस्वभावानां नास्ति तन्निबन्धन उपकारः। यदा वैषम्यमापद्यन्ते तदाऽनिवारितप्रकाशादिरूपास्तन्निमित्तमुपकारं प्रतिपद्यन्ते। तस्माद्व्यक्तानामुपकाराभ्युपगमादवस्थितभावपूर्वकत्वं न विरुध्यत इति शास्त्रमनवगम्यैवमुच्यतेऽनैकान्तिकोऽयं हेतुः। प्रधानावस्थायामुपकारानभ्युपगमादुत्तरकालमपि तत्प्रसंग इति चेत्, स्यान्मतम्, यदि गुणानामाद्ये प्रकोपे स्वसामर्थ्यादेव पूर्वस्मात्प्रच्युतिस्तेनोत्तरकालमपि तद्वदेव भविष्यति। अथ प्रधानावस्थायामपि चोपकारो न तर्हि नानैकान्तिको हेतुरिति। तच्च नैवम्। कस्मात्? अग्निवत्स्वशक्तिनिमित्तत्वात्। तद्यथा सूक्ष्मोऽग्निः सूक्ष्मं प्रकाशं स्वयमेव करोति, घटादिप्रकाशने तु तैलवर्त्याद्यपेक्षते। तद्वत् गुणानामाद्यः प्रकोपः स्वशक्तितः। महदाद्यपेक्षस्तूपकारतः। तस्माद्युक्तमेतत् कारणकार्यविभागादस्त्यव्यक्तमिति।

किञ्चान्यत्।

अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥

इह यद्विश्वरूपं तस्याविभागो दृष्टः। तद्यथा सलिलादीनाम्। जलभूमी विश्वरूपाश्च

महदादयः। तस्मादेषामप्यविभागेन भवितव्यम्। योऽसावविभागस्तदव्यक्तम्। तस्मादस्त्यव्यक्तम्। आह, किं पुनस्तद्वैश्वरूप्यं, को वा विश्वरूप इति? उच्यते—वैश्वरूप्यमिति विशिष्टमवस्थानमाचक्ष्महे, अस्तमितविशेषत्वमविभाग इति। विशेषस्य सामान्यपूर्वकत्वादिति योऽर्थस्तदुक्तं भवति—अविभागाद्वैश्वरूप्यस्येति। एवमेतैः पञ्चभिर्वीतैर्व्यक्तस्य कारणमस्त्यव्यक्तमिति सिद्धम्।

आह—विप्रतिषेधप्रसंगः। कारणान्तरप्रतिषेधावचनात्। यथा भवानाह—प्रधानं जगदुत्पत्तिसमर्थं कारणमस्ति। एवं तन्त्रान्तरीयाः परमाणुपुरुषेश्वरकर्मदैवस्वभावकालयदृच्छाऽभावान्कारणत्वेनाभिदधति, तेषां च प्रतिषेधो नोच्यत इति। अतो विप्रतिषेधः प्राप्नोति। किं प्रधानमेव कारणं आहोस्विदेतान्येव वोभयमिति? अन्वयदर्शनात्तदनुपपत्तिरिति चेत्, स्यान्मतम्—प्रधानान्वय एव पृथिव्यादिषु सुखादिलक्षण उपलभ्यते। यच्च येनान्वितं तस्यासौ विकार इति युक्तमेतत्प्रधानविकार एव व्यक्तमिति। तच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? अनेकान्वयसंभवात्। परमाण्वन्वयोऽपि हि व्यक्त उपलभ्यते रूपादिसत्त्वात्। पुरुषान्वयः करणस्य संवेदकत्वात्। ईश्वरान्वयः शक्तिविशेषयुक्तानामुपलब्धेः। कर्मदैवान्वयः जगद्वैचित्र्योपलम्भात्। स्वभावान्वयो द्रव्यान्तरसंसर्गेऽपि भावानां तस्मादप्रच्युतेः। कालान्वयो युगाद्यनुविधानात्। यदृच्छान्वयो नियमाभावात्। अभावान्वयो गवादीनां परस्परात्मस्वदर्शनादितरेतराणि प्रत्युक्तानि। कारणान्तरपूर्वकत्वेऽपि खलु व्यक्तस्य शक्त्या परिमाणादयः पूर्वमेव कल्पयितुम्, तस्मादयुक्तमन्वयादिभ्यः कारणमस्त्यव्यक्तमिति।

उच्यते—यत्तावदुक्तं परमाणूनामप्रतिषेधात् विप्रतिषेधप्रसंग इति, अत्र ब्रूमः—तदनुपपत्तिरस्तित्वानभ्युपगमात्। अस्तित्वे हि परमाणूनामभ्युपगम्यमाने सति सत्यमेवं स्यादियमाशंका, किं परमाणुपूर्वकमिदं विश्वमथ प्रधानपूर्वकमिति? न तु तेषां सद्भावो निश्चितः। तस्मादयुक्तमेतत्। यत्तु खल्विदमुच्यते पृथिव्यादिषु रूपाद्युपलम्भादन्वयदर्शनादणूनां सद्भावः प्रधानवदेव कल्पयितव्य इत्येतदपि चानुपपन्नम्। कस्मात्? अन्यथापि तदुपपत्तेः। तन्मात्रपूर्वकत्वेपि हि पृथिव्यादीनां कल्प्यमाने रूपादिसत्त्वादतो न युक्तमेतत्। सुखादीनामात्मगुणत्वेनाभ्युपगमात्प्रधानेऽपि तत्प्रसंग इति चेत्, अथापि स्याद्यथा तन्मात्राणां रूपादिमत्त्वं कल्प्यते तत्पूर्वकत्वं च पृथिव्यादीनां दृश्यमपि तेषु रूपादिसत्त्वलिंगेन परमाणुभ्यो निष्कृष्यते, एवमस्माभिः सुखादीनामात्मगुणत्वाभ्युपगमात्तद्बुद्धिनिमित्तत्वे पृथिव्यादीनां प्रधानपूर्वत्वाक्षेपः करिष्यत इति। एतच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? आत्मगुणत्वप्रतिषेधात्। तस्माच्च विपर्यासादित्यत्र (का० १९) सुखादीनामात्मगुणत्वप्रतिषेधं करिष्यामः। तस्मादसम्यगेतत्। आह, यदि पुनस्तन्मात्राणामेव परमाणुत्वमभ्युपगम्यते क एवं सति दोषः स्यात्? उच्यते—न शक्यमेवं भवितुम्। किं कारणम्? वृद्धिमत्यस्तन्मात्रलक्षणाः प्रकृतयोऽस्माभिरभ्युपगम्यन्ते। कस्मात्? स्वकार्याद्धि प्रथीयसी प्रकृतिर्भवतीति च नः संशयः। महान्ति च पृथिव्यादीनि महाभूतानि। तस्मात्तेषां

तदतिरिक्ततया पृथिव्या भवितव्यम्। परिच्छिन्नदेशाश्च परमाणवः। तस्मान्न तन्मात्राभ्युपगमात्तेषामभ्युपगमः। उपेत्य वा तदसम्भवः कृतकत्वात्। अस्तु वा परमाणूनां सद्भावस्तथापि तेभ्यो जगदुत्पत्तेरसम्भवं ब्रूमः। किं कारणम्? कृतकत्वात्। अकृतकेन हि जगत्कारणेन युक्तं भवितुं, कृतकाश्च परमाणवः। तस्मात्सत्यपि सद्भावे न तेषां जगत्कारणत्वमुपपद्यते। हेत्वनुपदेशादयुक्तमिति चेत्, अथापि स्यात्। किं पुनरत्र कारणं येनाऽकृतकं जगत्कारणमिष्यते इति? उच्यते–तस्यैव कारणत्वप्रसंगात्। यद्धि तत्परमाणूनां कारणं तदेव जगत्कारणत्वेन युक्तं कल्पयितुं स्यात्, न तन्निष्पादिताः परमाणवः। कृतकत्वासिद्धेरयुक्तमिति चेत्, स्यान्मतं यदि परमाणूनां कृतकत्वं प्रसिद्धमत एतद्युज्यते वक्तुममुष्माद्धेतोरकारणं परमाणव इति। तत्त्वसिद्धम्। तस्मान्न किं चिदेतत्। उच्यते परिच्छिन्नदेशत्वात्। इह यत्परिच्छिन्नदेशं तत्कृतकं दृष्टम्। तद्यथा घटः, परिच्छिन्नदेशश्च। तस्मात्परमाणवः कृतकाः, किं चान्यत् रूपादिमत्त्वात्। इह यद्रूपादिमत्तत्कृतकं दृष्टम्। तद्यथा - घटः। रूपादिमन्तश्च परमाणवः। तस्मात्कृतकाः। किं चान्यत् औष्ण्ययोगात्। यदौष्ण्ययुक्तं तत्कृतकम्। तद्यथा प्रदीपः, तद्वन्तश्चाग्नेयाः परमाणवः। तस्मात्कृतकाः। किंच वेगवत्त्वात्। इह यद्वेगवत्तत्कृतकम्। तद्यथा इषुर्वेगवान्, तद्वन्तो वायवीयाः परमाणवः। तस्मात्कृतकाः। किंच स्नेहद्रवत्वयोगात्। इह यत्स्नेहद्रवत्वयुक्तं तत्कृतकम्। यथा केदारादिष्वापः। इत्थं चाप्याः परमाणवः। तस्मात्कृतकाः। किंचाधेयत्वात्। इह यदन्यस्मिन्नाधीयते तत्कृतकम्। तद्यथा ठधरम् (?)। आधीयन्ते च परमाणवः पृथिव्याम्, तस्मात्कृतकाः। किंच अर्थान्तराधारत्वात्। इह यदर्थान्तरस्याधारत्वं प्रतिपद्यते तत्कृतकम्। तद्यथा घटः। अर्थान्तरस्य च द्वयणुकादेराधारत्वमणवः प्रतिपद्यन्ते तस्मात्कृतकाः। किञ्च प्राप्तिव्यवधानात्। इह ययोर्मध्ये अन्तरा द्रव्यमवस्थितं प्राप्तेर्व्यवधायकं भवति, तौ कृतकौ। तद्यथा द्वयङ्गुली। तथा चाणू द्वावन्तराण्वन्तरमवस्थितं, यो यः प्राप्तेर्व्यवधायकं तौ कृतकौ तस्मात्तावपि कृतकौ। किञ्च द्रव्यान्तरारम्भकत्वात्। इह यद् द्रव्यान्तरारम्भकं तत्कृतकं वः। तद्यथा तन्तुः, द्रव्यारम्भकाश्च परमाणवः। तस्मात्कृतकाः। किञ्च प्रत्यक्षत्वात्। इह यत्प्रत्यक्षं तत्कृतकं दृष्टम्। तद्यथा घटः, प्रत्यक्षाश्च योगिनां परमाणवः। तत्कृतकाः। अतएव कृतकत्वमिति चेत् स्यान्मतं यत एव योगिनां प्रत्यक्षाः परमाणवस्तत एव कृतकाः। किं कारणम्? अस्मदादिप्रत्यक्षं घटादि हि कृतकं दृष्टमिति कृत्वा। एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? शरीरकृतकत्वप्रसङ्गात्। शरीरमपि हि योगिनां प्रत्यक्षं, कामं तदप्यकृतकमस्तु। अथ नैतदेवं तर्हि नाकृतकाः परमाणवः। प्रधानादिषु प्रसंग इति चेन्न, अनभ्युपगमात्। श्रीकपिलब्राह्मणैरपि प्रधानपुरुषावप्रत्यक्षाविति नः शास्त्रम्। तस्माद्यत्किञ्चिदेतत्। सत्तादिवदिति चेत् स्यान्मतम्, यथा सत्तागुणत्वरूपत्वादीनां सति प्रत्यक्षत्वेऽकृतकत्वम् एवं परमाणूनां भविष्यतीति। तदप्ययुक्तम्। कस्मात्? साध्यत्वात्।

परमाण्वकृतकत्ववत्सत्तादीनां सद्भावोऽसिद्धः। तस्माच्छशविषाणात्पुरुषविषाणसिद्धिवदग्राह्यमेतत्। सौक्ष्म्यादणूनां कृतकत्वाप्रसंग इति चेत्, स्यान्मतम्, न हि परमाणुभ्यः सूक्ष्मतरमन्यद् भावान्तरमस्ति यदेषामारम्भकं स्यात्। परा खल्वेषा काष्ठा सौक्ष्म्यस्य यत्परमाणवः। तस्मादेषां कृतकत्वमनुपपन्नमिति। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? पाकजेष्वतिप्रसंगात्। सौक्ष्म्यादकृतकत्वमिच्छतः पार्थिवेषु तु परमाणुष्वग्निसंयोगाच्छ्यामतामपमृद्य ये पाकजा आधीयन्ते तेषामकृतकत्वप्रसंगः। तेऽपि परमाणवः सूक्ष्माः। यत्तु खल्वतिसौक्ष्म्यात्प्रधानपुरुषयोरकृतकत्वं दृष्टं तत्सति विभुत्वे। न च यथा प्रधानपुरुषावेवमणवोऽपि विश्वं व्यश्नुवते। तस्मात्सति सौक्ष्म्ये पाकजवदेषां कृतकत्वमनिवार्यम्। येषां तु कार्यद्रव्यं पश्यत (पच्यत ?) इति पक्षस्तेषामयमनुपालम्भ इत्यतः परमाणुसमवेतं कर्मोदाहार्यम्। तद्धि सूक्ष्ममतीन्द्रियं कृतकं चेति सिद्धं कृतकाः परमाणवः। कृतकत्वाच्चैषामनित्यताप्यनपातिनीति कृत्वाऽन्तरालप्रलयमहाप्रलयेषु प्रध्वंसात्परमाणूनां कारणाभावात्कार्याभाव इति स्वशास्त्रसिद्धादनुमानाज्जगदुच्छित्तिदोषप्रसंगः। तथा भोगिनामुपचितस्य स्वकर्मणोऽनुपभोगात्कृतस्य विप्रणाशः। अनिष्टं चैतत्। तस्मान्न जगत्कारणं परमाणवः।

याऽपि खल्वियमाशंका पुरुषाज्जगदुत्पत्तिर्भविष्यतीति साऽप्ययुक्ता। कस्मात्? प्रतिषेधात्। 'तस्माच्च विपर्यासात्' (का० १९) इत्यत्र पुरुषस्याकर्तृत्वमुपपादयिष्यामः। चैतन्याविशेषादीश्वरस्यापि स एव विधिः कारणत्वप्रतिषेधे बोद्धव्यः।

आह—अस्त्येवमीश्वर इति पाशुपतवैशेषिकाः। कस्मात्? कार्यविशेषस्यातिशयबुद्धिपूर्वकत्वात्। इह कार्यविशेषः प्रासादविमानादिरतिशयबुद्धिपूर्वको दृष्टः। अस्ति चायं महाभूतेन्द्रियभुवनविन्यासादिलक्षणः कार्यविशेषः। तस्मादनेनाप्यतिशयबुद्धिपूर्वकेण भवितव्यम्। यत्पूर्वकोऽयं स ईश्वरः। तस्मादस्तीश्वर इति। किञ्चान्यत् चेतनाचेतनयोरभिसम्बन्धस्य चेतनकृतत्वात्। इह चेतनाचेतनयोरभिसम्बन्धश्चेतनकृतो दृष्टः, तद्यथा गोशकटयोः। अस्ति चायं चेतनाचेतनयोः शरीरशरीरिणोरभिसम्बन्धः। तस्मादनेनापि चेतनकृतेन भवितव्यम्। यत्कृतोऽयं स ईश्वरः। तस्मादस्तीश्वरः कारणम्। उच्यते—यत्तावदुक्तं कार्यविशेषस्यातिशयबुद्धिपूर्वकत्वादीश्वरसद्भावसिद्धिरिति। अत्र ब्रूमः न, साध्यत्वात्। अस्मदादिबुद्धिपूर्वकाः प्रासादादयः, अतिशयबुद्धिपूर्वका वा इति साध्यमेतत्। तस्मादनुत्तरम्। किञ्च प्राक्प्रधानप्रवृत्तेर्बुद्ध्यसम्भवात्कारणान्तरप्रतिषेधात् प्रधानादयं बुद्धिपूर्वकं कार्यविशेषं कुर्वीत। प्राक्च प्रधानविपरिणामाद् बुद्धिरेव नास्तीत्युपपन्नमेतत्। शक्तिमत्त्वात्स्वत इति चेत् स्यात्पुनरेतत् सर्वशक्तिप्रचित ईश्वरः। तस्य प्रागपि प्रधानविपरिणामात्स्वत एवेच्छायोगाद् बुद्धिसद्भावो न प्रतिषिध्यत इति। एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? दृष्टान्ताभावात्। बुद्धिः स्वत एवेत्यत्र पर्यनुयुक्त (स्य) कस्ते दृष्टान्तः? तस्मादसदेतत्। शक्तिविशेषाददोष इति चेत्, अथापि स्यात् नान्येषां

बुद्धिमतामीश्वरतुल्या शक्तिः। अत एषां प्रधानाच्छरीरव्यूहसमकालमात्मादिसन्निकर्षाद्वा बुद्धय उत्पद्यन्त इति, ईश्वरस्य तु स्वत इति। एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? सर्ववादसिद्धिप्रसंगात्। दृष्टान्तविरुद्धमर्थमादाय प्रतिबध्यमानेन शक्तिविशेषः स्मर्तव्य इत्येतस्यां कल्पनायां सर्ववादसिद्धिप्रसंगः स्यात्। तस्माद् ग्रहमात्रमेतत्। एवं स्वत ईश्वरस्य बुद्धिसम्भवो न चेद् भवेत् युक्तमुच्यते प्राक्प्रधानप्रवृत्तेर्बुद्ध्यसम्भवान्न बुद्धिमत्पूर्वकोऽयं कार्यविशेषः। किञ्च फलानुपपत्तेः। दृष्टमदृष्टं वा फलमुद्दिश्य बुद्धिमन्तः कार्यविशेषान्प्रासादविमानादीनारभमाणा दृश्यन्ते। अनुपहतश्चायमैश्वर्यात्। किञ्च प्रयोजकाऽनुपपत्तेः। अन्येन खलु प्रयुक्ता बुद्धिमन्तः कार्यविशेषमारभमाणा दृश्यन्ते। तच्चानुपपन्नमीश्वरस्य, तद्विशिष्टानुपपत्तेः। किञ्च अनेकान्तात्। न च सर्वः कार्यविशेषो बुद्धिपूर्वकः। वृक्षादीनां तदव्यतिरेकेणोत्पत्तेः। सर्वस्येश्वरबुद्धिपूर्वकत्वाभ्युपगमे दृष्टान्ताभावः। न चास्त्यनुदाहृतो वादः। तस्मादनेकान्तान्न बुद्धिमत्पूर्वकं व्यक्तम्। किञ्च दुःखोत्तरत्वात्। बुद्धिपूर्वकश्चेदस्य कार्यविशेषः स्यात्कर्तुर्दुःखोत्तरविधाने प्रयोजनं नास्ति। शक्तिमांश्चायमिति सुखोत्तरमेव विदध्यात्। दुःखोत्तरश्चायं, तस्मान्न बुद्धिपूर्वकः कार्यविशेषः। चिञ्च दुःखोपायत्वात्। बुद्धिपूर्वकश्चेदयं कार्यविशेषः स्याद्धर्मार्थकाममोक्षप्राप्तयः सुखोपायाः स्युः, दुःखोपायाश्च तस्मादबुद्धिपूर्वकः। धर्माधर्मनिमित्तत्वाददोष इति चेत् स्यान्मतम्, यद्यपीश्वरपूर्वकोऽयं कार्यविशेषः तथाप्यादिसर्गे सुखोत्तराणामसमदुत्पन्नानां प्राणिनां धर्माधर्मपरिग्रहाद् हीनमध्यमोत्कृष्टवयोजातिस्वभावादियोगो भवति। ततश्च नाऽपराधोऽयमीश्वरस्येति। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? अधर्मोत्पत्तिहेत्वभावात्। ईश्वरश्चेद्धर्माऽधर्मयोरुत्पत्तावीष्टे धर्ममेव प्राणिनां सुखहेतुत्वादुत्पादयत्, नाधर्मं, प्रयोजनाभावात्। अथ मतं स्वाभाविकी धर्माधर्मयोः स्वकारणादुत्पत्तिः यदुक्तं सर्वमीश्वरबुद्धिपूर्वकं व्यक्तमिति तु तस्य व्याघातः। तस्मादीश्वरो न कारणम्। यत्पुनरेतदुक्तं चेतनाचेतनयोरभिसम्बन्धस्य चेतनकृतत्वादीश्वरस्य सद्भाव इति, अत्र ब्रूमः—अयुक्तमेतत्। कस्मात्? साध्यत्वात्। योऽयं चेतनाचेतनयोर्गोशकटयोरभिसम्बन्धः स केन चेतनेन कृतः? यदि चैत्रेण, तस्य कार्यकारणसंघातत्वादाचेतन्यम्। अथ चैत्रशब्दवाच्यस्य पिण्डस्योपद्रष्टा क्षेत्रज्ञः तत्कृत इष्यते तदयुक्तम्, साध्यत्वात्। न हि पुरुषकर्तृत्वमस्मत्पक्षे प्रसिद्धम्। उभयपक्षप्रसिद्धेन व्यवहारः। किञ्चान्यत् अनवस्थाप्रसंगात्। चेतनाचेतनयोरभिसम्बन्धस्य चेतनकृतत्वं ब्रुवतः प्राप्तमीश्वरकार्यकारणयोरभिसम्बन्धस्य चेतनकृतत्वम्। तथा चाऽन—वस्थाप्रसंगः। अथ मा भूदयं दोष इति स्वाभाविक ईश्वरस्य कार्यकारणयोरभिसम्बन्ध इष्यते, न तर्ह्यैकान्तिको हेतुः। तयोराचेतन्याददोष इति चेत्, स्यात्पुनरेतत् ईश्वरस्य यत्कार्यकारणं तदपि चेतनमीश्वरोऽपि; तस्मात्सम्बन्धेन प्रत्युदाहरणमुपपद्यत इति। एतदयुक्तम्। कस्मात्? असम्बन्धप्रसंगात्। चैतन्याविशेषादात्मन आत्मान्तरेणाभिसम्बन्धो नास्ति। एवमीश्वरकार्यकारणयोरपि न स्यात्। अनिष्टं चैतत्। किञ्च अविपर्ययप्रसंगात्।

उभयचैतन्यप्रतिज्ञस्य यथेश्वरस्य करणं बुद्धयादयः, एवमीश्वरोऽपि बुद्ध्यादीनां करणं स्यात्। कस्मात्? अविशेषात्। अथैतदनिष्टं, न तर्ह्युभयोश्चैतन्यम्। कार्यकारणवत्ताऽनभ्युपगमाददोष इति चेत्, व्यापी निरवयवोऽनन्तशक्तिः सूक्ष्मेभ्यः सूक्ष्मतमो महद्भ्यो महत्तमोऽधिकरणधर्माऽनादिरित्येवमनन्तलक्षणमीश्वरपदार्थं तद्विदो व्याचक्षते। तस्य कुतः कार्यकरणमवलम्ब्येदमध्यारोपितमिति? एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? अनुमानविरोधात्। इत्थं चेदीश्वरो यदिदमनुमानं कार्यविशेषस्यातिशयबुद्धिपूर्वकत्वाच्च चेतनाचेतनयोरभिसम्बन्धस्य चेतनकृतत्वादिति तद्व्याहन्यते। कस्मात्? न ह्येतावदीदृशार्थेन सहैतद् दृष्टमिति। उपेत्य वा, मूर्तिपरिग्रहव्याघातात्। यद्येकान्तेनैवंरूप ईश्वरः, क्षित्यादिमूर्तिपरिग्रहो व्याहन्येत। किञ्चान्यत्—श्रुतेः। श्रुतिरपि चास्य मूर्तिमाचष्टे—कृत्तिवासाः पिनाकहस्तो विततधन्वा नीलशिखण्डीत्यादि। तदभ्युपगमात्स्वपक्षहानिरिति चेत्, स्यान्मतं यदि तर्हि श्रुतिवचनान्मूर्तिमानीश्वरः परिगृह्यते। तेन सिद्धमस्याऽस्तित्वम्। कस्मात्? न ह्यसतो मूर्तिमत्त्वमुपपद्यत इति कृत्वा। एतदप्ययुक्तम्। अभिप्रायाऽनवबोधात्। न ह्येकान्तेन वयं भगवतः शक्तिविशेषं प्रत्याचक्ष्महे, माहात्म्यशरीरादिपरिग्रहात्। यथा तु भवतोच्यते प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः तयोः प्रयोक्ता नास्तीत्ययमस्मदभिप्रायः, तस्मादेतस्य बाधकम्। अतो न प्रधानपुरुषयोरभिसम्बन्धोऽन्यकृतः। किं चान्यत् अशक्यत्वात्। कुर्वाणः खल्वप्ययमभिसम्बन्धं शरीरमात्रेण वा शरीरिणः कुर्यात्, शरीरकारणेन वा? किञ्चातः? तन्न तावच्छरीरमात्रेण करोति। कस्मात्? अनपेक्षस्य शरीरोत्पत्तौ निमित्ताभावात्। न शरीरकारणेन, विभुत्वात्। परिछिन्नयोर्गोशकटयोरभिसम्बन्धोऽन्यकृतः, विभू च प्रधानपुरुषौ। किञ्च पारार्थ्यात्। गोशकटयोरभिसम्बन्धः परार्थो दृष्टः। न तु प्रधानपुरुषयोरभिसम्बन्धः परार्थ इति। ईश्वरार्थ इति चेन्न, उक्तत्वात्। दृष्टादृष्टार्थ ईश्वरस्यानुपपन्न इत्यादावेवोक्तमेतत्। एवं तावत्पाशुपतानामीश्वरपरिग्रहे दोषः।

वैशेषिकाणां चायं दोषः। किञ्च द्रव्यादिपदार्थान्तरभावाभावपरिकल्पनाऽनुपपत्तिश्च। तैरीश्वरो द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायभूतो वा परिकल्प्यमानः परिकल्प्यते, पदार्थान्तरभूतो वा? किञ्चातः? तन्न तावद् द्रव्यादिभूतः। कस्मात्? द्विविधं हि द्रव्यं अनेकद्रव्यमद्रव्यं च। तत्र नाऽनेकद्रव्यमीश्वरः, कृतकत्वादिदोषप्रसंगात्। नाऽद्रव्यं, परिसंख्यानात्। पृथिव्यादीनि मनःपर्यन्तानि नवैव द्रव्याणीति वः सिद्धान्तः। इतिकरणस्य परिसमाप्त्यर्थत्वात्। किञ्च गुणकर्मनिर्देशात्। सति चास्य द्रव्यत्वे वैशेषिकगुणनिर्देश आचार्येण कृतः स्यात्। कारणान्तरप्रयोगसमर्थस्य च कर्म निर्दिष्टं स्यात्। न तु तथा। तस्मान्न द्रव्यगुणादयः। आश्रयपरतन्त्रा हि गुणादयः परार्थाः। एवं न द्रव्यादिभूतो नापि पदार्थान्तरभूतः। पदार्थत्वे हि सति द्रव्यादिवल्लक्षणमुक्तमभविष्यत्। आचार्येण तु नोक्तम्। तस्मात्सूत्रकारमते नास्तीश्वरः। लिङ्गादिति चेत्, स्यान्मतम्—संज्ञाकर्मत्वमस्म-

द्विशिष्टानां लिङ्गम्। प्रत्यक्षपूर्वकत्वाद्वा संज्ञाकर्मण इत्येतस्माल्लिगादीश्वरपरिग्रह आचार्यस्य सिद्ध इति। तदप्ययुक्तम्। कस्मात्? अभिप्रेताऽसिद्धेः। सत्यमनेन लिङ्गेनास्मदादिभ्यो विशिष्टशक्तेः कस्यचिदेव माहात्म्यशरीरस्याऽन्यस्य वा प्रतिपत्तिः स्यात्। संज्ञामात्रं तु यथा भवद्भिः सर्वकारणानां सृष्ट्युपसंहारप्रवृत्तिहेतुरेकः स्वतन्त्र इष्यते। तथा चास्माल्लिङ्गात्प्रतिपत्तिः। किञ्चान्यत्। प्रागनुपदेशेऽकौशलप्रसंगात्। ईश्वरपरतन्त्रे चेदणूनां प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातां तमेव प्रागुपदिशेत्। धर्मवत्प्रधानपदार्थस्य वा प्रागनुपदेशादकुशलः सूत्रकार इत्येतदापद्यते। न चैतदिष्टमुभयम्। किञ्चान्यत् असंकीर्तनात्। शास्त्रप्रदेशे चायमीश्वरो न कस्मिंश्चिदप्याचार्येण संकीर्तितः। न चास्य वध्वा इव श्वशुरनामसंकीर्तने दोषोपपत्तिः स्यात्। दोषसंविभागार्थमिदमाचार्यस्याऽनिष्टमध्यारोप्यते, न तु मतमस्यैतत्। एवं काणादानामीश्वरोऽस्तीति पाशुपतोपज्ञमेतत्। तस्मादीश्वरोऽप्यकारणम्।

कर्माणुभिर्व्याख्यातम्। कथम्? यथा कृतकत्वान्न जगत्कारणमणवः, एवं कर्मापि न शरीरनिमित्तं, तस्मात्तदप्यकारणम्। इतरेतरनिमित्तत्वाददोष इति चेत् स्यान्मतम्, यथाऽन्तरेण शरीरं कर्म नोत्पद्यमानं दृष्टमेवमन्तरेण कर्म शरीरस्यापि कारणान्तरमशक्यं कल्पयितुमिति परस्परनिमित्तत्वान्नाऽस्य परिवर्तस्य पूर्वकोटिः प्रज्ञायते। तस्मान्नास्त्यनयोः कारणान्तरमिति। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? अनवस्थानानामवस्थानपूर्वकत्वदर्शनात्। तद्यथा शुक्रशोणिताच्छरीरं शरीराच्छुक्रशोणितमित्यस्य परिवर्तस्य पूर्वकोटिरदृष्टा, प्रतिज्ञायते चाप्योनिजत्वमीश्वरशरीराणामादिसर्गे च। तथा च बीजादङ्कुरादयोऽङ्कुरादिभ्यो बीजमित्यनवस्था। भवति चात्रादिसर्गे परमाणुमात्रादपि बीजप्रादुर्भावस्तथा शरीरकर्मणोरनवस्था। इदानीमपि चादिसर्गे चाधिकारमात्रवशाच्छरीरोत्पत्तिः स्यात्। साधारणविग्रहत्वप्रसंग इति चेत् स्यादेतत्, यद्यधिकारनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरादिसर्गेऽभ्युपगम्यते प्राप्तमेकेन शरीरेण सर्वपुरुषाणामभिसम्बन्धो नियमहेत्वभावात्। ततश्च शरीरान्तरानर्थक्यम्। तेनैव सर्वेषामुपभोगसामर्थ्यादिति। एतदनुपपन्नम्। कस्मात्? प्रत्यक्षविरोधात्। सत्यमेतदनुमानतः। प्रत्यक्षतस्तु शरीराणि प्रतिपुरुषम्, तस्मान्नायं प्रसंगः। अपवर्गनियमप्रसंग इति चेत् स्यान्मतं यद्यधिकारमात्रवशाच्छरीरोत्पत्तिः परमर्षेरेवापवर्गसाधनं शरीरादुत्पद्येतेति। उच्यते—न तस्यैव, किं तर्हि सर्वेषां गुणानां प्राधान्यात्तन्निमित्तानि शरीराण्यादिसर्गे सांसिद्धिकान्युत्पद्यन्ते। तत्र यस्य सत्त्वप्रधानं कार्यकरणं स परमर्षिः। यस्य सत्त्वं रजोबहुलं स माहात्म्यशरीरः। एवं गुणसम्पर्काद् गुणप्रधानाप्रधानभावेन यावत्स्थावरशरीरप्रादुर्भाव इत्यतो नास्ति गुणानां शरीरविनियोगपक्षपातः। तस्माद्युक्तमेतत्कृतकत्वान्न कर्म जगत्कारणमिति। एतेन चैवं व्याख्यातम्। तदपि हि कर्मणामेव प्राप्तपरिपाकाणामभिधानमर्थान्तरमेवेति चेत्साध्यम्। तस्मादप्यकल्पनीयमिति।

यदप्युक्तं कालाज्जगदुत्पत्तिर्भविष्यतीति तदनुपपन्नम्। कस्मात्? कारणपरिस्पन्दस्यैव तदभिधानसन्निवेशात्। न हि नः कालो नाम कश्चिदस्ति, किं तर्हि क्रियमाणक्रियाणामेवादित्यगतिगोदोहघटास्तनितादीनां विशिष्टावधिसरूपप्रत्ययनिमित्तत्वम्। परापरादिलिङ्गसद्भावात्प्रतिपत्तिरिति चेन्न, अकृतकेषु तदनुपपत्तेः। यदेव कृतकं तत्रैव परमपरमित्यादिः प्रत्ययो दृष्टः। स यदि क्रियाव्यतिरिक्तनिमित्तः स्यादविशेषान्नित्यानित्येषु स्यात्। क्वचित्सामर्थ्यादपाकजवददोष इति चेत् स्यान्मतम्—यथाऽग्निसंयोगः पाकजहेतुः तथा चाविशेषेऽपि पृथिव्यामेव पाकजोत्पत्तिनिमित्तं भवति नाकाशादिषु। एवं कालोऽपि परापरादिहेतुरथ चाऽनित्येष्वेव स्यान्न नित्येष्विति। तच्चायुक्तम्। कस्मात्? विशेषोपपत्तेः। रूपादिविक्रियाहेतुरग्निस्तद्युक्तं यदसौ तद्वति द्रव्ये पाकजानादद्यात्, (ना)-तद्वत्याकाशादौ। कालस्तु सम्बन्धमात्रोपकारी न विक्रियाहेतुः। तस्मादसदेतत्। एवं यदि क्रियाभ्योऽन्यः काल इष्यते कारणपरिस्पन्दस्य जगत्कारणत्वमथान्यत्साध्यम्।

यदृच्छाऽपि न कारणं कर्मवत् कार्यकारणभावात्। कार्यकारणभूतं हीदं व्यक्तमिति प्राग्व्याख्यातम्। स च कार्यकारणभावः प्रेक्षापूर्वकृतानां शयनादीनामुपलब्धौ यादृच्छिकेषु चाऽनुपलब्धौ न तस्या लिङ्गमिति शक्यं वक्तुम्।

अभावोऽप्यकारणम्, परिमाणादिदर्शनात्। न हि तत उत्पन्नानां परिमाणमुपपद्यत इत्यतो नाप्यन्वयः। सात्मकनिरात्मकयोरत्यन्तजातिभेदात्। नापि शक्तिस्तदभावात्। नोपकारोऽनवस्थानात्। न विभागो निरात्मकत्वात्। तस्मान्न परमाणुपुरुषेश्वरकर्मदैवकालस्वभावयदृच्छाऽभावेभ्यो व्यक्तमुत्पद्यते। न चेदेभ्यः, परिशेषतः प्रधानस्यैवास्तित्वलिङ्गमिदम्। तस्माद्युक्तमेतत् भेदानां परिमाणादिभ्यः कारणमस्त्यव्यक्तमिति ॥१५॥

युक्ति०—आह, एवमप्यस्य व्यक्तहेतुत्वमनुपपन्नम्, एकत्वात्। बहूनां कार्यारम्भो दृष्टस्तन्त्वादीनाम्। एकं प्रधानं, तस्मान्न तदारम्भशक्तियुक्तमिति। उच्यते—यद्यपि गुणानां प्रधानलक्षणमवस्थान्तरमभिन्नबुद्धिनिमित्तत्वादेकमपि कार्यकाले किञ्चिद्वैषम्योपजनितव्यपदेश्यरूपाभिरितरेतरोपकारिणीभिः शक्तिभिः समुदायत्वमापद्यते। तस्मादिदानीं

प्रवतते त्रिगुणतः समुदयाच्च।

प्रवर्तते इत्यनेनोत्पत्तिमाचष्टे। त्रिगुणत इत्यव्यपदेश्यरूपाणां प्रधानाप्रधानभावेन गुणशक्तीनां वैषम्याद्व्यपदेश्यरूपान्तरमाह। यत्रैतच्छक्यते वक्तुं त्रयः सत्त्वादय इति तदवस्थानं कार्यारम्भकमिति। समुदयादित्यनेन परस्परापेक्षाणामारम्भशक्तिमवद्योतयति। एतदुक्तं भवति—कार्यकाले गुणाः परित्यक्तपूर्वावस्था भेदं प्रतिलभ्य परस्परोपकारेण संहन्यन्ते। संहताश्च व्यक्तमुत्पादयन्ति। तस्मान्नाऽवस्थान्तरस्याभिन्नबुद्धिनिमित्तत्वात्प्रधानैकत्वदोषः गुणभेदान्नैकम्य कार्यारम्भ इति।

आह, निष्क्रियत्वात्तर्हि प्रकृतेः कार्यारम्भोऽनुपपन्नः। क्रियात्वाऽनभ्युपगमे वा व्यक्त-

वैधर्म्यविरोध इति। उच्यते--न, क्रियावैधर्म्यभेदात्। द्विविधा हि क्रिया प्रस्पन्दलक्षणा परिणामलक्षणा च। तत्र प्रस्पन्दः प्रधानस्य सौक्ष्म्यात्प्रतिषिध्यते।

परिणामतः

परिणामतस्तु तत्कार्यमारभते इति। आह—ननु च परिणामोऽपि सौक्ष्म्यात्प्रधानस्य नोपपद्यते। कस्मात्? न हि सौक्ष्म्यात्सूक्ष्मस्याकाशादेर्विपरिणामो दृष्ट इति। उच्यते—संस्कारस्य सौक्ष्म्येऽपि परिणामोऽभ्युपगन्तव्यः। तस्माद् युक्तः सूक्ष्मपरिणामीति।

आह, कः पुनरयं परिणामो नाम? उच्यते—

जहद्धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम्।
तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते॥ इति।

यदा शक्त्यन्तरानुग्रहात्पूर्वधर्मान् तिरोभाव्य स्वरूपादप्रच्युतो धर्मी धर्मान्तरेणाविर्भवति तदवस्थानमस्माकं परिणाम इत्युच्यते। आह, नैतदभिधानमात्रं दृष्टान्तमन्तरेण प्रतिपद्यामहे। तस्माद्यथा किमिति वक्तव्यम्। उच्यते—यथा पालाशं पलाशादप्रच्युतनिमित्तान्तरस्यातपादेरनुग्रहाच्छ्यामतां तिरोभाव्य पीततां व्रजति तथेदं द्रष्टव्यम्। आह न, अन्यथोत्पत्तेरप्रतिषेधात्। कथं पुनरेतदवगम्यते पालाशं स्वरूपादप्रच्युतं धर्मान्तरस्य परित्यागमुपादानं च करोति, न पुनरन्यथा चान्यथा चोत्पद्यत इति? उच्यते—क्षणभङ्गप्रतिषेधात्। प्रागेव क्षणभङ्गनिर्दिष्टं विनष्टानां भावानां पुनरुत्पत्तौ नास्ति कारणम्। तदभावे चोत्पत्तिरयुक्तेति। आह, धर्मधर्मिणोरनन्यत्वाऽभ्युपगमाद्धर्मोत्पत्तिविनाशे धर्म्युत्पत्तिविनाशप्रसंगः। न हि वो धर्मेभ्योऽन्यो धर्मी। तत्र यदि धर्मस्य निवृत्तिरभ्युपगम्यते धर्मिणोऽपि निवृत्तिरनन्यत्वात्प्राप्ता। धर्मोत्पत्तौ तदुत्पत्तिः। तत्र यदुक्तं धर्मोत्पत्तिविरोधे धर्मिस्वरूपावस्थानमिति एतदयुक्तम्। उच्यते न, सेनादिवद्व्यवस्थानोपपत्तेः। तद्यथा सेनाङ्गेभ्योऽनन्यत्वं सेनायाः। न च सेनाङ्गानां विनाशे सेनाविनाशः। तद्यथा तन्तुभ्यो नाऽन्यः पटः। बौद्धानां संयोगावयविप्रतिषेधात्। न च पटविनाशे तन्तुविनाशः। तत्र यदुक्तं धर्मिविनाशे धर्मविनाश इति एतदयुक्तम्। आह, एवमप्ययुक्तम्। तत्कस्मात्? सामान्यविशेषयोर्धर्मिस्वरूपपरिकल्पनानुपपत्तेः। इह रूपादिसामान्यं वा धर्मिरूपत्वेन परिकल्प्यमानं परिकल्प्येत रूपादिविशेषो वा? किञ्चातः? तत्र तावद्रूपादिसामान्यं धर्मिस्वरूपमिति शक्यं कल्पयितुम्। कस्मात्? असम्भवात्। यदि तावत्पृथिवी सामान्यं घटादिर्विशेषस्तेन पृथिव्यपि तन्मात्रापेक्षया विशेषः। यावत्प्रधानमिति नास्ति सामान्यम्। तदभावाद् धर्मिस्वरूपाभावः। अथ विशेषा घटादयस्तेषां विशेषान्तरेण सहाऽवस्थानाद्धर्मिस्वरूपानवस्थानात्। ततश्च यदुक्तं स्वरूपादप्रच्युतो धर्मी धर्मान्तरं विजहाति; धर्मान्तरमुपादत्ते इति तद्व्याहन्यत इति। उच्यते—यदुक्तं रूपादिसामान्यविशेषयोर्धर्मिस्वरूपपरिकल्पनानुपपत्तिरिति, अस्तु सामान्यम्। यत्तूक्तं सामान्यं

सामान्यान्तरापेक्षं विशेषत्वमिति न प्रत्ययनिवृत्तौ सामान्याभावावस्थितेस्ततश्च धर्मिस्वरूपसिद्धेः, यावत्पृथिवीत्ययं प्रत्ययो न निवर्तते तावत्पृथिवी सामान्यं घटादिर्विशेषः, द्रव्यत्वं चासौ, धर्मान्तरपरिवर्तेषु तदाकारप्रत्ययोत्पत्तितः स्वरूपावस्थानसिद्धेर्धर्मा घटादयः। यदा तु पृथिवीप्रत्ययनिवृत्तिस्तदा तन्मात्राणां सामान्यभावो द्रव्यत्वं च विशेषो धर्म इति यावत्प्रधानं तस्य तु सामान्यान्तरानुपपत्तेः कौटस्थ्यमेव। यत्र सर्वविशेषाभावस्तत्प्रधानम्। यदि तु पृथिव्यादीनां नित्यमव्यावृत्तं स्यात्सामान्यरूपमेवं सति कौटस्थ्यमेषां प्राप्तम्। तस्मान्न धर्मिस्वरूपाभावः। शक्तेर्वा सामान्यभावाऽभ्युपगमात्। अथवा सुखदुःखमोहशक्तय एवेह महदादिना विशेषान्तेन लिङ्गेन परिणामं प्रतिपद्यन्ते। तासां च सततं सामान्यप्रत्ययनिमित्तत्वात्स्वरूपादप्रच्युते तद् द्रव्यत्वं लिङ्गस्य धर्मत्वम्। अप्रसिद्धेरयुक्तमिति चेन्नोक्तत्वात्। प्रागुक्तमेतत्सुखादिपूर्वकमिदं विश्वमिति।

आह, एवमपि वैश्वरूप्यानुपपत्तिः। कारणाविशेषात्। यदि सुखादिशक्तय एव परिणामिन्यो यदिदं ब्रह्मादि स्थावरान्तं वैश्वरूप्यं तन्नोपपद्यते। कस्मात्? न ह्यभिन्नं कार्यमुत्पद्यत इति। उच्यते—शक्तिश्च परिणामिनी, भवति तेन वैश्वरूप्यम्। कथम्?

सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्॥ १६॥

यथाऽन्तरिक्षादविशिष्टस्याम्भसः प्रच्युतिराश्रयेण गोभुजङ्गमोष्ट्रादीनां, विशेषात्क्षीरमूत्रविषादिवैश्वरूप्यं चोपपद्यते। तथा गुणशक्तयो विशिष्टाः परस्पराश्रयविशेषाद् ब्रह्मादि स्तम्बान्तं जात्याकृतिवाग्बुद्धिस्वभावाहारविहाररूपं वैश्वरूप्यं प्रतिपद्यन्ते। तस्मात्सिद्धमेतत् प्रकृतिरेव सर्वभावानां प्रसवित्री। न च कश्चिद्दोष इति॥ १६॥

॥ युक्तिदीपिकायां सांख्यसप्ततिपद्धतौ चतुर्थमाह्निकम्॥

संङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्य्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥ १७॥

अन्वयः—सङ्घातपरार्थत्वात्; त्रिगुणादिविपर्य्ययात्; अधिष्ठानात्; भोक्तृभावात्; कैवल्यार्थम्, प्रवृत्तेः; च, पुरुषः, अस्ति॥ १७॥

शब्दार्थः—संघातपरार्थत्वात्=संघात (वस्तु-समुदाय) के दूसरों के लिये होने से; त्रिगुणादिविपर्ययात्=त्रिगुणभाव का अभाव होने से; अधिष्ठानात्=(सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिये चेतन) अधिष्ठाता अर्थात् संचालक होने से; भोक्तृभावात्=भोक्ता की अपेक्षा होने से; कैवल्यार्थम्=मोक्ष के लिये, प्रवृत्तेः=प्रवृत्ति होने से, पुरुषः=पुरुष, अस्ति=है॥ १७॥

अर्थः—सभी संघातों (वस्तु-समूहों) के दूसरों के लिये होने से, (पूर्वोक्त) त्रिगुणत्व आदि का अभाव होने से, सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिये चेतन अधिष्ठाता (संचालक या प्रेरक) तथा भोक्ता की अपेक्षा होने से एवं प्राणिमात्र की मोक्ष के लिये प्रवृत्ति होने से पुरुष की अलग सत्ता सिद्ध होती है ॥ १७ ॥

त० प्र०—प्रधानस्याऽस्तित्वसाधनानन्तरं सम्प्रति पुरुषस्यास्तित्वप्रतिपादनार्थमुच्यते—संहन्यन्ते मिश्रीभवन्ति अनेके सुखादयो येषु ते संघाताः बुद्धयादिपदार्थाः तेषां परार्थत्वात् परोपयोगयोग्यत्वात् पुरुषः अस्ति। अव्यक्तमहदहङ्कारादयः परार्थाः संघातत्वात्, शयनासनादिवत्। यथा पीठतूलीप्रच्छादनपटोपधानसंघातः पर्यङ्कः परार्थम्, तस्य न किमपि स्वार्थम्। एवमेव सुखदुःखमोहात्मकानि व्यक्ताव्यक्तादीनि परार्थं न तु स्वार्थम्। यदर्थमिमानि स व्यतिरिक्तः पुरुषः इति। इतश्च पुरुषोऽस्ति—

त्रिगुणादिविपर्ययात्,—यदुक्तं पूर्वस्यामार्य्यायां 'त्रिगुणमविवेकिविषय' इत्यादि तस्माद्विपर्ययात्, उक्तञ्च तत्र—'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।'

'अधिष्ठानात्'—त्रिगुणात्मकानाम् अधिष्ठीयमानत्वात्। यद्यत्सुखदुःखमोहात्मकं तन्निखिलं परेणैव अधिष्ठितं सञ्चालितम्, यथा लंघनधावनसमर्थैः अश्वैः युक्तः रथः सारथिना अधिष्ठितः प्रवर्तते। बुद्धयाद्यपि सुखदुःखमोहान्वितं चेदं, तस्मादेतदपि केनचिदन्येन अधिष्ठातव्यम्। स च त्रैगुण्यविरहितः आत्मैवेति। तथा—

'भोक्तृभावात्'—दृश्यते हि लोके सुखदुःखमोहात्मकञ्च जडं वस्तु परस्य भोग्यं भवति। तस्य न स्वात्मनि प्रयोजनावसानम्। एवं सुखदुःखमोहात्मकस्य बुद्धयादिसमवायस्य भोग्यस्य असुखाद्यात्मा कश्चित् भोक्ता भवितुमर्हतीति, तस्मात्। इतश्च,—'कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च'—केवलस्य स्वरूपप्रतिष्ठितत्वसहकृतस्य दुःखत्रयप्रशमस्य भावः कैवल्यं तन्निमित्तं या च प्रवृत्तिस्तस्याः। दृश्यन्ते हि शास्त्राणि महर्षयश्च दुःखत्रयप्रशमलक्षणस्य कैवल्यस्य निमित्तं यतमानानि। न चैतद्बुद्धयादिषु सम्भवति तेषां प्रकृत्या दुःखादिरूपत्वात्। अतोऽवगम्यते अस्ति कश्चिद्दुःखादिभिर्व्यतिरिक्तः आत्मा यस्य ततो वियोगः शक्यसम्भवः, तस्मादवबुद्ध्यते अस्ति कश्चिदात्मेति। एभिः पञ्चभिर्हेतुभिः आत्मा शरीराद् व्यतिरिक्तः सिद्धयतीति ॥ १७ ॥

टिप्पणी—'संघातपरार्थत्वात्'—सुख, दुःख तथा मोह मिलकर जिनमें रहते हैं वे बुद्धि आदि तत्त्व 'संघात' कहे जाते हैं। आनन्द, दुःख एवं मोह प्रदान करने वाले संसार के शय्या आदि पदार्थ भी 'संघात' ही हैं। 'संघात' सर्वदा दूसरों के लिए होता है, जैसे शय्या स्वयं अपने लिये न होकर दूसरों के लिये होती है। इसी तरह बुद्धि आदि भी दूसरों के लिये हैं। जिनके लिये ये हैं वे ही इनसे भिन्न पुरुष हैं। यही है 'संघातपरार्थत्वात्' का रहस्य।

'अधिष्ठानात्'—जो जो त्रिगुणात्मक (अर्थात् सुखदुःखमोहात्मक) होते हैं वे किसी न किसी से अधिष्ठित होते हैं, जैसे रथ सारथी से अधिष्ठित (सञ्चालित) होता है। बुद्धि आदि भी सुखदुःख तथा मोहात्मक हैं, अतः कोई न कोई इनका भी अधिष्ठाता होना चाहिये। जो अधिष्ठाता है वही पुरुष है। पुरुष चेतन है और अव्यक्त व्यक्त अचेतन। अचेतन चेतन के द्वारा सञ्चालित होता है।

'भोक्तृभावात्' सुख-दुःख एवं मोहात्मक जड वस्तु दूसरों के भोग के लिये हुआ करती है। उसका स्वयं अपने लिये कोई उपयोग नहीं होता, जैसे षड्रस से युक्त व्यञ्जन आदि। इसी तरह सुखादिस्वरूप बुद्धि आदि दूसरे के भोग के लिये हैं। इनका जो भोक्ता है, वही पुरुष है।

'कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च'—कैवल्य कहते हैं—दुःखों के सार्वकालिक आत्यन्तिक प्रशमन को। सभी शास्त्र एवं महर्षि आदि कैवल्य (मोक्ष) के लिये प्रयत्न करते हुए दिखलायी पड़ते हैं। यह कैवल्य बुद्धि आदि में सम्भव नहीं, क्योंकि वे स्वयं दुःखरूप ही हैं। इससे ज्ञात होता है कि सुखादि रूप बुद्धि आदि के अतिरिक्त कोई पदार्थ अवश्य है। यही पुरुष है।

'पुरुषोऽस्ति'– सांख्य के मत में पुरुष एक नहीं बहुत से हैं, जैसा कि अगली कारिका से स्पष्ट है। अतः यहाँ एकवचन अविवक्षित है। कारिकाकार इस कारिका से केवल पुरुष की सत्तामात्र सिद्ध करना चाहते हैं, न कि उसका एकत्व या अनेकत्व। पुरुष एक है या अनेक इसका विवेचन इसके बाद ही होगा ॥ १७ ॥

युक्ति०—आह, समधिगतं प्रधानम्। पुरुष इदानीं कार्यकारणव्यतिरिक्तोऽस्तीत्येतत्प्रतिपाद्यम्। कुतः संशय इति चेत्, अनुपलभ्यमानस्योभयथा दृष्टत्वादित्युक्तम्। किञ्चान्यत्। आचार्यविप्रतिपत्तेः। विज्ञानस्कन्धव्यतिरिक्तो नास्ति कश्चिदर्थ इति शाक्यपुत्रीयाः प्रतिपन्नाः। कस्मात्? सर्वप्रमाणाऽनुपलब्धेः। इह यदस्ति तत्प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनोपलभ्यते, तद्यथा रूपादि। ततश्च तावदयमात्मा न प्रत्यक्षत उपलभ्यते। कस्मात्? अशब्दादिलक्षणत्वात्। नान्तःप्रत्यक्षतः। कस्मात्? त्रिगुणादिविपरीतस्य तदविषयत्वात्। न पूर्ववच्छेवद्भ्याम्। कार्यकारणाऽनुपपत्तेः। न च सामान्यतोदृष्टात्। धर्मसामान्याभावात्। नाप्तवचनात्। अनभ्युपगमात्। न हि बौद्धानां श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासाः प्रमाणम्। यश्चैषामागमः, स एवमाह—

"आत्मैव ह्यात्मनो नास्ति विपरीतेन कल्प्यते।
नैवेह सत्त्वमात्मास्ति धर्मास्त्वेते सहेतुकाः॥
द्वादशैव तवाङ्गानि स्कन्धायतनधातवः।
विचिन्त्य सर्वाण्येतानि पुद्गलो नोपलभ्यते॥

शून्यमाध्यात्मिकं विद्धि शून्यं पश्य बहिर्गतम् ।
न दृश्यते सोऽपि कश्चिद्यो भावयति शून्यताम् ॥

पुनरप्याह "अस्ति कर्मास्ति विपाकः, कारकस्तु नोपलभ्यते य इमान्स्वान्धर्मानाक्षिपति। अन्यांश्च प्रतिसन्दधाति, अन्यत्र धर्मसंकेतात् ।" तस्मात्सर्वप्रमाणानुपलब्धेर्नास्त्यात्मेति ।

उच्यते—यत्तावदुक्तं प्रत्यक्षतः पूर्ववच्छेषवद्भ्यां चात्मनो नोपलब्धिरिति, सत्यमेतत् । यत्तूक्तं सामान्यतोदृष्टादनुपलब्धिरात्मसामान्याऽनुपपत्तेरिति, तदयुक्तम् । कस्मात् ?

संघातपरार्थत्वात्

इह संघाताः परार्था दृष्टाः । तद्यथा शयनासनरथचरणादयः । अस्ति चायं शरीरलक्षणः संघातः । तस्मादनेनाऽपि परार्थेन भवितव्यम् । योऽसौ परः स पुरुषः । तस्मादस्ति पुरुषः । आह, संघातार्थत्वोपलब्धेः । शयनादयो हि सत्यपि परार्थत्वे संघातार्थाः । यदि च तैरतिदेशः कार्यकारणसंघातस्य क्रियते प्राप्तमस्य तद्वत्संघातार्थत्वम् । एवं पुरुषविपरीताऽर्थसिद्धिप्रसंगः । अथैतदनिष्टं, न तर्हि चक्षुरादयः परार्थाः । उच्यते—न शक्यमेतदापादयितुम् । कस्मात् ? असंहतत्वसिद्धौ वादप्रवृत्तेः । सिद्धे सत्यसंहतत्वे पुरुषस्यायं वादः प्रवृत्तः । तस्मान्न पारार्थ्यमनेन बाध्यते । कथमवगम्यत इति चेत्, प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धेः । सति हि संघातत्वे देवदत्तादिवदयं पुरुषः प्रत्यक्षत एवोपलभ्येत । तथा च सति संशयाभावात्प्रवृत्तिरेवास्य वादस्य न स्यात् । तस्मादयुक्तं संहतार्थाः शयनादिवच्चक्षुरादयः । आह, परस्परोपकारित्वात्पारार्थ्यसिद्धिः । इह क्षेत्रोदकसूर्यादयः शस्यादीनामुपकारकाः । तथा कार्यकारणत्वात्संघातश्च । यथोक्तं तस्मादयुक्तमेतेषां पारतन्त्र्यमिति । उच्यते—न शयनादिवत्ततोऽन्येनार्थवत्त्वात् । तद्यथा शयनाद्यङ्गानां सति परस्परोपकारित्वे ततोऽन्येनार्थवत्त्वात्तदभावे चार्थानर्थक्यम् । एवं चक्षुरादीनां सति परस्परोपकारित्वे ततोऽन्येनार्थवत्त्वं भवितुमर्हति । तदभावे चार्थाऽनर्थक्यमिति । आह, शयनादीनां देवदत्तार्थत्वात्तस्य च भेदाऽबहिर्भावात्परस्परार्थत्वप्रसंगः । एवं शयनादयो देवदत्तार्थाः, कार्यकारणसंघातश्च देवदत्तशब्दवाच्यस्तत्र भेदानामेव भेदार्थत्वात्पुरुषार्थसिद्धिः । दृष्टान्ताऽभावो वा । अथ मतं शयनादयो न देवदत्तार्थाः, किं तर्हि क्षेत्रज्ञार्थाः । तथा सति साध्यसमो दृष्टान्त इति । उच्यते—न, प्रसिद्ध्यनुरोधात् । सत्यं कार्यकारणसंघातस्य पारार्थ्यम् । भोक्तृत्वं नोपपद्यते । लोके तु देवदत्तार्थत्वं शयनादीनां प्रसिद्धम् । अतस्तदनुगच्छन्तो वयमप्येवं ब्रूमः । कस्मात् ? प्रसिद्धेः । प्रसिद्धेन ह्यप्रसिद्धं तद्धर्मतामापद्यते । पश्चात्तु द्वयोरप्येकधर्मानुगमाद्धर्मान्तरेणाऽपि तद्वत्ताऽनुमीयते । तथा च क्षणभङ्गाधिकारे भवद्भिरप्युक्तं "यस्य हि प्रतिक्षणमन्यथात्वं नास्ति तस्य बाह्यप्रत्ययो भेदः, पश्चाद्विशेषग्रहणे नास्ति । तद्यथा भूमेरपच्यमानायाः पाकजानाम् ।" न च भूमेः प्रतिक्षण-

मन्यथात्वं नास्ति, अक्षणिकत्वप्रसंगात् । सौक्ष्म्याद् दुरधिगमो भेद इति दृष्टान्तः प्रत्युक्तः । तस्मात्सिद्धं संघातपरार्थत्वादस्ति पुरुषः ।

इतश्च—

त्रिगुणादिविपर्ययात्

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि च बाह्याध्यात्मिकं तथा प्रधानम् । तत्र यद्येतावदेतत्स्यात् किमपेक्ष्य व्यक्ताव्यक्तयोस्त्रैगुण्यादीति ?

किं चान्यत् ।

अधिष्ठानात् ।

इहाऽऽकस्मिक्यां प्रधानप्रवृत्तावर्थवशः सन्निवेशविशेषनियमो न स्यात् । श्रोत्रादि पृथिव्यादीनां देवमानुषतिर्यक्षु हितयोगार्थश्चाहितप्रतिषेधार्थश्च सः । तस्मादस्ति तद्व्यतिरिक्तो यदधिष्ठितानां गुणानामयं चित्ररूपो विपरिणामः । कर्तृत्वप्रसंगादधिष्ठानानुपपत्तिरिति चेत्, स्यान्मतं यदि गुणानां पुरुषाधिष्ठितानां प्रवृत्तिरभ्युपगम्यते, कर्तृत्वमस्य प्राप्तम् । अथाऽकर्ता न तर्ह्यस्त्यधिष्ठातृत्वमिति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? अर्थे तदुपचारात् । यथाऽपुरुषार्थः सिद्धयति तथा गुणा कार्यकारणभावेन व्यूह्यन्त इत्यतस्तत्पारतन्त्र्यादेषामधिष्ठितत्वमुपपद्यते, पुरुषस्य चाधिष्ठातृत्वम् । अतो नास्य कर्तृत्वप्रसंगः । तस्माद्युक्तमेतत् अधिष्ठानात्पुरुषः ।

किञ्चान्यत् ।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्

इह सुखदुःखमोहात्मकत्वादचेतनं व्यक्तमव्यक्तं च, तस्मादस्य परस्परेण भोगो नोपपद्यते, इत्यवश्यं भोक्त्रा भवितव्यम् । योऽसौ भोक्ता स पुरुषः । आह, कः पुनरयं भोगो नाम ? उच्यते—भोग उपलब्धिसद्भावात् । विज्ञानमेव हि विषयोपलब्धिसमर्थमित्यतस्तावन्मात्रमेवास्तु किं पुरुषेण परिकल्पितेनेति ? उच्यते—किं पुनरिदं विज्ञानं नामेति ? आह, चित्तं मनो विज्ञानमिति । तच्च षड्विधं ज्ञानं - चक्षुर्विज्ञानं, श्रोत्रविज्ञानं, घ्राणविज्ञानं, जिह्वाविज्ञानं, कायविज्ञानं, मनोविज्ञानमिति । तत्र रूपं प्रतीत्य चक्षुश्चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम् । एवं श्रोत्रशब्दघ्राण-गन्ध-जिह्वा-रस-मनोधर्माश्चित्तमुत्पादयन्ति । तस्य धर्माः- वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्शो, मनः, संस्कार एवमादयः । तस्माद्विज्ञानस्कन्धस्यैवोपभोगसामर्थ्यान्नास्त्यात्मेति । उच्यते - न, अचेतनविकारस्य चेतनानुपपत्तेः । यत्तु खल्विदमिष्यते रूपं प्रतीत्य चक्षुश्चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानमित्यादि, तेनाचेतनविकारत्वात्तदचेतनं घटादिवदित्यापन्नम् । तस्मान्मनोधर्मश्चेतनेति मनोरथमात्रमेतत् । विलक्षणकार्योत्पत्तिदर्शनात्तत्सिद्धिरिति चेत्, स्यान्मतं नायं नियमः यदुत यज्जातीयं कारणं तज्जातीयकेन कार्येण भवितव्यम् । किं तर्हि विलक्षणकार्योत्पत्तिरपि भावानामुपलभ्यते । तद्यथा – शृङ्गाच्छरो जायते, गोलोमाऽविलोमभ्यो दूर्वा । वत्सतरान्मुक....यश्चन्द्रकान्तेन्दुसंयोगात्सलिलम् ।

सूर्यकान्तगोमयार्कसम्पर्कात् सुधोदकसम्पर्कादरणिनिर्मथनाच्चाग्निः । एवमचेतनेभ्यो रूपादिभ्यश्चेतनमुत्पद्यते इति । एतच्चायुक्तम्, चेतनाऽचेतनोत्पत्तिनियमवत्तन्नियमात् । यथा सत्येतस्मिन्विलक्षणकार्यप्रादुर्भावे भवतश्चेतनाच्चित्तान्नाचेतनं घटाद्युत्पद्यत इति नियमः, तथा सत्येतस्मिन्विलक्षणकार्यप्रादुर्भावे नाऽचेतनेभ्यो रूपादिभ्यश्चेतनं चित्तमुत्पद्यते इत्ययं नियमो नः । तस्मादेषां दृष्टानां सति बहुत्वे मायाकारनगरविन्यासवदयथार्थज्ञान-विषयत्वादसाधीयस्त्वम् । प्रदीपवत्तद्व्यवस्थेति चेत्, स्यादेतत् यथाऽचेतनेभ्यः सत्त्वादिभ्यो ऽव्यवसायकं घटाद्युत्पद्यत इति नेदानीं व्यवसायको महान्नोत्पद्यते । एवं रूपादिभ्योऽचेतनं घटाद्युत्पद्यत इति नेदानीं चेतनं चित्तं नोत्पद्यत इति । एतदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? शक्तिभेदात् । प्रकाशस्वाभाव्याद्व्यवसायात्मकं सत्त्वम् । तद्युक्तं यदि तत्प्राधान्याद्व्यव-सायात्मको महानुत्पद्यते । तमःप्राधान्यादव्यवसायका घटादयः । भवतस्त्वेकाकारा रूपादयः । तस्मादयमसमः समाधिरिति । आह, किं व्यवसायचैतन्ययोः कश्चिद्रूपभेदोऽस्ति नवेति ? उच्यते – किं तर्हि त्रैगुण्यात्सति प्रत्ययरूपत्वे संवेद्या बुद्धिर्यथा तु व्यवसायरूपं तथा चैतन्यरूपमिति । तथा च वार्षगणाः पठन्ति —बुद्धिवृत्त्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनाऽनु-वर्तमानामनुयाति पुरुष इति । आह च

अर्थाकार इवाभाति यथा बुद्धिस्तथा पुमान् ।
आभासमानो बुद्ध्याऽतो बोद्धा मणिवदुच्यते ॥
यथा यथा मनोवृत्तिः पुरुषोऽपि तथा तथा ।
बुद्धिरूपमवाप्नोति चेतनत्वात्पराश्रयम् ॥

आह, रूपाभेदात्पुरुषान्तःकरणयोरन्यतरपरिकल्पनाऽनर्थक्यम् । यदि तर्हि यथा व्यवसायरूपं तथा चैतन्यरूपम्, एवं सति व्यवसायमात्रं परिकल्पनीयं चैतन्यमात्रं वा ? कस्मात् ? न ह्येकान्तकारिणोर्युगपत् कल्पने सामर्थ्यमस्ति । रूपान्तराऽभिधानं वा । अथ व्यवसायचैतन्ययोः पदार्थान्तरमेवेति नित्यतो विशेष्यते, तर्हि वक्तव्यमिदममुष्यैवं रूपं नाऽमुष्येति । उच्यते—य एवमाह रूपाभेदादर्थाभेद इति स तावदिदं प्रष्टव्यः—अथ किम् ? भवतः किं विज्ञानविषययोराकारभेदोऽस्ति उत नास्तीति ? नेत्याह । कस्मात् ? आकारान्तरे सति विषयपरिच्छेदानुपपत्तेः । न हि विषयस्य विज्ञानप्रत्यवभासमन्तरेण शक्यं स्वरूपं परिच्छेत्तुम् । तत्र यदन्याकारो गौरन्याकारं गोविज्ञानं स्यात्तेन यथाऽन्या-कारेणाऽश्वविज्ञानेनाऽन्याकारस्य गोरपरिच्छेदः, एवमन्याकारेण गोविज्ञानेनान्याकारस्य गोरपरिच्छेदः स्यात् । तस्मान्नास्ति विषयविज्ञानयोराकारभेद इति । उच्यते—तयोरिदानीं विषयविज्ञानयोः किमुभयत्वमुताभेद इति ? आह; कस्मात् ? ज्ञाप्यज्ञापकभावादिति । उच्यते—

ज्ञानविज्ञेययोर्यद्वद्रूपाभेदेऽपि भिन्नता ।
ग्राह्यग्राहकभावेन तथैवात्मप्रकाशयोः ॥

यथैव तर्हि भवतः सत्यप्याकाराभेदे ज्ञानविज्ञेययोर्ग्राह्यग्राहकभावपरिकल्पनाद् भेद एवं पुरुषान्तःकरणयोरपीति। ग्राह्यग्राहकभावासिद्धेरयुक्तमिति चेत् स्यादेतत्, यथा गोतद्विज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकभावो निश्चितो नैवं पुरुषान्तःकरणयोः। तस्माद्वैषम्यमिति। एतदनुपपन्नम्। कस्मात्? मार्गान्तरगमनात्। प्रागुक्तं येषामाकारभेदो नास्ति तेषामेकत्वम्। इदानीं तु रूपाऽभेदेऽपि ग्राह्यग्राहकभावादेवं ब्रुवतो मार्गान्तरम्। ज्ञानमात्राभ्युपगमादशक्यीयमिति चेत् स्यान्मतम्, ज्ञानमेवान्तराऽसद्विषयभूतानुरञ्जितं विषयविषयिरूपेण प्रत्यवभासते। न तु किञ्चिद्बाह्यं किञ्चिद् ग्राह्यरूपापन्नमस्ति। तस्माज्ज्ञान विज्ञेययोर्ग्राह्यग्राहकभेदाद् भेद इत्यशक्यीयमेतत् इति। तदप्ययुक्तम्। कस्मात्? सिद्धान्तभेदात्। येषां बाह्यो विषयोऽस्ति तत्पक्षेऽयं दोषः। इतरेषां तु ज्ञानमात्रस्य विषयविषयिभावं प्रतिषेत्स्याम इति। आह, एवमपि विषयाऽनवस्थाप्रसंगः। विषयिणो विषयत्वप्रतिज्ञानात्। यदि विषयिणोऽप्यध्यवसायस्य विषयभावः प्रतिज्ञायते, तेन पुरुषस्यापि विषयिणोऽन्यो विषयीति प्राप्तम्, तस्याप्यन्य इत्यनवस्था। अथ मा भूदयं दोष इति पुरुषो निश्चयरूपत्वान्न विषयो न तर्ह्यध्यवसायादपि निश्चेतुरर्थान्तरं कल्पयितव्यमिति। उच्यते—चेतनत्वात्पुरुषे तदनुपपत्तिः। इन्द्रियाणि तावद् ग्रहणमात्ररूपत्वादप्रत्ययानीति प्रत्ययवदन्तस्तावत्करणं परिकल्प्यते। अन्तःकरणमप्युपात्तविषयेन्द्रियवृत्त्युपनिपातात्तद्रूपापत्तावपि सत्यामचेतनत्वात्स्वयमुपलब्धुमसमर्थमेव विषयमित्यतो भोक्तारं चेतनं पुरुषमपेक्षते। पुरुषस्य तु चेतनत्वाद् द्रष्ट्रन्तरमशक्यं कल्पयितुम्। तस्मान्नाऽनवस्थाप्रसंगः। आह, पुरुषस्याध्यवसायकर्तृत्वप्रसंगः, चैतन्यात्।' यद्यचेतना बुद्धिस्तेन तस्या अध्यवसायो वृत्तिर्घटादिवन्न प्राप्नोति। अतः पुरुषस्याध्यवसायः प्राप्तः। ततश्च बुद्ध्यभाव इति। उच्यते—न, कैवल्यादप्रतिबन्धप्रसंगात्। अनामिश्ररूपं पुरुषतत्त्वमिति एतदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः। स यदि व्यवसायकः स्यात्, अप्रतिबन्धेन दिङ्निश्चयादिषु सुप्तमत्तमूर्च्छितानां च व्यवसायः स्यात्। दृष्टस्त्वेवमवस्थस्य व्यवसायप्रतिबन्धः। तस्मान्न पुरुषस्य व्यवसायः। यस्य पुनरन्तःकरणं व्यवसायकं तस्यैवं दोषो नास्ति। कस्मात्? त्रैगुण्यात्। सत्त्वादिसंस्थानविशेषो हि बुद्धिः, करणान्तरप्रतिषेधात्। तत्र यदाऽध्यवसायलक्षणं सत्त्वं गुणाभावात्प्रधानभूतेन तमसा तिरस्कृतशक्ति भवति तदाऽव्यवसायप्रतिबन्धः। आह, कथं पुनरेतद् गम्यते सर्वमिदमचेतनमिति? उच्यते—प्रकृतिविकारभूतत्वात्। इह यत्प्रकृतिविकारभूतं तदचेतनम्। तद्यथा तन्तुपटादयः प्रकृतिविकारभूतं तस्मादचेतनम्। आकाशे दर्शनान्नैकान्त इति चेन्न, असिद्धत्वात्। न ह्याकाशस्यात्मपक्षे प्रकृतिविकारत्वाभावः सिद्धः। तस्माद्युक्तमेतत्प्रकृतिविकारभूतत्वादचेतनं सर्वम्। अत एव च चेतनस्याऽप्रकृतिविकारभूतत्वं परस्परवैधर्म्यात्। तस्मान्नान्यस्य परमार्थस्य भोक्तृत्वमाचेतन्यादुपपद्यते, न चेत्सूक्तं भोक्तृभावादस्ति पुरुषः।

केवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

इह प्रवृत्तिमतां निमित्तमन्तरेण निवृत्तिर्नोपपद्यते । प्रधानमपि च प्रवृत्तिमद्, व्यक्तदर्शनात् । तस्माद्यस्य कैवल्यं प्रधानप्रवृत्तिहेतुः स पुरुषः । प्रधानाऽनभ्युपगमादुभयाऽप्रसिद्धिरिति चेत् स्यादेतत्, प्रधानं चेतनवदस्माकमप्रसिद्धम् । यावत्तस्य कैवल्यार्थं प्रवृत्तिर्भवता पुरुषास्तित्वे लिङ्गमपदिश्यते तदिदमसिद्धं न सिद्धं प्रतिपाद्यत इति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? पूर्वं तत्प्रतिपादनात् । प्राक्प्रधानमप्रतिपाद्यैवमाचक्षाणः सत्यमेवं पर्यनुयोगार्हः स्यात्, साधितं तु प्रधानं परिमाणादिभिरित्यतो न किञ्चिदेतत् । सर्वाचार्यविप्रतिपत्तेः । पुरुषार्थसिद्धिरिति चेत् स्यान्मतम्, यदि पुरुषस्य सत्त्वमेव स्यात्तेन तं प्रत्याचार्याणां न धर्मविवादः स्यात् । अस्ति चासौ । तथा हि केषाञ्चिन्निर्गुणः, केषाञ्चित्परवान् । अतः सर्वेषां विभुः, परिमितोऽन्येषां, तथैको नैक इति । तस्माद् भ्रान्तिमात्रं पुरुषकल्पनेति । एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? सर्वपदार्थाभावप्रसंगात् । रूपादिष्वपि विप्रतिपत्तेः । केषाञ्चित्क्षणिकाः, केषाञ्चित्कालान्तरावस्थायिनः, तथाश्रिताः, स्वतन्त्रा इत्यादि । तथा श्रोत्रादीनि भौतिकानि, आहंकारिकाणि, पौरुषाणीति विप्रतिपत्तिः । एवं सर्वपदार्थाऽभावः स्यात् । तस्मादस्ति पुरुषः । तत्र युक्तं सर्वप्रमाणाऽनुपलब्धेर्नास्ति पुरुष इति एतदयुक्तम् । यदप्युक्तम् 'शून्यमाध्यात्मिकं पश्येति' तस्य पश्चात्प्रतिषेधं वक्ष्यामः । यत्पुनरेतदुक्तं 'अस्ति कर्मास्ति विपाकः कारकस्तु नोपलभ्यत' इति सत्यमेतत् । न हि पुरुषस्कन्धानां निक्षेपे प्रतिसन्धानेऽन्यत्र वा कारक इति नः पक्षः । तस्माच्छ्रेयोऽ(र्थि)भिः सर्वागमतर्कविरुद्धां नैरात्म्यवादपरिकल्पनाभ्रान्तिमसमञ्जसामपोह्य पुरुषसत्त्वपरिज्ञानादेव जननमरणादिसर्वोपद्रवप्रतिपक्षभूतं परममृतं ध्रुवं स्थानमवाप्तव्यमिति ॥ १७ ॥

जन्ममरणकरणानां[१] प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव[२] ॥ १८ ॥

अन्वयः—जन्ममरणकरणानाम्, प्रतिनियमात्; अयुगपत्प्रवृत्तेः; च, त्रैगुण्यविपर्ययात्; च; पुरुषबहुत्वम्; सिद्धम्; एव ॥१८॥

शब्दार्थः— जन्ममरणकरणानाम्=नये नये शरीर के सम्बन्धरूप जन्म तथा उनके त्यागरूप मरण और चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की, प्रतिनियमात्=प्रत्येक आत्मा के साथ भिन्न व्यवस्था होने के कारण; अयुगपत्प्रवृत्तेः=(धर्म आदि में सभी के) एक साथ न लगने के कारण; च-और; त्रैगुण्यविपर्ययात्=सत्त्व आदि तीनों गुणों के भेद के कारण, च-भी; पुरुषबहुत्वम्=पुरुष की अनेकता; सिद्धम् एव=सिद्ध ही है ॥१८॥

---

१. 'जननमरणकरणानाम्'—मङ्गला-धृतपाठः ।

२. 'त्रिगुणादिविपर्ययाच्चैव'—युक्तिदीपिका ।

अर्थः—नये नये शरीर के सम्बन्धरूप जन्म तथा उनके त्यागरूप मरण और चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की प्रत्येक आत्मा के साथ भिन्न व्यवस्था होने के कारण; धर्म आदि में सभी के एक साथ न लगने के कारण और प्रत्येक व्यक्ति में सत्त्व आदि तीनों गुणों के भेद के कारण भी पुरुष की अनेकता सिद्ध ही है ॥१८॥

त० प्र०—अस्तित्वे च सिद्धे आत्मनः, सः किमेकः सर्वशरीरे व्याप्तः मणिरसनात्मकसूत्रवत् ?, आहोस्वित् बहवः आत्मानः प्रतिशरीरं भिन्नाः ? इति जिज्ञासायामुच्यते—'जन्म च मरणञ्च करणानि चेति जन्ममरणकरणानि तेषाम् । जन्म नूतनशरीरसम्बन्धः । मरणं शरीरात् आत्मनः उत्क्रमणम् । करणानि तु श्रोत्रादीनि । प्रतिनियमात् प्रत्येकनियमात् । ।यदि सर्वशरीरे एक एव आत्मा स्यात्तदा एकस्य जन्मनि सर्वे एव जायेरन्, एकस्य च म्रियमाणे सर्वे एव म्रियेरन्, एकस्य अन्धादौ सर्वे एव अन्धादयः स्युः । न चैवं भवति । तस्माज्जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् पुरुषबहुत्वं सिद्धमेव । इतश्च—**'अयुगपत्प्रवृत्तेश्च'**—न युगपदेककालम् अयुगपत् प्रवृत्तिः प्रवर्तनं तस्मात् । यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवृत्तिरवलोक्यते, एके धर्मे प्रवृत्ताः, अन्ये अधर्मे, ज्ञाने चान्ये, इतरे च वैराग्ये । अतः अयुगपत्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धमेव । अत्रेदं ध्येयं यद्यपि प्रयत्नलक्षणा प्रवृत्तिः अन्तःकरणवर्तिनी, तथापि पुरुषसन्निधानात् तस्मिन् उपचर्यते । किञ्चान्यत्—**त्रैगुण्यविपर्ययात्**,—त्रिगुणभावविपर्ययादित्यर्थः । केचित्खलु सत्त्वबहुलाः सुखिनः, यथा देवाः योगिनश्च । केचिद्रजोबहुलाः दुःखिनः, यथा मानवाः । केचित्तमोबहुलाः मूढाः, यथा तिर्यग्योनयः।। यद्येक एव पुरुषः स्यात् ततो नेयं व्यवस्था भवेत् । एवं त्रैगुण्यविपर्यासात् पुरुषबहुत्वं सिद्धमेव ॥ १८ ॥

टिप्पणी—'जन्ममरणकरणानाम्'—यदि पुरुष एक ही होता तो एक के पैदा होने पर सभी पैदा होते, एक के मरने पर सभी मर जाते तथा एक के अन्धा, बहरा एवं लगड़ा आदि होने पर सभी अन्धे, बहरे तथा लगड़े हो जाते, किन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है ।

'अयुगपत्प्रवृत्तेः'—यदि एक ही पुरुष होता तो एक के धर्म में लगने पर सभी धर्म में लग जाते, एक के अधर्म में लगने पर सभी अधर्म में लग जाते किन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है । यहाँ यह स्मरणीय है कि किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करना अन्तःकरण का काम है । किन्तु अन्तःकरण तभी प्रवृत्त होता है, जब कि पुरुष का उसके साथ संयोग होता है । इस संयोग के कारण ही अन्तःकरण का धर्म पुरुष में आरोपित होता है, जैसे सेना का कार्य सेनापति का कार्य कहा जाता है—उसमें आरोपित किया जाता है ।

'त्रैगुण्यविपर्ययात्'—इस संसार में कोई सात्त्विक होने से सुखी है तो कोई राजस होने से दुःखी तथा कोई तामसी होने से मूढ । यदि पुरुष एक ही होता तो यह भिन्न

क्रम देखने को न मिलता। अतः इस कारण से भी पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है ॥१८॥

युक्ति०—आह, गृह्णीमहे तावदस्त्ययमात्मेति। इदानीमनेकोऽथैक इति विचार्यम्। कुतः संशय इति चेत्, सम्बन्धिनामुभयथा दृष्टत्वात्। इह कस्यचिदनेकस्याऽनेकेन सम्बन्ध उपलभ्यते। तद्यथा श्रोत्रादिना शरीरस्य। कस्यचिदेकस्यानेकेन। तद्यथाऽऽकाशस्य घटादिना। अयमपि चात्मा कार्यकारणसम्बन्धीत्यतः संशयः किं श्रोत्रादिवदनेकः, आकाशवदेको वेति? किञ्चान्यत्। आचार्यविप्रतिपत्तेः। औपनिषदाः खलु एक आत्मेति प्रतिपन्नाः। काणादाक्षपादार्हतप्रभृतयः पुनरनेक इति। यथा चैकानेकत्वं प्रत्यात्मनो विप्रतिपत्तिरेवं साक्षित्वौदासीन्यद्रष्टृत्वाकर्तृत्वेषु। तस्माद्वक्तव्यं कथमेते धर्माः पुरुषेऽवतिष्ठन्त इति? उच्यते—यत्तावदुक्तं सम्बन्धित्वादात्मपदार्थे सन्देहः किमनेकोऽथैक इति, अत्र ब्रूमः—बहवः पुरुषा इति प्रतिज्ञा। कस्मात्?

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्

जन्मेति महदादेः सूक्ष्मशरीराश्रितस्य लिङ्गस्य यथासंस्कारं बाह्येन शरीरेण सम्बन्धः। मरणमिति पूर्वकृतस्य कर्मणः फलभोगपरिसमाप्तेः साम्प्रतस्य च फलभोगस्य प्रत्युपस्थाने लिङ्गस्य पूर्वशरीरत्यागः। करणं त्रयोदशविधमिति (का० ३२) वक्ष्यति। जन्म च मरणं च करणानि च जन्ममरणकरणानि। तेषां प्रतिपुरुषं नियमः। एतस्माल्लिङ्गादात्मनो बहुत्वमवसीयते। एतदुक्तं भवति—जन्मलक्षणं च मरणलक्षणं च कार्यकारणस्यावस्थान्तरं परस्परविरोधिनी तमःप्रकाशवत्। तत्र यद्येक आत्मा स्यात् तेन यथैकं द्रव्यं तमःप्रकाशावेकप्रदेशोपनिपातिनौ न शक्नोत्यनुभवितुमसम्भावात्, एवमयं जन्ममरणे अपि न शक्नुयादुपभोक्तुम्। अस्ति चायं केनचित्कार्यकरणेन जन्मोपभोगः, केनचिन्मरणोपभोगः। तेन मन्यामहे नाना आत्मानः, येषां विरोधिधर्मोपभोगसामर्थ्यमिति। तथा करणानां प्रकाशातिशयो विषयग्रहणलक्षणाऽशुद्धचतिशयश्चाष्टाविंशतिधाऽशक्तिः, तयोः परस्परविरोधादेकेनात्मना युगपदुपभोगो नोपपद्यते। न हि शक्यमेकेनात्मना प्रकाशातिशयो विषयग्रहणलक्षणोऽशुद्धचतिशयश्चाशक्तिलक्षणो विरोधित्वाद्युगपदुपभोक्तुम्। अस्ति चायं करणनिमित्तः प्रतिपुरुषं नियमः। तेन मन्यामहे नाना आत्मान इति।

किञ्चान्यत्।

अयुगपत्प्रवृत्तेश्च।

पुरुषबहुत्वं सिद्धम्

कस्मात्? अयुगपत्प्रवृत्तेः प्रधानस्येति शेषः यस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते। कस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते? प्रधानस्य। कथमिति? उच्यते—यद्येक आत्मा स्यात्तेनैकपुरुषाधिकारनिबद्धं प्रधानम्। शक्तश्चासौ युगपदनेकानि शरीराणि उपभोक्तुमित्यतो यावद्भिः शरीरैरपचितासु

कालमात्रास्वस्मिन्भवपरिवर्ते भवितव्यं सर्वेषामुत्पत्तिं प्रति युगपत्प्रवर्तेत । दृष्टा तु प्रधानस्याऽयुगपच्छरीरभावेन प्रवृत्तिः । तस्मादयुगपत्प्रवृत्तेश्च नाना आत्मान इति । अन्ये पुनराहुः—बहिष्करणानामेवाऽयुगपत्प्रवृत्तेः । कथम् ? यद्येक आत्मा स्यात्तेन तत्संस्कारोपनिबद्धान्येव सर्वाणि करणानीत्यतः प्रतिपिण्डमवस्थितैः करणैर्युगपद्विषयान्गृह्णीयात् । बाधिर्याद्युपघाते वा सति पिण्डान्तरसम्बन्धिना करणेनान्यस्य शब्दादिकरणमप्रतिषिद्धं स्यात् । न तु तथा भवति । तस्मात्करणानामयुगपत्प्रवृत्तेर्नाना आत्मान इति । तदयुक्तम् । कस्मात् ? पूर्वेणाऽविशेषात् । करणानां प्रतिनियमादित्यनेनायमुपसंगृहीतोऽर्थः । तस्माद्यथोक्तमेवास्तु ।

किञ्चान्यत् ।

त्रिगुणादिविपर्ययाच्चैव ॥१८॥

इह त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मीत्येते धर्माः प्रतिपिण्डमुपलभ्यन्ते । यथा चैते तथा तत्प्रतियोगिनो नैर्गुण्यादयः पुरुषधर्माः । तत्र यथैव गुणस्वभावविपरीतस्वभावस्योपलम्भादेकस्मात्पिण्डादेकपुरुषसिद्धिः, एवं प्रतिपिण्डं गुणस्वभावविपरीतस्वभावस्योपलम्भात्पुरुषनानात्वमवसेयम् । तस्मादवस्थितमेतन्नानात्मान इति ॥१८॥

तस्माच्च विपर्य्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१९॥

अन्वयः—च, तस्मात्, विपर्य्यासात्, अस्य, पुरुषस्य, साक्षित्वम्, कैवल्यम्, माध्यस्थम्, द्रष्टृत्वम्, अकर्तृभावः, च, सिद्धम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—च=और, तस्मात् उस (अर्थात् 'त्रिगुणमविवेकि' आदि ग्यारहवीं कारिका में बतलाये गये धर्मों) से, विपर्य्यासात्=भेद या विषमता के कारण, अस्य=इस, पुरुषस्य=पुरुष का, साक्षित्वम्=साक्षी होना, कैवल्यम्=अत्रिगुण अर्थात् दुःखत्रयाभावरूप मोक्ष का होना, माध्यस्थम्=मध्यस्थ या उदासीन होना, द्रष्टृत्वम्=द्रष्टा होना, अकर्तृभावः कर्त्ता न होना, च = भी, सिद्धम्=सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

अर्थः—और उस (अर्थात् 'त्रिगुणमविवेकि' इत्यादि ग्यारहवीं कारिका में बतलाये गये धर्मों) से भेद या विषमता के कारण इस पुरुष का साक्षी होना, अत्रिगुण अर्थात् दुःखत्रयाभावरूप मोक्ष का होना, मध्यस्थ या उदासीन होना तथा कर्त्ता न होना भी सिद्ध होता है (अर्थात् उस 'त्रिगुण' इत्यादि पूर्वकथित धर्मों से भेद होने के कारण पुरुष में साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व तथा अकर्तृत्व रूप धर्मों की सिद्धि होती है) ॥ १९ ॥

त० प्र०—'च' शब्दः पुरुषस्य बहुत्वेन सह धर्मान्तराणि समुच्चिनोति। तस्मात् 'त्रिगुणमविवेकि विषयः' (११) इति कारिकोक्तधर्मेभ्यः इत्यर्थः, विपर्य्यासात् विपर्ययात्—अत्रिगुणत्वात्, विवेकित्वात्, अविषयत्वात्, असाधारणत्वात्, चेतनत्वात्, अप्रसवधर्मित्वाच्चेति, अस्य सांख्यपुरुषस्य साक्षित्वं सिद्धं भवति। अयं भावः - गुणाः एव कर्त्तारः प्रवर्तन्ते, साक्षी पुरुषः न प्रवर्तते नापि निवर्तते। पुरुषस्य चेतनत्वेन अविषयत्वेन च अस्य साक्षित्वम् अतएव द्रष्टृत्वमपि च दर्शितम्। लोके दृष्टविषयो हि साक्षी भवतीति। द्रष्टा अतः साक्षी कश्चिच्चेतनः तथा विषयातिरिक्तः एव भवितुमर्हतीति। किञ्चान्यत्, कैवल्यं केवलभावः, त्रिगुणेभ्यः केवलोऽन्यः। दुःखशून्यत्वात् कैवल्यं मोक्ष इत्यभिधीयते। पुरुषो हि निर्गुण इति पूर्वमेव निगदितम्। तस्य निर्गुणत्वादेव दुःखत्रयाभावरूपमस्य कैवल्यम्। निर्गुणत्वादेवास्य माध्यस्थ्यम्। सुखेन तृप्यन् सुखी, दुःखेन द्विषन् दुःखी च मध्यस्थो न भवति। तदुभयरहितो हि मध्यस्थः उदासीनः आख्यायते। विवेकित्वादप्रसवधर्मित्वाच्चास्य अकर्तृत्वमपि सिद्धमेवेति ॥ १६ ॥

टिप्पणी— साक्षित्वम्, द्रष्टृत्वम्—पुरुष चेतन है। अतः वह विषयों को देखने वाला है। विषय विषय को नहीं देख सकता। चेतन ही विषयों का द्रष्टा होता है। द्रष्टा ही साक्षी (गवाह) होता है। इस प्रकार चेतन होने के नाते पुरुष में साक्षित्व तथा द्रष्टृत्व दोनों ही है ॥ १६ ॥

कैवल्यम्, माध्यस्थ्यम् - दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य है। कैवल्य मोक्ष को कहते हैं। जहाँ त्रिगुण हैं वहीं दुःख होते हैं। पुरुष निर्गुण है। उसमें दुःख नहीं है। अतः उसमें कैवल्य है। कर्म और कर्त्ता त्रिगुण ही हैं। पुरुष निर्गुण है। अतः वह न तो कर्म है और न कर्त्ता। यही कारण है कि वह मध्यस्थ है। अथवा त्रिगुणी ही सुखी अतः प्रसन्न, दुःखी अतः अप्रसन्न तथा मूढ अतः अज्ञानी होता है। पुरुष निर्गुण है। अत वह मध्यस्थ है।

अकर्तृभावः—पुरुष विवेकी है, अप्रसवधर्मी है। अतः वह अकर्त्ता है। (देखिये ११ वीं कारिका)।

विशेष—यहाँ यह स्मरणीय है कि रजोगुण का परिणाम होने से दुःख सांख्याचार्यों के मत में नित्य है। अतः बढ़ाने वाले हेतुओं के अभाव में उसका केवल प्रशम भर हो जाता है, आत्यन्तिक अभाव नहीं होता। विशेष जानकारी के लिये देखिये पहली कारिका का व्याख्यान ॥ १६ ॥

युक्ति०—आह, सिद्धमात्मनो नानात्वम्। साक्षित्वकैवल्यमाध्यस्थ्यद्रष्टृत्वाकर्तृत्वानामिदानीं कस्माद्धेतोः प्रतिपत्तिरिति ? उच्यते—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

तस्मादित्यनेन हेतुसामान्यमाचष्टे। चशब्दोऽवधारणे। विपर्यासादिति सामान्येन हेतुमुपात्तं विशेषेऽवस्थापयति। सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्येत्येवमादिना साध्यधर्मनिर्देशं करोति। तत्र साक्षित्वमित्यनेन गुणानां प्रवृत्तावस्वातन्त्र्यं ख्यापयति, प्रधानस्य तदर्थनिबन्धनत्वात्प्रवृत्तेः। अधिष्ठातृत्वं कथमिति? उच्यते यथा हि क्रियासाक्षिणि कस्मिंश्चिदवस्थिते कर्ता तदिच्छानुविधायी कार्यं निर्वर्तयति, न स्वतन्त्रः, एवं प्रधानमपि। प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्यथा पुरुषस्यार्थः सिद्ध्यति तथा महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतदेवमनुष्यतिर्यक्स्थावरभावेन व्यूहते, न यदृच्छातः। तस्मात्पुरुषस्तदर्थपरतन्त्रत्वात्प्रधानप्रवृत्तिनिवृत्त्योः साक्षी। कैवल्यमित्यनेन संसर्गधर्मत्वमात्मनो निवर्तयति, न यथा सत्त्वादीनां परस्परेण प्रकाशादिधर्मापेक्षाणां संसर्गः, एवं पुरुषस्य तैर्भवति। माध्यस्थ्यमित्यनेनातिशयनिर्ह्रासानुपपत्तेः पुरुषस्य गुणैः सह बाधानुग्रहानुपपत्तिं स्वकार्यप्रवृत्तौ चापक्षपातं दर्शयति। द्रष्टृत्वमित्यनेनोदासीनस्य कार्यकारणपिण्डव्यूहसमकालं चैतन्यशक्तिसद्भावात्सुखदुःखमोहस्वभावानां गुणचेष्टानामनिवृत्तार्थानां सन्निधानमात्रादुपलब्धिमात्रं प्रतिजानाति। अकर्तृभावश्चेत्यनेन सप्तविधमकर्तृत्वमाश्रयति। न ह्ययं विषयेषु बाह्यान्तःकरणसान्निध्येऽध्यवसायं कुरुते। न च सत्त्वादीनां प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणैर्धर्मैरितरेतरोपकारेण प्रवर्तमानानां स्वेन चैतन्यलक्षणेन धर्मेणाऽङ्गभावं प्रतिपद्यते, नाप्यङ्गिभावम्। एवं सह गुणैः कार्यं न कुरुते स्त्रीकुमारवत्। स्थितप्रयोगं न कुरुते रथशकटयन्त्रप्रेरकवत्। न स्वात्मनो मृत्पिण्डवत्। न परतः कुम्भकारवत्। नाप्यादेशान्मायाकारवत्। नोभयतो मातृपितृवत्। तदेवमनेन सूत्रेणाचार्यः पुरुषस्याधिष्ठातृत्वं नैर्गुण्यमौदासीन्यं भोक्तृत्वमकर्तृत्वं च साध्यतामापाद्य त्रिगुणादिविपर्ययं साधनत्वेनोपन्यस्यति। तैः पञ्चभिस्त्रिगुणादिविपरीतैः कर्मभिः पञ्चानामेषां यथासंभवं प्रवृत्तिरवगन्तव्या। तत्र नैर्गुण्यात्साक्षित्वम्, यस्मादयं सुखादिभ्योऽर्थान्तरभूतः तस्मादयं तत्क्रियासाक्षी। आह, तदसिद्धेः। नैर्गुण्यासिद्धेः। यद्यस्य सुखादिधर्मत्वमात्मनः प्रसिद्धं स्यादत एतद्युज्यते वक्तुम्। तत्त्वसिद्धम्। तस्मादयुक्तमेतत्। विशेषाऽनभिधानादितरात्सिद्धिरपीति चेत् स्यान्मतम्, आत्मगुणाः सुखादयो न शब्दगुणा इत्यत्रापि भवता विशेषो नाऽभिधीयते। तस्मादेतदप्यसिद्धम्। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? अहङ्कारेणैकवाक्यत्वे भिन्नाधिकरणत्वं स्यात्। दृष्टं तु सुखितोऽहं दुःखितोऽहमिति। तस्मात्सुखदुःखयोः शब्दाद्यात्मभावो न युक्तः। उच्यते— न, गौरादिष्वनेकान्तात्। तद्यथा गौरः कृष्णोऽहमिति शरीरधर्मैरात्मनो भिन्नाधिकरणत्वमहङ्कारेण, एवं सुखदुःखयोरपि स्यात्। न चात्मगुणत्वं स्यादिति। आह, पृथगुपलब्धेरयुक्तम्। यद्यपि गौरादीनामविभक्तमहङ्कारेण ग्रहणं तथापि पृथगयं प्रागेतानात्मनो गृहीत्वा पश्चादविभक्तान्गृह्णन्शक्नोति व्यवस्थापयितुममुष्यैते न पुनरमुष्येति। न त्वेवं सुखदुःखयोः पृथगुपलब्धिः। तस्मादसदेतदिति। उच्यते—नैवमुपपद्यते। कस्मात्? मार्गान्तरगमनात्। अहंकारेणाऽविभक्तग्रहणादात्मगुणत्वमिति प्रागपदिष्टम्। इदानीं तु सत्यपि तस्मिन्पृथग्ग्रहणा-

दभावं ब्रुवतो मार्गान्तरगमनमनैकान्तिकस्य चाऽपरिहारः । किञ्चान्यत्, संशयाऽव्यतिरेकात् । यत एव गौरादयः पृथगुपलभ्यन्ते न सुखादयोऽत एव संशयः । न च यत एव संशयस्तत एव निर्णयो युक्तः । तस्माद्युक्तमेतद् गौरादिवदहङ्कारेणाप्यभिन्नग्रहणाच्छब्दाद्यात्मभूताः सुखादयः । किञ्चान्यत् । स्वभावाऽवधारणादनुपादानप्रसंगात् । सुखाद्यात्मकाः शब्दादय इत्येवं ब्रुवतः शब्दादीनां स्वभावाऽनवधारणादनुपादानप्रसंगः । निमित्तत्वेनोपादानादग्निवददोष इति चेत् स्यान्मतं, यथाऽग्निः पाकजनिमित्तमुपादीयतेऽथ चैषां पार्थिवत्वमेवं शब्दादयोऽपि सुखादिनिमित्तत्वेनोपादीयेरन्, अथ चैषामात्मगुणत्वमेव स्यादिति । तदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? सामानाधिकरण्यदर्शनात् । यथा निमित्तस्याग्नेर्न पाकजैः सामानाधिकरण्यं पक्वोऽग्निः पच्यतेऽग्निरिति एवं शब्दादीनां निमित्तत्वान्न सामानाधिकरण्यं स्यात् । सुखशब्दो दुःख इति दृष्टं तु । तस्मान्न तेषां निमित्तार्थेनोपादानमिति । आह, एवमपि सुखादीनां शब्दाद्यात्मभावो न युक्तः । कस्मात् ? विप्रतिपत्तेः । यथा हि शब्दाः शब्दात्मका इति सर्वैः शब्दरूपेण गृह्यन्ते, एवं सुखात्मकोऽयमिति सर्वैस्तद्रूपेण गृह्यते । दृष्टा तु विप्रतिपत्तिः । तस्मादात्मगुणा इति । उच्यते—न, संस्कारविशेषनिमित्तत्वात् । तद्यथा पित्तादिसामर्थ्यान्माधुर्यादिषु विप्रतिपत्तिः । न चैषामशब्दादिगुणत्वसंस्कारविशेषयोगात्सुखादिषु विप्रतिपत्तिः । न चैषामशब्दादिगुणत्वमिति । किञ्चान्यत् । निमित्तत्वेऽपि तत्प्रसंगात् । निमित्तवादिनोऽप्येतत्समानम् । न हि निमित्तनैमित्तिकयोर्विप्रतिपत्तिरस्ति । तद्यथा प्रदीपप्रकाशयोः । ततश्च विप्रतिपत्तेर्निमित्तत्वमपि शब्दादीनामकल्पनीयं स्यात् । यश्च द्वयोर्दोषो न तमेकश्चोद्यत इति । आत्मगुणाकांक्षित्वाददोषः इति चेत् स्यान्मतम्, निमित्तमप्रधानत्वादन्यपरिपाकवशेन सुखदुःखेनोत्पादयत्यात्मनः । तन्मयत्वे तु निराकांक्षत्वात्प्रधानस्य व्यवस्थाभेदो न युक्त इति । तच्च नैवम् । कस्मात् ? उक्तत्वात् । तन्मयत्वेऽपि गुणभावान्माधुर्यादिषु विप्रतिपत्तिरित्यादावेवोक्तमेतत् । तस्मात्तन्मयत्वे प्राधान्यमिति चानिश्चिताभिधानमेतत् । आह, एवमप्ययुक्तमेतत् । कस्मात् ? अतीतानागतेष्वपि तु दृष्टेः । तस्मात्सुखादीनां शब्दाद्यात्मभावो न युक्त इति । उच्यते - न, स्मृतिनिमित्तत्वाद् बुद्धेः । अयमतीतानागतेष्वपि शब्दादिषु स्मार्तसुखदुःखयोगो भवति । तत्संपर्कात्तु पुरुषेण तथाऽनुभूयते । पुरुषगुणत्वे तु पाकजवन्निमित्तादुत्पन्नानां सुखादीनां विशेषभावात्तीव्रमन्दताऽनुपपत्तिः स्यात् । तस्मात्सुखदुःखयो शब्दाद्यात्मभावो न युक्तः । किञ्चान्यत् । अनिर्मोक्षप्रसंगात् । द्रव्यस्य गुणैरविप्रयोगात्सुखदुःखयोरात्मगुणत्वे सत्यात्मनस्ताभ्यामनिर्मोक्षप्रसंगः । तस्मात्तयोरात्मगुणत्वमयुक्तमिति । श्यामादिवत्तद्विनिवृत्तिरिति चेत् स्यान्मतम्, यथा श्यामगुणत्वे सत्यणोरग्निसम्बन्धात्तद्विनिवृत्तिः, शब्दादिगुणत्वे चाकाशस्याशब्दकस्यावस्थानमेवमात्मनोऽपीति । एतदयुक्तम् । कस्मात् ? विशेषोपादानप्रसंगात् । साध्यत्वाच्च यथा ह्यणुः श्यामतां परित्यज्य रूपविशेषमेव रक्तलक्षणमुपादत्ते, न रूपवत्तां त्यजति, एवमात्मापि बाह्यनिमित्तसामर्थ्यात्सुखात्सुखान्तरं दुःखाद् दुःखा-

न्तरमुपाददीत न ते अत्यन्तं जह्यात्। तथा आकाशं शब्दलक्षणं कस्याञ्चिदवस्थायामशब्दकं भवतीत्यस्मान्प्रति साध्योऽयमर्थः। भेर्यादिशब्दास्तु तद्गुण एवेति प्रतिपादयिष्यामः। तस्मात्सुखदुःखयोः शब्दाद्यात्मभावोऽयुक्तः। एवमनामिश्ररूप आत्मा। ततश्चेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मज्ञानसंस्काराणामनेकस्वभावानां परस्परविरोधिनाञ्च तद्गुणत्वमनुपपन्नम्। तस्माद्युक्तमेतन्निर्गुण आत्मा, नैर्गुण्याच्च साक्षिमात्र इति केवलो विविक्तत्वात्। तस्मादयं गुणेभ्यः पृथग्भूतः तस्मात्केवलः न तैः सह संसर्गेण वर्तते। आह, कः पुनरस्यात्मनो गुणेभ्यः पृथग्भावोऽभिप्रेत इति? उच्यते—तदुपकारनिरपेक्षाणां सत्त्वादीनां स्वकार्यसामर्थ्यपृथग्भावः। न हि सत्त्वादयः प्रकाशादिभिर्धर्मैरितरेतरोपकारेण वर्तमानाः पुरुषकृतमुपकारमपेक्षन्ते। प्रकाशादिधर्मसन्निधानमात्रादेव तु प्रवर्तन्ते। तथा च वार्षगणाः पठन्ति "प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्तन्ते" (ते?) इति। यस्माद् गुणास्तदुपकारनिरपेक्षाः प्रवर्तन्ते तस्मादसावपि तत्संसर्गं नाऽनुभवति। दृष्टा तु लोकेऽप्येककार्यत्वात्पृथक्पृथग्भावपरिकल्पना। तद्यथा इतरे भ्रातरः पृथक्, एषां नैकं कार्यम्। न पृथगिमे येषामेकमिति। मध्यस्थो विषयित्वात्। यस्मादयं पुरुषो विषयी तस्मान्मध्यस्थः। किं कारणम्? विषयाणां ह्यतुल्यबलत्वात्, न्यूनातिशयोपपत्तेश्च परस्परेण बाधानुग्रहावुपपन्नौ। विषयी चायम्। तस्मान्नास्ति न्यूनताद्युपपत्तिः। ततश्चेतनाभावः। न चाऽमिश्ररूपत्वात्सङ्गद्वेषौ गुणविषयौ, अतो मध्यस्थ। द्रष्टृत्वं चैतन्यात्। प्रकृतिविकारभूतत्वात् सत्त्वादिभ्यश्चैतन्यमपोद्धृत्य पुरुषे व्यवस्थापनीयम्। न चाचेतनानां द्रष्टृत्वमुपपद्यते इत्यतः पुरुष एव चैतन्याद् द्रष्टा नान्यत्तत्त्वान्तरम्। अकर्तृभावः, अप्रसवधर्मित्वात्। प्रसवार्थो धर्मः प्रसवधर्मः, सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मी। कः पुनरसौ प्रसवार्थो धर्म इति? उच्यते—प्रस्पन्दनपरिणामौ। निष्क्रियत्वादकर्तेति यावत्। तदिदमप्रसवधर्मित्वादकर्तेति। कथमस्य निष्क्रियत्वमिति चेत्? चैतन्यात्। अचेतनानां हि क्षीरादीनां क्रियावत्त्वमुपलब्धं, चेतनस्य न कस्यचिदित्यतो निष्क्रियः पुरुषः। किञ्च अनामिश्ररूपत्वात्। आमिश्ररूपं हि क्रियादिमत्क्षीरादि। अनामिश्ररूपश्चायम्। तस्मान्निष्क्रियः। विभुत्वादिति चेत् स्यादेतत्, यथा विभुत्वे सति प्रधानस्य सक्रियत्वमेवं पुरुषस्य इति विभुत्वे सक्रियत्वेन भवितव्यमिति। तच्च नैवम्। कस्मात्? धर्मद्वयसहितस्य साहचर्योपलब्धेः। तद्विभुत्वमाचेतन्यानेकरूपत्वसहितं क्रियावति दृष्टं, न केवलम्। न तु तथा पुरुषे। तस्माद्विषममेतत्। एवं निष्क्रियः पुरुषः निष्क्रियत्वाच्च प्रधानात्कार्यकरणं न कुरुते। कस्मात्? क्रियावतः कुम्भकारस्य मृत्पिण्डात्कार्यनिष्पत्तिसामर्थ्यदर्शनात्। स्यादेतत्। उत्पादितस्यान्येन स्थितिं कुरुते, धात्रीकुमारवत्। स्थितस्य वा प्रयोगं रथशकटयन्त्रप्रेरकवदिति। एतदप्यनुपपन्नं, पूर्वस्मादेव हेतोः। अथापि स्यात्स्वतः पुरुषः कार्यकरणं कुरुत इति तदप्ययुक्तम्। चेतनाचेतनयोरत्यन्तभेदात्प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः। अथ मतमुभयत इति, तदपि नैव संभवति, उभयदोषप्रसंगात्।

स्यात्पुनरेतत् अव्यपदिश्य योनिं पुरुषोऽभिध्यानमात्रेण कार्यकरणं कुरुते इत्यसदेतत्। कस्मात्? अनुत्पत्तावभिध्यानानुपपत्तेः। ईश्वरकारणप्रतिषेधेऽभिहितं प्राक् प्रधानविपरिणामाद् बुद्धिमतो बुद्धिर्नास्ति। न च बुद्धिमन्तरेणाभिध्यानमुपपद्यते, तद्वृत्तिभूतत्वात्। तथा बुद्धिमत्पूर्वकसृष्टिप्रतिषेधः कृतः। स इहापि योज्यः, अध्यवसायकर्तृत्वं च प्राक्प्रतिषिद्धम्। एवं सप्तविधेनाऽकर्तृत्वेनाऽकर्ता पुरुषः। उक्तं च

नाऽध्वसायं कुरुते पुरुषो नैव स्थितिं प्रयोगं वा।
न स्वात्मनो न परतो न व्यपदेशान्न चोभयत॥

तद्युक्तमेतत्—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥ इति॥ १६॥

त० प्र०—स्यादेतत्—चेतनोऽहं करोमीत्यनुभवात् कर्त्तृत्वचैतन्योः एकाधिकरण्यन्तु अनुभवसिद्धम्; तदेतत्पूर्वार्यासु निगदितात् चेतनपुरुषस्य अकर्त्तृत्वात् कार्यप्रवणायाः प्रकृतेश्चाचेतनत्वात् विरुद्धमेव, इत्यत आह—तस्मादिति।

अर्थः—'चेतन मैं कार्य कर रहा हूँ' इस अनुभव से कर्त्तृत्व तथा चैतन्य दोनों का एक ही में होना अनुभव सिद्ध है। परन्तु यह बात पीछे की कारिकाओं में चेतन पुरुष को अकर्त्ता तथा कर्त्री प्रकृति को अचेतन मानने के कारण इस मत से विरुद्ध है। इसके उत्तर में 'तस्मात्तत्संयोगात्' इत्यादि अगली कारिका कह रहे हैं—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्त्तृत्वे च[1] तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥ २०॥

अन्वयः—तस्मात्, तत्संयोगात्, अचेतनम्, लिङ्गम्, चेतनावत्, इव, तथा च, गुणकर्त्तृत्वे, उदासीनः, (पुरुषः), कर्त्ता, इव, भवति॥ २०॥

शब्दार्थः—तस्मात्=अतः (अर्थात् चेतन पुरुष के अकर्त्ता तथा कर्त्री प्रकृति के अचेतन होने के कारण), तत्संयोगात्-दोनों—पुरुष और प्रकृति के संयोग से, अचेतनम्=अचेतन, लिङ्गम्-बुद्धि आदि, चेतनावत्=चेतनायुक्त, इव-सा, तथा=और, गुणकर्त्तृत्वे=प्रकृति के गुणों के वस्तुतः कर्त्ता होने पर, उदासीनः-उदासीन पुरुष, कर्त्ता=कर्त्ता, इव=सा, भवति=होता है॥ २०॥

अर्थः—अतः (अर्थात् चेतन पुरुष के अकर्त्ता तथा कर्त्री प्रकृति के अचेतन होने के कारण) दोनों—पुरुष और प्रकृति के संयोग से (बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से) अचेतन

१—गुणकर्त्तृत्वेऽपि–माठर, जय०।

बुद्धि आदि चेतनायुक्त-सा तथा (प्रकृति के) गुणों के वस्तुतः कर्त्ता होने पर उदासीन पुरुष कर्त्ता-सा प्रतीत होता है ॥ २० ॥

त० प्र०—यस्माच्चेतनः पुरुषः अकर्त्ता अचेतना प्रकृतिश्च कर्त्री तस्मात्; तत्संयोगात्—तयोः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगात्=सन्निधानात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभावादित्यर्थः; लिङ्गं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तं चेतनावदिव चैतन्ययुक्तमिव भवति, यथा लोके रक्तपुष्पान्तर्गर्भितं स्फटिकपात्रं काचपात्रं वा रक्तमिव भवति तथा अचेतनमपि लिङ्गं तत्कारणभूतया प्रकृत्या सह पुरुषस्य सान्निध्यात् चैतन्ययुक्तमिव जायते । इतः अकर्त्ता उदासीनः चेतनः पुरुषः अपि प्रकृतिगुणानां साहचर्येण तेषां कर्त्तृत्वेनैव कर्त्ता इव भवति, न तु वस्तुतः कर्त्ता । पुरुषस्येदं कर्त्तृत्वमयथार्थम्, यथा चौरैः सह गृहीतः अचौरोऽपि चौर इत्यवगम्यते । एवमेव त्रयो गुणाः कर्त्तारः, तैः संयुक्तः पुरुषोऽपि कर्त्तेव प्रतीयते । इत्थं व्यक्ताव्यक्तज्ञानां विभागो व्याख्यात, एतद्विज्ञानान्मोक्षप्राप्तिरिति ॥ २० ॥

टिप्पणी—त्रिगुणरूप प्रकृति और बुद्धि आदि उसके परिणाम जड है। पुरुष के संसर्ग में आने पर प्रकृति परिणामों को उत्पन्न करती है। यही उसका कर्त्तृत्व है। चेतन पुरुष के सम्पर्क में बुद्धि आदि अचेतन भी चेतन जैसे लगते हैं, जैसे लाल पुष्प के संसर्ग से काँच का बर्तन लाल-सा मालूम पड़ता है। यद्यपि पुरुष अकर्त्ता है। किन्तु कर्त्ता गुणों या प्रकृति के सम्पर्क से वह भी कर्त्ता-सा मालूम पड़ता है, जैसे चोरों के साथ पकड़ा गया निरपराध व्यक्ति भी चोर ही माना जाता है। सारांश यह है कि न तो चेतन पुरुष कर्त्ता है और न बुद्धि आदि ही चेतन। किन्तु आपस के संसर्ग के कारण पुरुष में कर्त्तृत्व तथा लिङ्ग में चैतन्य का भ्रम होता है ॥ २० ॥

युक्ति—यतश्चेतनाशक्तिसम्बन्धात्पुरुष एव द्रष्टा नान्यत्तत्त्वान्तरं, गुणाश्च कर्तारो, न पुरुषः

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

पुरुषसम्पर्काद् हि ग्रहणधारणविज्ञानवचनोहापोहक्रिया यथान्यायाभिनिवेशानां करणधर्माणां प्रत्ययरूपाणामिवोपलब्धेश्चेतनाशक्तेश्चाऽध्यवसायवृत्तिमनुरुध्यमानायास्तद्भावसन्निवेशिनां सत्त्वादीनां व्यापारवतामभिसम्बन्धाद् व्यापाराविष्टाया इवोपलब्धिः । यतस्तत्राऽयमनेककालप्रवृत्तमिथ्याप्रत्ययाभ्यासवासनापेक्षो भवबीजहेतुर्ज्ञानविशेषः प्राणभृतामवभासते । श्रोत्रमुपलभ्यते त्वक्चक्षुर्जिह्वा घ्राणमित्यादि । तथा पुरुषः कर्मणां कर्ता, पुरुषः सुखदुःखयोरिति । तस्मात्करणस्य ग्रहणरूपता पुरुषस्य च कर्तृरूपता, सम्बन्ध्यन्तरसम्पर्कादन्यगताऽन्यत्रोपलभ्यमाना भक्त्याऽध्यवसातव्या, न परमार्थतः । उक्तञ्च

चेतनाऽधिष्ठिता बुद्धिश्चेतनेव विभाव्यते ।
कर्तृष्ववस्थितश्चात्मा भोक्ता कर्तेव लक्ष्यते ॥

आह, संयोगात्पररूपतापत्तावतिप्रसंगः, अविशेषात् । यदि चेतनसंयोगाद् बुद्धयादीनां प्रत्ययवदुपचारः, व्यापित्वादस्य घटादिभिरपि संयोगो न प्रतिषिध्यत इत्यतः प्राप्तस्तेषामपि प्रत्ययवदुपचारः । अथ संयोगाऽविशेषात्करणानामेव प्रत्ययवदुपचारो न घटादीनां, विशेषस्तर्हि वक्तव्य इति । उच्यते—तदप्रसंगः । शक्त्यपेक्षत्वात् स्फटिकादिवत् । यथोपधानसंयोगविशेषे सत्याकाशस्फटिकयोः स्फटिकमेवोपधानसरूपं प्रत्यवभासते शक्तितो नाकाशम्, एवं पुरुषसंयोगाविशेषे बुद्धिघटयोः शक्तितो बुद्धिरेव चेतनारूपापन्नेवोपलभ्यते, न घटः । आह, पुरुषस्य विकार्यत्वप्रसंगः, रूपान्तरोपादनात् । यदि तर्हि करणसम्बन्धात्पुरुषः कर्तृत्वोपचारं विषयसरूपतां च प्रतिपद्यते, प्राप्तमस्यापि स्फटिकवद्रूपान्तरोपादानाद्विकार्यत्वम् । अथ नाऽस्य विषयरूपापत्तिः, न तर्हि करणस्वरूपः पुरुष इति । उच्यते—न, भक्तितोऽभ्युपगमात् । बुद्धिरुपात्तविषयेन्द्रियवृत्त्युपनिपातात्ताद्रूप्यं प्रतिपद्यते । बुद्धिरूतं तु सन्निधानमात्राच्छक्तिविशेषयोगात्फलभोक्तृत्वाच्च राजनि भृत्यजयपराजयोपचारवत्पुरुष उपचर्यते । न त्वसौ बुद्धिसंपर्कात्तद्रूपो भवति । अत एवास्य सत्यां चेतनाशक्तौ व्यवसायकर्तृत्वं प्रतिषिध्यते, मा भूत् विषयरूपापत्तौ सत्यामनेकस्वभावत्वादिकार्यत्वप्रसंगः । तस्माद्विषयसम्पर्कादप्यविकार्यः पुरुषः, न ह्यस्य नित्यत्वात्किञ्चिदनुग्रहाय नाऽपघाताय । आह च—

मुष्टिर्यथा विकीर्णः सूच्यग्रे सर्षपादीनाम् ।
तिष्ठति न सूक्ष्मभावात्तद्वद् द्वन्द्वानि सर्वज्ञे ॥

इति । चेतनाशक्तियोगात्तु द्रष्टृत्वमस्य स्वाभाविकम् । एवञ्चेद्यदुक्तं

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्समः ॥

इति तदयुक्तम् । किं कारणम् ? यस्मादविकार्यरूपस्याकाशस्य सन्निधानमात्रान्मेघपयोरजोधूमप्रभृतिभिरभिन्नदेशत्वादत्यन्तशुद्धस्यापि मलिनमिव रूपमुपलक्ष्यते, न च विकार्यत्वम्, एवमात्मनोऽपि स्यात् । तद्युक्तमेतत्पुरुषसंयोगात्करणस्य प्रत्ययोपचारः पुरुषस्य च गुणसंयोगात्कर्तृत्वोपचार इति । आह, अयुक्तमेतत् । कस्मात् ? संयोगानुपपत्तेः । पुरुषस्य हि गुणानाञ्च संयोगः परिकल्प्यमानोऽन्यतरकर्मजो वा परिकल्प्यते यथा स्थाणुश्येनयोः, उभयकर्मजो वा यथा मेषयोः, संयोगजो वा द्व्यङ्गुलाकाशयोः, स्वभाविको वा यथाऽग्न्यौष्ण्ययोः, शक्तिनिमित्तो वा यथा चक्षुरूपयोः, योग्यतालक्षणो वा यथाऽङ्गुष्ठोपानद्द्रव्ययोः, यादृच्छिको वा यथा श्वभ्रतत्पातिनोः, विषयविषयिनिमित्तो वा यथा मत्स्योदकयोरिति । तत्र तावदन्यतरकर्मज उभयकर्मजश्च संयोग एषामुपपद्यते । कस्मात् ? विभुत्वात् । परिच्छिन्नदेशानामप्राप्तौ सत्यामदृष्टः, यथोदाहृतम् । न चैतद् गुणानां पुरुषस्य च सम्भवति, विभुत्वात् । न स्वाभाविकः अनिर्मोक्षप्रसंगात् । यथाग्नेः स्वाभाविकादौष्ण्यान्मोक्षो न भवति एवमात्मनः स्वाभाविकत्वाद् गुणसंयोगादनिर्मोक्ष-

प्रसंगः स्यात्। शक्तिनिमित्तश्च। किम् ? अनिर्मोक्षप्रसंगादेव, स न भवतीत्यनुवर्तते। स्वस्वामिशक्तिनिमित्ते हि संयोगे परिकल्प्यमाने शक्त्योः सततावस्थानादनिर्मोक्ष एव प्रसज्येत। योग्यतालक्षणः शक्तिमात्ररूपत्वादसंवेद्योऽतस्तदसिद्धिः। किञ्च प्रयोजनान्तरानुपपत्तेः प्रवृत्त्यनुगुणं हि योग्यमित्युच्यते। तस्या एव तु प्रवृत्तेः पुरुषार्थमपोह्य निमित्तान्तरं शक्यं कल्पयितुम्। आकस्मिकत्वे च नियमद्वैतानुपपत्तिः। तस्मादयुक्तं पुरुषस्य गुणानां च योग्यतालक्षणः सम्बन्धः। न यादृच्छिकः, मोक्षकारणनियमाऽनुपपत्तेः। संयोगकारणप्रतिद्वन्द्वं कैवल्यकारणम्। यदि च यादृच्छिको गुणपुरुषसंयोगः स्यात्तस्याज्ञानान्निवृत्तिर्नास्तीति तदर्थस्याभ्युत्थानस्याऽनर्थक्यं प्राप्तं विशेषानुपपत्तेश्च कारणान्तरं कल्पयितुम्। अत एतदप्ययुक्तमिति। न वैषयिकः, अनिर्मोक्षप्रसंगात्। सततमेव हि पुरुषस्य विषयित्वमव्यावृतं गुणानां च विषयत्वमित्यनिर्मोक्षप्रसंग एव स्यात्। एतावांश्च संयोगः परिकल्प्यमानः परिकल्प्येत। सर्वथा च नोपपद्यते। तस्मात्तत्संयोगादित्ययुक्तमभिधातुमिति।

उच्यते—संयोगानित्यत्वादिह चौपचारिकपरिकल्पनाददोषः। इहाऽनेकविधः संयोगः। तद्यथा प्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः। यथोदाहृतं अन्यतरज उभयकर्मजः संयोग इत्यादि। यत्रासौ न संभवति तत्र सन्निधिमात्रसामान्याद् भक्त्या कल्प्यते। तद्यथाऽऽकाशस्य गवादिभिः। प्रदेशैरिति चेन्न अभावात्। तेऽपि हि निरवयवत्वादाकाशस्य भक्त्या कल्प्यन्ते, मा भूत्कृतकत्वाऽनित्यत्वदोषप्रसंगः। तस्मात्प्रदेशोपचारात्कार्यमभ्युपचरितम्। अन्यस्तु शास्त्रीयः संयोगोऽर्थनिमित्तः। तत्रानेकसंयोगोपपत्तेरिह पुरुषान्तःकरणयोरभिन्नदेशत्वात्सन्निधिमात्रसामान्याद् भाक्तं संयोगं परिकल्प्यैवमुच्यत इत्यदोषः॥ २०॥

त० प्र०—अथैतयोः प्रधानपुरुषयोः संसर्गे को हेतुरित्युच्यते—

अर्थः—अच्छा, प्रकृति और पुरुष के संसर्ग में क्या कारण है ? इसके उत्तर में अगली कारिका कह रहे हैं—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य[1]।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ २१॥

अन्वयः—पुरुषस्य, कैवल्यार्थम्, तथा, प्रधानस्य, दर्शनार्थम्, पङ्ग्वन्धवत्, उभयोः, संयोगः, सर्गः, अपि, तत्कृतः, (भवति)॥ २१॥

शब्दार्थः—पुरुषस्य=पुरुष के, कैवल्यार्थम्=मोक्ष के लिए, तथा=एवं, प्रधानस्य=प्रकृति के, दर्शनार्थम्=भोग के लिए, पङ्ग्वन्धवत्=लँगड़े और अन्धे के समान, उभयोः=

१—पुरुषस्य दर्शनार्थः कैवल्यार्थस्तथा प्रधानस्य—युक्तिदीपिका।

दोनों का–पुरुष और प्रकृति का, संयोगः=संयोग (होता है), सर्गः=सृष्टि, अपि=भी, तत्कृतः=उसी संयोग से ही (भवति=होती है) ॥ २१ ॥

अर्थः—पुरुष के मोक्ष के लिए तथा प्रकृति के भोग के लिए, लँगड़े और अन्धे के समान, दोनों का–प्रकृति और पुरुष का—संयोग होता है। सृष्टि भी उसी संयोग से ही होती है ॥ २१ ॥

त० प्र०—पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगो मोक्षार्थं भवति। तथा हि—प्रधानसंयुक्तः पुरुषः तस्मिन् वर्तमानं दुःखत्रयं स्वात्मनि मन्यमानः कैवल्यमभिवाञ्छति। अथवा मोक्षे साधनभूतं प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानं बुद्धिपरिणामः। बुद्धिस्तु परिणतं प्रधानमेव। इत्थं प्रधानं विना विवेकज्ञानं न सम्भवति। अत एवोक्तं पुरुषस्य कैवल्यार्थमिति। व्याख्यातेयं पुरुषस्य संयोगे अपेक्षा। न हि उभयोः अपेक्षां विना संयोगः सम्भवतीति। संयोगे प्रधानस्यापेक्षां दर्शयति—तथा प्रधानस्य दर्शनार्थमिति। दर्शनार्थं भोगार्थमित्यर्थः। न हि किञ्चित्प्रयोजनं भोग्यस्य भोक्तारमन्तरेण। सारांशस्त्वीदृशः – पुरुषः प्रधानं कैवल्यार्थं—स्वमोक्षार्थम् अपेक्षते तथा प्रधानं पुरुषं दर्शनार्थम् स्वस्य भोग्यार्थम् अपेक्षते। कैवल्यहेतुकः भोगहेतुकश्चाऽयमुभयोः संयोगः पङ्ग्वन्धयोः संयोगः इव भवति; यथा–वनाद्गच्छतः मनुष्यसमूहस्याग्रे सिंह आपतितः भवेत्। मनुष्याः भयवशात्पलायिताः। समूहे वर्तमानः पङ्गुः अन्धश्चापि तस्माद्भ्रष्टः। पुनः संयोगात् परस्परं द्वौ संयुक्तौ। पङ्गुना अन्धो भणितः 'मां स्कन्धे आरोप्य गच्छ, मयि दर्शनशक्तिः त्वयि गमनशक्तिश्च वर्तते।' तथा कृते वनानन्तरं पुनः प्रयोजनाभावाद् द्वावपि वियुक्तौ। एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति पङ्गुवन्न क्रिया, प्रधाने क्रियाशक्तिरस्ति अन्धवन्न दर्शनशक्तिः। यथा कृतार्थयोः पङ्ग्वन्धयोः विभागो भवति, एवं प्रधानं भोगमुपकल्प्य पुरुषः तद्भुक्त्वा कैवल्यं प्राप्य च विनिवर्तते।

ननु भवत्वनयोः संयोगः परञ्च महदादिसर्गस्तु कुतः ? इति जिज्ञासायामुच्यते—सर्गोऽपि तत्कृतः भवतीति। सर्गस्तु संयोगस्य प्रथमपरिणामः। भोगमोक्षौ तु द्वितीय-तृतीयौ। संयोगस्तु महदादिसर्गानन्तरमेव भोगाय कैवल्याय च पर्याप्तः। अतः भोगापवर्गार्थं संयोग एव सर्गं करोति ॥ २१ ॥

टिप्पणी—पुरुषस्य कैवल्यार्थम्—पुरुष प्रकृति के संपर्क में आता है। वह प्रकृति के गुणों के परिणाम सुख-दुःखादि को अपने में मानकर दुःखी होता है और उनसे छूटने के लिये चिन्ता भी करता है। अन्त में उसे अपना रूप प्रकृति से अलग ज्ञात होता है। यही उसका मोक्ष है।

प्रधानस्य दर्शनार्थम्—यदि कोई देखने वाला अर्थात् भोगने वाला न हो तो प्रकृति का कार्य व्यर्थ है। अपने उपयोग के लिये अर्थात् भोग के लिये प्रकृति पुरुष से संयुक्त होती है। यही प्रकृति का अपना स्वार्थ है।

पङ्ग्वन्धवत्—मानिये, यात्रियों का एक दल जंगल से पार हो रहा है। उसमें एक अन्धा तथा एक लंगड़ा भी है। घोर जंगल में एक सिंह दल पर आक्रमण करता है। सभी भाग खड़े होते हैं। अन्धा और लंगड़ा भटक जाता है। भटकते हुए संयोगवश वे पुनः मिल जाते हैं। लंगड़ा अन्धा से कहता है—'तुम देख नहीं सकते हो। मैं चल नहीं सकता किन्तु देख सकता हूँ। अतः तुम मुझे कन्धे पर बैठा कर चलो। मैं मार्ग बतलाऊँगा।' इस प्रकार वे दोनों जंगल पार कर अलग हो जाते हैं। प्रायः यही दशा पुरुष और प्रकृति की है। पुरुष में चैतन्यशक्ति है किन्तु क्रिया शक्ति का अभाव है। प्रकृति में क्रिया-शक्ति है, किन्तु उसमें चैतन्य–ज्ञान–का अभाव है। इस प्रकार मिले हुए प्रकृति और पुरुष अपना मोक्ष तथा भोग रूप प्रयोजन सम्पन्न कर अलग हो जाते हैं ॥ २१ ॥

युक्ति०—आह, विज्ञातं संयोगद्वयम्। अयं त्वन्योऽर्थनिमित्तः शास्त्रीयः संयोगो भवता परिभाष्यते। तत्र वक्तव्यं किमर्थोऽसाविति ? उच्यते—

पुरुषस्य दर्शनार्थः

दृष्टिर्दर्शनम्। अर्थशब्दो निमित्तवचनः। दर्शनमर्थोऽस्यासौ दर्शनार्थः, दर्शननिमित्तो दर्शनहेतुः दर्शनकारण इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—सन्निधानाऽविशेषे सति आत्मन आकाशादेश्च यस्माद् दृच्छक्तियुक्तः पुरुषः तस्मात्कार्यकारणतामापन्नेन प्रधानेन सह भोक्तृत्वेन संबध्यते, नाऽचैतन्यादाकाशादय इति। अथवा अर्थशब्दः फलवचनः। यथा तृप्त्यर्था भुजिक्रिया तृप्तौ सत्यां निवर्तते प्राप्त्यर्था गमिक्रिया प्राप्तौ सत्याम्, एवं पुरुषस्य प्रधानेन दर्शनार्थः संयोगः दर्शने सति निवर्तते। तथा च वक्ष्यति दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरतैका (का० ६६) इति।

आह, एवमपि शब्दाद्युपलब्धिसमकालमेव निवृत्तिप्रसंगः। किं कारणम् ? तस्यामप्यवस्थायां शक्यं वक्तुं दृष्टा प्रकृतिरिति। उच्यते—यद्यप्येतदेवं तथापि यथा पुरुषस्य दर्शनार्थः संयोगः

कैवल्यार्थस्तथा प्रधानस्य।

कैवल्यमिति विवेकपरिछिन्नं सत्त्वादिभिरसंसर्गधर्मित्वमात्मनः, सोऽर्थोऽस्य सोऽयं कैवल्यार्थः। सत्यपि हि दर्शनाविशेषे प्रधानं पुरुषस्य कैवल्यार्थं प्रवर्तते। यदाऽस्य बुद्धिस्तमसोऽङ्गित्वाद्ये गुणाः कार्यरूपापन्नाः शिरःपाण्यादय आध्यात्मिका, बाह्याश्च गवादयः, कारणरूपापन्नाश्चालोचनक्रियासंकल्पाभिमानाध्यवसायलक्षणाः, सोऽहमित्यविशिष्टप्रत्ययोपसंहारं करोति तदा प्रवर्तत एव। यदा त्वन्ये गुणाः प्रकृतिभूता विकारभूताः कार्यभूताः कारणभूता अचेतनाः परार्था अन्योऽहं न प्रकृतिर्न विकृतिर्न कार्यं न कारणं नाचेतनः स्वार्थ इति भिन्नप्रत्ययोपसंहारं करोति तदा निवर्तते। सोऽयं पुरुषस्य दृक्छक्तिनिमित्तः प्रधानस्य च कैवल्यावधिपरिच्छिन्नः पुरुषार्थः।

सत्यपि पारिभाषिकत्वे

षङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगः

एतदुक्तं भवति। प्रागपि कार्यकारणसम्बन्धात्पुरुषे चैतन्यमवस्थितम्। तद्यथा अग्नेर्दहनं परशोच्छेदनमसति दाह्ये छेद्ये च न व्यज्यते। तत्सन्निधानसमकालमेव तु व्यज्यते। इत्यतः प्रधानमपेक्षते। तथा प्रधानमप्यन्तरेण पुरुषोपकारं स्वकार्यादसमर्थमनिष्पन्नकार्यसमं चेतितमनर्थकं स्यादित्यतः पुरुषमपेक्षते। तत्र उभयोरितरेतरापेक्षा तं संयोगमधिकारबन्धमाहुराचार्या। षङ्ग्वन्धदृष्टान्तस्तु नान्तरीयकमात्रप्रदर्शनार्थम्। यथा पङ्गुर्नान्तरेणान्धं दृक्छक्त्या विशिष्टेनार्थेनार्थवान्भवति अन्धश्च नान्तरेण पङ्गुं विशिष्टेनार्थेन, एवं प्रधानं नान्तरेण पुरुषं कृतमपि कार्यं द्रष्टुं शक्तमनवधिकं च प्रवर्तमानं विशेषाभावान्नैव निवर्तते। तथा पुरुषः सत्यपि चेतनत्वे नान्तरेणं प्रधानमुपलभ्याभावादुपलब्धा भवेदिति प्रधानमपेक्षते। तस्मादितरेतरापेक्षया संयोगत्वे कल्प्यमाने यदुक्तं—

विना सर्गेण बन्धो हि पुरुषस्य न युज्यते।
सर्गस्तस्यैव मोक्षार्थमहो सांख्यस्य सूक्तता॥

इति तदयुक्तम्। कस्मात्? न ह्यसौ विना सर्गेण न युज्यत इति। आह च

दृश्यदर्शनभावेन प्रकृतेः पुरुषस्य च।
अपेक्षा शास्त्रतत्त्वज्ञैर्बन्ध इत्यभिधीयते॥
एवं विनापि सर्गेण यस्माद्बद्धः पुमान्गुणैः।
तस्माद्विफलतां यातु मनोरथमनोरथः॥

इति सिद्धः संयोगः।

तत्कृतः सर्गः॥ २१॥

प्रधानपुरुषयोर्हि भोक्तृभोग्यभावापेक्षनिमित्तोऽयं तत्त्वसर्गो महदादिः, भावसर्गश्च धर्मादिः, भूतसर्गश्च ब्रह्मादिः प्रवर्तते। सा चापेक्षा पुरुषानन्त्यान्न निवर्तत इत्यतोऽर्थवतीनां हि प्रकृतीनां तदपरिसमाप्तेर्न निवृत्तिरस्ति॥ २१॥

॥ इति श्रीयुक्तिदीपिकायां सप्ततिपद्धतौ पञ्चममाह्निकं द्वितीयं च प्रकरणम्॥

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ २२॥

अन्वयः—प्रकृतेः, महान्, ततः, अहङ्कारः, तस्मात्, षोडशकः, गणः, तस्मात्; षोडशकात्, अपि, पञ्चभ्यः, पञ्च, भूतानि, (उत्पद्यन्ते)॥ २२॥

शब्दार्थः—प्रकृतितेः=प्रकृति से, महान् महत् या बुद्धि तत्त्व, ततः=उससे (बुद्धि से), अहङ्कारः=अहङ्कार, तस्मात्=उससे (अहङ्कार से), षोडशकः=सोहल तत्त्वों

वाला, (अर्थात् पाँच तन्मात्राएँ तथा ग्यारह इन्द्रियों वाला), गणः=समूह, तस्मात्=उस, षोडशकात् सोलह तत्त्वों वाले समूह से, अपि=भी, पञ्चभ्यः पाँच से (अर्थात् पाँच तन्मात्राओं से), पञ्च=पाँच, भूतानि (आकाश आदि) महाभूत, (उत्पद्यन्ते=उत्पन्न होते हैं) ॥ २२ ॥

अर्थः प्रकृति से महत् या बुद्धि तत्त्व, महत् से अहङ्कार और अहङ्कार से पाँच तन्मात्राएँ तथा ग्यारह इन्द्रियाँ—इन सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है। इन सोलहों के समूह के अन्तर्गत आयी हुई पाँच तन्मात्राओं से पाँच (आकाश आदि) महाभूत उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

त० प्र:—इदानीं सर्गक्रममुच्यते—प्रकृतिः, अव्यक्तं, ब्रह्म, मायेतिपर्यायाः। कुतश्चिदनुत्पद्यमानायाः प्रकृतेः महान् उत्पद्यते, महान्, बुद्धिः, आसुरी, मतिः, ख्यातिः, प्रज्ञा, ज्ञानमिति पर्यायाः। तस्मात् महतः अहङ्कारः उत्पद्यते, अहङ्कारः, भूतादिः, वैकृतः, तैजसः, अभिमानः इति पर्यायाः। तस्मादहङ्कारात्, एकादशेन्द्रियाणि—श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, घ्राणमिति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक्पाणिपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकम् एकादशं मनश्च तथा पञ्चतन्मात्राणि–शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रञ्च, एष षोडशसंख्यापरिमितो गणः षोऽशकः उत्पद्यते। किञ्च 'पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि'—तस्मात् षोडशकात् गणात् पञ्चभ्यः तन्मात्रेभ्यः पञ्च महाभूतानि उत्पद्यन्ते; तत्र क्रमः– शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणकम्, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहितात् रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहितात् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी च जायते। एवं पञ्चभ्यः तन्मात्रेभ्यः परमाणुभ्यः पञ्चमहाभूतानि उत्पद्यन्ते ॥ २२ ॥

टिप्पणी–षोडशकः गणः—सोलह तत्त्वों का समूह। इस समूह में श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा) एवं उपस्थ (लिङ्ग) ये पाँच कर्मेन्द्रियां हैं। इनके अतिरिक्त ग्यारहवाँ मन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ हैं।

पञ्चभ्यः—पाँच तन्मात्राओं से। विशेष के लिये देखिये टीका ॥ २२ ॥

युक्ति०—एवं कारणान्तरप्रतिषेधात्प्रकृतेः पुरुषार्थोऽयं व्यक्तभावेन विपरिणाम इति स्थितम्। तत्रेदानीं विप्रतिपत्तिराचार्याणाम्। केचिदाहुः–प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्वान्तरमुत्पद्यते। ततो महानिति। पतञ्जलिपञ्चाधिकरणवार्षगणानां तु प्रधानान्महानुत्पद्यत इति। तदन्येषां पुराणेतिहासप्रणेतॄणां महतोऽहङ्कारो विद्यत इति पक्षः—महतोऽस्मिप्रत्ययकर्तृत्वाऽभ्युपगमात्। अहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राणीति सर्वे। महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पञ्च

तन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमतम् । तथा अहंकारादिन्द्रियाणीति सर्वे, भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणमतम् । एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये । एकोत्तराणीति वार्षगण्यः । इन्द्रियाणि संस्कारविशेषयोगात्परिगृहीतरूपाणीति केचित् । परिच्छिन्नपरिमाणानीत्यपरे । विभूनीति विन्ध्यवासिमतम् । अधिकरणमपि केचित्त्रयोदशविधमाहुः । एकादशकमिति विन्ध्यवासी । तथाऽन्येषां महति सर्वार्थोपलब्धिः, मनसि विन्ध्यवासिनः । संकल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषाम्, एकत्वं विन्ध्यवासिनः । तथा करणं निर्लिखितस्वरूपं शून्यग्रामनदीकल्पम्, प्राकृतवैकृतिकानि तु ज्ञानानि प्रेरकाङ्गसंगृहीतानि प्रधानादागच्छन्ति चेति पञ्चाधिकरणः, न तु तथेत्यन्ये । कारणानां महती स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात्, स्वल्पा च स्वत इति वार्षगण्यः । सर्वा स्वत इति पतञ्जलिः । सर्वा परत इति पञ्चाधिकरणः । बुद्धिः क्षणिकेति च कालान्तरावस्थायिनीत्यपरे । एवमनेकनिश्चयेष्वाचार्येषु ये तावत्प्रधानमहतोरन्तराले तत्वान्तरमिच्छन्ति तत्प्रतिक्षेपायाचार्यः स्वमतमुपन्यस्यति ।

प्रकृतेर्महान्

प्रकृतेर्महानुत्पद्यते । महान्बुद्धिर्मतिर्ब्रह्मापूर्तिः ख्यातिरीश्वरो विखर इति पर्यायाः । स तु देशमहत्त्वात्कालमहत्त्वाच्च महान् । सर्वोत्पाद्येभ्यो महापरिमाणयुक्तत्वान्महान् ।

अन्यस्य तु पक्षे नैवाहंकारो विद्यत इति प्रतिषेधविवक्षयेदमाह—

ततोऽहङ्कारः

तस्मान्महतोऽहंकार उत्पद्यते ।

यः पुनराह, महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पञ्च तन्मात्राण्यहंकारश्चेति तन्निरासार्थमाह—

तस्माद् गणश्च षोडशकः ।

तस्मादहंकारात्षोडशको गण उत्पद्यते, पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च । अनेनैव च भौतिकेन्द्रियवादी प्रतिक्षिप्तो बोद्धव्यः ।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥२२॥

तस्मादपि षोडशकाद् गणाद्यः पञ्चको गणस्ततः पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते । पूर्वपदलोपेनात्र महाभूतानीति वक्तव्ये भूतानीत्युच्यते । भूतसंज्ञा हि तन्मात्राणां न पृथिव्यादीनामत्र तु सांख्याचार्याणामविप्रतिपत्तिः भूतकौटस्थ्यवादिनस्तु मीमांसका आर्हताश्च । तत्प्रतिक्षेपेणेदमुच्यत इति ॥२२॥

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—अध्यवसायः, बुद्धिः; धर्मः, ज्ञानम्, विरागः, ऐश्वर्यम्, एतत्, (अस्याः), सात्त्विकम्, रूपम्, (अस्ति, तथा), तामसम्, (रूपम्), अस्मात्, विपर्यस्तम्, (अस्ति) ॥२३॥

शब्दार्थः—अध्यवसायः=निश्चय (अर्थात् निश्चयकरने वाला तत्त्व) बुद्धिः=बुद्धि है। धर्म=धर्म, ज्ञानम्=ज्ञान, विरागः=वैराग्य, ऐश्वर्यम्=(अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व तथा यत्रकामावसायित्व ये आठ) ऐश्वर्य, एतत्=यह; (अस्याः=इस बुद्धि का), सात्त्विकम् सात्त्विक, रूपम्=रूप, (अस्ति=है, तथा=और), तामसम्=(इसका) तामस, (रूपम्=रूप), अस्मात् इससे, विपर्यस्तम् विपरीत (अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य रूप), अस्ति है ॥ २३ ॥

अर्थः—निश्चय अर्थात् निश्चय करने वाला तत्त्व बुद्धि है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य इसके सात्त्विक रूप हैं। इनके विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य (राग) तथा अनैश्वर्य इसके तामसरूप हैं ॥ २३ ॥

त० प्र०—प्रकृतेः महतः उत्पत्तिर्निगदिता। सम्प्रति तस्य लक्षणमुच्यते - 'अध्यवसायो बुद्धिः' यथा दधिविक्रेता लोके दधिशब्देनापि आहूयते, एवमेवात्रापि क्रिया—क्रियावतोरभेदविवक्षया अध्यवसायकर्त्र्याः बुद्ध्याः अध्यवसायः लक्षणमुक्तम्। इन्द्रियैः गृहीतं विषयं मनसा संकल्प्य विकल्प्य, अहमत्राधिकृतः इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेति अध्यवस्यति, ततश्च कार्ये प्रवर्तते लोकः इति पद्धतिः। अध्यवसायानन्तरमेव जनः कार्ये प्रवृत्तो भवति, अतः बुद्धिः कर्त्री उच्यते। इयं बुद्धिः सात्त्विकतामसभेदात् अष्टाङ्गिका। तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति, 'धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यञ्चेति। अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः धर्मः दयादानयमनियमलक्षणः, तत्र 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहाः, यमाः, 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'। ज्ञानं तु द्विविधं—बाह्यमाभ्यन्तरञ्चेति विविधशास्त्रपरिशीलनेन यज्ज्ञानं प्राप्यते तत्तु बाह्यम्। बाह्यमपि द्विविधं - लोकव्यवहारनैपुण्यकारकं मोक्षे मार्गभूतञ्च। प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरूपमाभ्यन्तरं ज्ञानम्। अन्यताख्यातिर्भेदज्ञानमिति। अनेनैव मोक्षसिद्धिः। वैराग्यं रागाभावः। ऐश्वर्यमपि बुद्धिधर्मः, यतोऽणिमादिप्रादुर्भावः। अणिमादयः अष्टौ–अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वं, वशित्वं, यत्रकामावसायित्वञ्चेति। तत्राणिमा अणुभावः सूक्ष्मो भूत्वा जगति विचरति। महतो भावः महिमा, महान् भवति। लघिमा लघुभावः, सूर्यकिरणानपि अवलम्ब्य सूर्यलोकं याति। प्राप्तिः, अभीप्सितं वस्तु यत्रतत्रावस्थितः प्राप्नोति। प्राकाम्यं, यदेवेच्छति तदेव करोति। ईशित्वं, प्रभुतया सकलञ्च चराचरमीष्टे। वशित्वं, भूतभौतिकं सर्वं वशीभवति। यत्रकामावसायित्वं, कामावसायित्वं स्वेच्छाचारः, यत्र कामः तत्रैव स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति। साधनामार्गप्रवृत्तस्य सत्त्वोद्रेकबुद्धिविशिष्टस्य योगिनः एवैश्वर्यसिद्धिर्नान्यस्येति। एतानि चत्वारि बुद्धेः सात्त्विकानि रूपाणि सत्त्वोद्रेकबुद्धियुक्तस्यैव पुंसः धर्मादीनां प्राप्तिरिति।

किञ्चान्यत् 'तामसमस्माद्विपर्यस्तम्'—बुद्धेस्तामसं रूपमस्माद्धर्मादेर्विपरीतम्। अधर्मा-

ज्ञानावैराग्यानैश्वर्याभिधानानि चत्वारि बुद्धेस्तामसरूपाणि। एवं सात्त्विकैस्तामसैः रूपै रष्टाङ्गिका बुद्धिस्त्रिगुणादव्यक्तात्प्रादुर्भवतीति ॥ २३ ॥

टिप्पणी—व्यक्ति की बुद्धि में सत्त्वगुण की प्रबलता होने पर उसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य का प्रादुर्भाव होता है और तमोगुण की प्रधानता होने पर अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य या राग तथा अनैश्वर्य की उत्पत्ति होती है। ये आठ बुद्धि के ही धर्म हैं। विशेष के लिये देखिये—टीका ॥ २३ ॥

युक्ति० आह, उक्तं प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यत इति। तत्र वक्तव्यं किं लक्षणा पुनर्बुद्धिरित्युच्यते—

अध्यवसायो बुद्धिः

कोऽयमध्यवसायः? गौरेवायं, पुरुष एवायमिति यः प्रत्ययो निश्चयोऽर्थग्रहणं सोऽध्यवसायः। अत्र क्षणिकवाद्याह यद्यर्थग्रहणं बुद्धिः अनित्या। कस्मात्? हेत्वपेक्षणात्। अर्थग्रहणं हीन्द्रियादिविषयसन्निधानमावरणाद्यभावं चापेक्षते। न च नित्यस्य कारणापेक्षोपपद्यते। तस्मादनित्या बुद्धिः। अभिव्यक्तेरदोष इति चेत्स्यादेतत् नेन्द्रियसन्निधानादिभिरर्थग्रहणं जन्यते किं तर्ह्यभिव्यज्यत इति। तच्च नैवम्। द्विधा दोषात्। सा ह्यभिव्यक्तिः स्वरूपलाभो वा स्यात् ग्रहणप्रतिबन्धव्युदासो वा। किञ्चात? तद्यदि तावत्स्वरूपलाभः क्रियतेऽर्थग्रहणमिति प्राप्तम्। अर्थग्रहणप्रतिबन्धस्यान्धकारस्य व्युदासस्तदप्ययुक्तम्। विप्रतिषेधात्। ग्रहणं च स्यात्तत्प्रतिबन्धश्चेति विप्रतिषिद्धम्। किञ्च भेदात्। व्यङ्ग्यं हि घटादि चन्द्रार्कौषधिमणिरत्नप्रदीपभेदान्न भिद्यते। अस्ति बुद्धीनामर्थभेदात् भेदः। वृत्तिभेदाददोषो मृद्वदिति चेत् स्यान्मतम्, यथा मृद्द्रव्यस्य घटादिसंस्थानवृत्तिभेदेऽप्यभेद एवं बुद्धेरिति। तदप्ययुक्तम्। अनन्यत्वात्। यदा बुद्धिरनन्या वृत्तिभ्यः, प्राप्तस्तद्भेदे बुद्धिभेदः। किञ्च दृष्टान्तासिद्धेः। साध्यं चैतत् किं तदेव मृद्द्रव्यं घटादिवृत्तिभेदमनुभवति आहोस्वित्प्रत्ययान्तरवशादन्यच्चान्यच्चोत्पद्यते इति? अवयवभेदाच्च। उपेत्य वाऽनुवृत्तिं ब्रूमः—न हि तदेकं मृद्द्रव्यम्, किं तर्हि बहवो मृत्परमाणवोऽनेकदेशावच्छिन्नवृत्तय इति। किञ्चान्यत्। निवृत्तिविभक्तिग्रहणात्। तद्धि मृद्द्रव्यं संस्थानमपेक्ष्यापि गृह्यते, न त्वर्थग्रहणमनपेक्ष्य बुद्धेर्ग्रहणमस्ति। तस्माद्विषमो दृष्टान्तः। परिणामाददोष इति चेत् स्यान्मतम्, सत्त्वादीनामङ्गाङ्गिभावनियमात्तेन तेनार्थग्रहणात्मना विपरिणामो वृत्तिरिति। एतच्चायुक्तम्। उभयकल्पने दोषप्रसंगात्। यदि धर्मान्तरोपादानपरित्यागौ व्यक्त्यव्यक्ती, दत्तोत्तर एष पक्षः। अथ नाशोत्पादौ तेन धर्मधर्मिणोरनन्यत्वाद्धर्माणां नाशोत्पादाद् बुद्धेरपि नाशोत्पादप्रसंगः। तदनभ्युपगमे वाऽन्यत्वमिति दोषः। आह च—

नष्टोत्पन्नमनन्यत्वादनित्यं नित्यमेव वा।
नष्टोत्पन्नाऽविनष्टानां नित्यं नो नास्ति चैकदा ॥

यदप्युक्तम्—सत्त्वादीनामङ्गाङ्गिभावनियमादिति, तदयुक्तम् । अतएवानित्यत्वसिद्धेः तुल्यानां गुणप्रधानभावाऽनुपपत्तेः । सत्त्वादीनामङ्गाङ्गिभावाऽभ्युपगमात् वृद्धिक्षयावभ्युपगन्तव्यौ । ततश्च बुद्धिरनित्येति प्राप्तम् । तेभ्योऽनन्यत्वात् । अथ मतं तदवस्थाप्यसौ नित्येति, न तर्हि सत्त्वाद्यात्मभूता बुद्धिरिति प्राप्तम् । ततश्च कार्यकारणयोरविवेक इत्यस्य विरोधः । तस्मादनित्या बुद्धिरिति । उच्यते—यत्तावदुक्तं हेत्वपेक्षणादनित्या बुद्धिरिति तदयुक्तम् । कस्मात् ? सिद्धसाधनात् । कस्याऽत्रविप्रतिपत्तिरनित्या वा बुद्धिः स्यान्नित्या वेति ? किं तर्हि हेतुमदनित्यं व्यक्तमिति वचनादनित्यैव । तस्मादिष्टमेवैतत्सङ्गृहीतम् । अतएव क्षणिकत्वमिति चेत्, अथापि स्याद्धेत्वपेक्षा हि संस्कृतत्वम् । संस्कृतं च क्षणिकम् । तद्यथा प्रदीप इति । तस्मादनित्ये सत्यपि विशेषाऽनभिधाने क्षणिकत्वमेवानेन हेतुना बुद्धेः प्रतिपाद्यत इति । कस्मात् ? उत्तरवचनविरोधप्रसंगात् । एवमपि यदुत्तरं क्षणिकत्वप्रसिद्ध्यर्थमुच्यते प्रत्यर्थग्रहणाऽन्यत्वादनित्येत्यादि तस्यानर्थक्यम् । तस्मात् पूर्वोत्तरविरुद्धत्वात्सकलमेवेदं प्रकरणं नाध्ययनं, न प्रत्याख्यानमर्हति । परेषां त्वभिनिविष्टा बुद्धिरत्रेत्यसंगतार्थोत्तरापवाददोषमनपेक्ष्यापि प्रत्येकमप्येतदसाधनम्, वृत्तिविषयत्वात् । स्वकारणपरिनिष्पन्नाया हि बुद्धेर्व्यापारोऽर्थग्रहणसंज्ञक इन्द्रियादिसन्निधानापेक्षो न बुद्धिः । तदनन्यत्वात्प्रसंगनिवृत्तिरिति चेदथमतम्, वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वादित्थमपि कल्पयित्वाऽयं प्रसंगो न निवर्तते । तथा चोक्तम्—स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य (का० २९) इति । तदप्यबाधकम् । कस्मात् ? उपचारात् । सत्यमनन्या, वृत्तिवृत्तिमतोर्भेदनाऽग्रहणात्, तथाप्युपरतव्यापारस्यापि परश्वादेर्वृत्तिमतः स्वरूपं नोपरमतीति भेदमुपचर्य व्यवहारो नानाकार्यविषयः प्रवर्तते । अतएवाऽन्यत्वप्रसंग इति चेत् स्यादेतत्; यतो वृत्त्युपरमे वृत्तिमतोऽनुपरमः कार्यनानात्वं च अत एवाऽन्यत्वमपि स्यादिति । तदयुक्तम्, एकान्तात् । तद्यथा सेनापङ्क्तिसेनाकुण्डलाद्युपरमे न तत्सन्निवेशिनामुपरमः कार्यभेदश्च, न चाऽन्यत्वम् । एवं वृत्तितद्वतोरपि च स्यात् । तस्माद्युक्तमेतद्धेत्वपेक्षणस्य वृत्तिविषयत्वान्न बुद्धेरनित्यत्वमिति । एतेन व्यक्तिविकल्पः प्रत्युक्तः, सोऽपि वृत्तिविषय इति कृत्वा तदप्युक्तमिन्द्रियादिभेदे भेदादिति । तदप्यनेनैवोक्तम् । वृत्तिभेदोऽत्र न भेद इति । किञ्चानेकान्तात् । यथोदकादिभेदात्प्रतिबिम्बभेदो न चाऽव्यङ्ग्यत्वमेवमन्यत्रापि स्यात् । द्रव्यान्तरोत्पत्तेरदोष इति चेत्स्यान्मतम्, उदकस्याननसंयोगाद् द्रव्यान्तरमेव प्रतिबिम्बलक्षणमुत्पद्यते न तु मुखं भिद्यते इति असदेतत् । कस्मात् ? उभयोः कारणत्वेन कल्पनाऽनुपपत्तेः । न हि मुखं निमित्तं शक्यं वक्तुम्; विप्रकृष्टत्वान्नासादयो मुखापगमेऽप्युपलब्धिप्रसंगात्पाकजवत् । यत्पुनरेतदुक्तं वृत्तिभेदाददोषो मृद्वदिति तथा तदस्तु । यत्तूक्तमनन्यत्वाद् दृष्टान्ताऽसिद्धेश्चेति वृत्त्यनन्यत्वमिदानीमेव प्रत्युक्तम् । क्षणभङ्गप्रतिषेधे चोक्तं न पृथिव्यादीनामन्यथा चान्यथा चोत्पत्तिः । यत्पुनरेतदुक्तं नैकं मृद्द्रव्यमिति तत्र बुद्धिः प्रमाणम् । यदेकबुद्धिनिमित्तं तदेकं, तत्र यदि मृदोऽनेकत्वेन

प्रयोजनं बुद्धिरुपलभ्यते.........वयमिति। यत्पुनरेतदुक्तम्, मृद्द्रव्यस्य संस्थानव्यतिरेकेण स्वभावोऽवधार्यते न तु बुद्धेरर्थग्रहणमन्तरेण स्वरूपग्रहणमिति, तदयुक्तम्। अभावस्याऽरूपत्वात्। उपेत्य वा—

यथा बाह्याद्यवस्थासु व्याकारा चित्तसन्ततिः।
विद्यते बीजमात्रा वस्तथा धीरित्ति गृह्यताम्॥

यथा बाह्यार्थाकारवच्चित्तसन्ततिरथ च सुप्तमूर्च्छितविरोधसमापन्नानामर्थरूपादृते बीजमात्राऽस्तीत्युपगम्यते सा चिति कापि वाऽवस्थेति वचनात्, न च गृह्यते तथा बुद्धिरपीति कस्मान्न परिकल्प्यते? यत्पुनरेतदुक्तं यदि धर्मान्तरोपादानपरित्यागौ व्यक्त्यव्यक्ती दत्तोत्तर एष पक्ष इति। तदितरत्र तुल्यम्। अस्माभिरपि तर्ह्यसत्कार्यप्रत्याख्याने दत्तोत्तर एष पक्षो व्यक्तिर्न क्रियत इति। नाशोत्पादौ तु अनिष्टावेवेति न परिहारं प्रत्यादरः क्रियते। यदप्युक्तं नष्टादुत्पन्नाच्चाऽनष्टमनुत्पन्नं चान्यन्नास्तीति तदयुक्तम्, अनभ्युपगमात्। नाशोत्पादौ कः प्रतिजानीते यं प्रत्येतदर्थवत्स्यात्? किञ्च त्वत्पक्षप्राप्तेः। भवत एव नष्टोत्पन्नेभ्यः स्कन्धेभ्यो नान्या सन्ततिरथ च नास्ति दोषः। कयाऽपि युक्त्या स्यादेतदन्यैवासाविति ततश्चैका सन्ततिरिति हीनम्। यदप्युक्तं गुणवृद्धिक्षयेऽनित्यत्वमिति तदनुपपन्नम्। कस्मात्? रूपान्तराप्यायनात्। सत्त्वं हि प्रकर्षमनुभवद्रजस्तमसी च न्यूनतां धर्मादिरूपां बुद्धेराप्याययन्ति, नार्थान्तरं कुर्वन्ति नो खल्वप्यभावम्, एवं रजस्तमो वा प्रकर्षमनुभवत्सत्त्वं च न्यूनताधर्मादिरूपं बुद्धेराप्याययन्ति, नार्थान्तरं कुर्वन्ति नाभावम्। एवं गुणवृद्धिक्षयेऽपि रूपान्तराप्यायनान्नास्ति क्षयो बुद्धेः। तत्र यदुक्तं हेत्वपेक्षणादनित्या बुद्धिरिति एतदयुक्तम्। यत्पुनरेतदुक्तं प्रत्यक्षग्रहणान्यत्वात्प्रतिक्षणं दीपादितैलधारासु शब्दभेदाच्च क्षणिकेति, अत्र ब्रूमः— ग्रहणान्यत्वे चोक्तं वृत्तिभेदो न वृत्तिमद्भेदः। किञ्चान्यत्। भिन्नार्थग्रहणैकत्वात्। उपेत्य वा ब्रूमः यदि प्रत्यर्थमन्यदन्यद् ग्रहणं कल्प्यते, विकल्पबाधसमुच्चयसंशयद्वित्वातिशयनिवारणेषु, तथा कल्माषं शबलं चित्रमित्यनेकार्थरूपमेकं ग्रहणं न स्यात्। दृष्टं तत्। तस्मान्नाऽयं क्षणिकत्वे हेतुः। एवमवस्थितमिदं—अध्यवसायो बुद्धिर्न च क्षणिकेति।

बुद्धेस्तु त्रिगुणात्मकत्वात्तस्य तस्य गुणस्य प्रकर्षे तत्तद्रूपान्तरमुत्पद्यत इति। आह, कस्य गुणस्य प्रकर्षे बुद्धेः किं लक्षणं रूपान्तरमुपजायते? इत्युच्यते—

धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।

सात्त्विकमेतद् रूपम्

अत्र त्वेतद्रूपमिति सत्यपि धर्मादिभेदे बुद्धिरित्यभेदविवक्षाविषय एकवचननिर्देशः क्रियते। एतदुक्तं भवति यदा रजस्तमसी वशमापाद्य बुद्धिगतं सत्त्वमुत्कृष्टं भवति तदा धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यमित्येतद्रूपं भवति। तत्र श्रुतिस्मृतिविहितानां कर्मणामनुष्ठानाद् बुद्ध्यवस्थः सरवावयव आशयभूतो धर्म इत्युच्यते। स तु द्विविधः। ब्रह्मादिस्थानेष्वभिप्रेत-

शरीरेन्द्रियविषयोपभोगनिर्वर्तको ज्ञानाद्यङ्गभूतश्च प्रथमः। अग्निहोत्रहवनादिक्रियानुष्ठानसाधनो यमनियमसाधन इतरः। तत्राऽहिंसा सत्यमस्तेयमकल्कता ब्रह्मचर्यमिति पञ्च यमाः। अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवमप्रमाद इति पञ्च नियमाः एतेषामविलोपेनाऽनुष्ठानाद्यतेरेवंविधोत्तरणे सत्त्वधर्म आशयतां प्रतिपद्यते, यो ज्ञानादीनां रूपाणामाप्यायनं करोति। एतदभ्युदयनिःश्रेयसयोः सोपानभूतं प्रथमं पर्व। यत्राऽयमवस्थितो यतिरितरेषां पर्वणामनुष्ठाने योग्यो भवति। ज्ञानं द्विविधं शब्दाद्युपलब्धिलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च। तत्र शब्दाद्युपलब्धिलक्षणं प्रत्यक्षाऽनुमानागमरूपम्। गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधं अपूर्वमभ्यासजं च। तयोरपूर्वम्—ऊहः शब्दोऽध्ययनमिति (का० ५१) सिद्धिकाण्डाऽनुपतितानि प्रमाणानि। अभ्यासजं पुनः वैराग्यपूर्वविजयपृष्ठलब्धं (?) शान्तममलं ध्रुवं सकलभवाऽभवप्रतिपक्षभूतम्। यदाचार्यो वक्ष्यति—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानमिति॥ (का० ६४)

विरागस्तु रागप्रतिपक्षभूतो ज्ञानाभ्यासोपजनितो बुद्धेः प्रसादः। तस्य तु यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारलक्षणाश्चतस्रोऽवस्था भवन्ति। तत्रेन्द्रियाणां विषयाभिलाषलक्षणकषायपाचनं प्रति यः प्रयत्न उत्साहः सा यतमानसंज्ञा। यतमानको ह्ययमस्मिन्पर्वण्यवस्थितो यतिर्भवति। यदा तु केषाञ्चिदिन्द्रियाणां परिपक्वं सा व्यतिरेकसंज्ञा। व्यतिरिच्यन्ते हि तदा यतेरिन्द्रियाणि परिपक्वाण्यपरिपक्वेभ्यो विशिष्टतराणि भवन्तीत्यर्थः। विपरिपक्वसर्वेन्द्रियस्तु संकल्पमात्रावस्थितकषायो यदा भवति तदैकेन्द्रियसंज्ञा। निवृत्तसर्वेन्द्रियविषयेच्छस्य यतेरेकमेव मनोलक्षणमिन्द्रियं तदा परिपक्वं भवति। संकल्पमात्रावस्थितस्यापि परिपाको वशीकारसंज्ञा। संकल्पमूलोच्छिन्नविषयमृगतृष्णो हि अयं यतिरिन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च प्रवृत्तिनिवृत्त्योरीष्टे। एकाग्र एकारामोऽविद्यापर्वणोऽतिक्रान्तः, परस्य ब्रह्मणः प्रत्यनन्तरो भवति। तदेवं चतुरवस्थं वैराग्यपर्व विज्ञाय तदनुष्ठानाय यतिः प्रयतेत। तस्योपायो दृष्टानुश्रविकविषयप्रत्याख्याने य उपदिष्टो यश्च तुष्टिषु वक्ष्यमाणस्तमेकीकृत्योत्तरोत्तरां तत्त्वभूमिं विज्ञानस्य विषयीकुर्वन्पूर्वस्यां तत्त्वभूमौ मध्यस्थः स्यात्। ऐश्वर्यमप्रतीघातलक्षणम्, यत्पुनरष्टविधं अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वमिति। अत्राणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमेति भूतवैशेषिकम्। बुद्धेस्तु प्राप्त्यादि। एवमेतच्चतुर्विधं महतः सात्त्विकं रूपमिति।

आह, अथ गुणान्तररूपं किम्? उच्यते

तामसमस्माद् विपर्यस्तम्॥ २३॥

एतत् अस्माद्धर्मादेः सत्त्वरूपाद्विपर्यस्तं तामसं तमःप्रकर्षोपजनितमित्यर्थः। अत्र शास्त्रचोदितानुष्ठानादाशयनिष्पन्नसत्त्वावयवो धर्म इत्युक्तम्। शास्त्रचोदितस्य नित्यस्य च कर्मणोऽननुष्ठानाद् बुद्ध्यवस्थस्तमोऽवयव आशयतां प्रतिपन्नोऽधर्मः। स चापि द्विविधः—

अनिष्टशरीरेन्द्रियविषयोपभोगनिर्वर्तकः, ख्यातिवारकश्च । यथा च ज्ञानं द्विविधं शब्दाद्युपलब्धिलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं चैवमज्ञानमपि विपर्ययेण वाच्यम् । यथा च-चतुरवस्थं वैराग्यं तथा यतमानादिकश्चतुरवस्थो रागः । यथा चाऽष्टगुणमैश्वर्यमणिमादि तथाऽष्टगुणमनैश्वर्यमेवमेतत्तामसं महतो रूपम् । यच्चैतदधर्मादिनिमित्तभूतमुत्कृष्टं तमोरूपं तद्रजसा सहाऽविरोधादेकतामिवापन्नमशुद्धिरित्याचार्यैः पठ्यते । सत्त्वरूपं तु प्रकाश इति । अनयोश्चाभिधानाद्यः पञ्चाधिकरणपक्षः प्राकृतवैकृतानां ज्ञानानां प्रधानवच्छुष्कनदीस्थानीयान्तःकरणे बाह्ये च प्रेरकज्ञानांशकक्कृत उपनिपातः तथा सात्त्विकस्थित्यात्मककृतमप्रत्ययस्याऽवस्थानमिति तत्प्रतिक्षिप्तं भवति । किं कारणं ? यस्मादशुद्धिरेव प्रकाशमलमतिप्रवृत्तं निवर्तयितुं प्रकर्षापन्नाऽन्याभूता (?) च प्रवर्तयितुम् । इत्येवमष्टरूपा बुद्धिर्व्याख्याता ॥२३॥

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्मात् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव[1] ॥ २४ ॥

अन्वयः—अभिमानः, अहङ्कारः, (उच्यते), तस्मात्, द्विविधः, एव, सर्गः, प्रवर्तते—एकादशकः, गणः, च, पञ्चकः, तन्मात्रः ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—अभिमानः='मैं'—इस प्रकार का अभिमान, अहङ्कारः=अहङ्कार, (उच्यते=कहा जाता है); तस्मात्=उससे, द्विविधः=दो प्रकार का, एव=ही, सर्गः=कार्य (सृष्टि), प्रवर्तते=होता है—एकादशकः=ग्यारह इन्द्रियों वाला, गणः=समूह, च=तथा, पञ्चकः=पाँच अवयव युक्त, तन्मात्रः=तन्मात्राओं का समूह ॥ २४ ॥

अर्थः—'मैं'—इस प्रकार के अभिमान को अहङ्कार कहा जाता है । उससे दो ही प्रकार के कार्य होते हैं,—एक तो ग्यारह इन्द्रियों का समुदाय और दूसरा पाँच तन्मात्राओं का समूह (अर्थात् अहङ्कार से एक ओर तो ग्यारह इन्द्रियाँ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन—उत्पन्न होती हैं और दूसरी ओर पाँच तन्मात्राएँ) ॥ २४ ॥

त० प्र०—बुद्धिलक्षणमुक्त्वा सम्प्रति तत्कार्यभूतस्य अहङ्कारस्य च लक्षणमुच्यते—'अभिमानोऽहङ्कारः' । इन्द्रियगृहीते मनसा मते च विषये 'अहमधिकारी' 'मदर्थोऽयं विषयः' एवमहम्भावरूपः अभिमानः अहङ्कारः उच्यते । अभिमानोऽहङ्कारस्याऽसाधारणो व्यापारः । तस्मादहङ्कारात् द्विविधः द्विप्रकारः सर्गः कार्यं प्रवर्तते प्रादुर्भवति । प्रकारद्वयमाह—'एकादशकश्च गणः' एकादशेन्द्रियाणां समवायः—पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, एकादशं मनः इति; 'तन्मात्रपञ्चकश्चैव' पञ्चावयवात्मकः तन्मात्रो गणः—शब्दतन्मात्र-स्पर्शतन्मात्र-रसतन्मात्र-गन्धतन्मात्ररूपः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—'द्विविधः प्रवर्तते सर्गः'—अहङ्कार से दो प्रकार की सृष्टि होती है—ग्यारह इन्द्रियों की तथा पाँच तन्मात्राओं की । इन्द्रियाँ केवल कार्य ही हैं, कारण नहीं,

१—ऐन्द्रिय एकादशकस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव—युक्ति० ।

अर्थात् इन्द्रियों से कोई तत्त्व उत्पन्न नहीं होता, किन्तु तन्मात्राओं से पाँच महाभूतों की सृष्टि होती है। यही कारण है कि अहङ्कार से उत्पन्न कार्यों को दो भागों में विभक्त करके निर्देश किया गया है ॥ २४ ॥

युक्ति०—यस्त्वसावनन्तरमुक्तोऽहङ्कारस्तं व्याख्यास्यामः। आह, यद्येवं तस्मादिदमेव तावदुच्यतां किमस्याहङ्कारस्य लक्षणमिति ? उच्यते—

अभिमानोऽहङ्कारः

कर्तुः स्वात्मप्रत्यवमर्शात्मको योऽयमहमिति प्रत्यय उत्पद्यते स खल्वहंकारः, महतस्तत्त्वान्तरम्। कस्मात् ? तस्य सर्वविषयाध्यवसायरूपत्वात्, अस्य तु स्वात्मप्रत्यवमर्शात्। न त्वर्थान्तरम्। कस्मात् ? प्रकृतिविकारयोरनन्यत्वाऽभ्युपगमात्। न हि नः प्रकृतेरर्थान्तरभूतो विकार इति प्राग्विस्तरेण प्रतिपादितम्। स च मूर्तिप्रत्ययाभ्यां महतः स्थूलतरः कस्मात् ? अविभागात्, विभागनिष्पत्तेः कालादिवत्। त्रिगुणस्य च महतो विकारत्वादसावपि त्रिगुणः। कस्मात् ? प्रकृतिरूपस्य विकारे दृष्टत्वात्, तन्तुपटवत्। तद्भावसन्निविष्टास्तु ये सत्त्वादयस्त आचार्यैर्वैकारिकतैजसभूतादिशब्देनाख्यायन्ते। तथा च शास्त्रमाह "एतस्माद्धि महत आत्मन इमे त्रय आत्मानः सृज्यन्ते वैकारिकतैजसभूतादयोऽहंकारलक्षणाः। अहमित्येवैषां सामान्यलक्षणं भवति। गुणप्रवृत्तौ च पुनर्विशेषलक्षणमिति।"

आह, का पुनर्गुणप्रवृत्तिर्यस्यामहमस्मिप्रत्ययैकरूपस्याऽहङ्कारस्य विशेषप्रतिपत्तिर्भवतीति ? उच्यते—योऽयं

तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।

द्विविध इन्द्रियलक्षणस्तन्मात्रलक्षणश्च। सा गुणप्रवृत्तिरित्युच्यते। कस्मात् ? तत्कार्यत्वात्। गुणप्रवृत्तिकार्यो हि सर्गः। दृश्यते च खलु लोके कार्ये कारणमुपचर्यमाणम्। तद्यथा शालीन्भुङ्क्त इति।

आह, प्रागुक्तमहंकारात्षोडशको गण उत्पद्यते। इदानीं पुनरुच्यते तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। तदिदं पूर्वोत्तरव्याघातादयुक्तमिति। उच्यते—न, सामान्येन विवक्षितत्वात्। अभेदविवक्षायां हि कृत्वा कार्यकारणलक्षणमेवमस्माभिरुपदिष्टं द्विविधः सर्ग इति। भेदविवक्षायां पुनः

ऐन्द्रिय एकादशकस्तान्मात्रः पञ्चकश्चैव ॥ २५ ॥

इन्द्रियाणामयमैन्द्रियः। एकादश परिमाणमस्य एकादशः। एवं तन्मात्रेषु वक्तव्यम्। तन्मात्राणां शब्दस्पर्शादीनामयं तान्मात्रः सर्गः। पञ्चकश्च पञ्च परिमाणमस्येति पञ्चकः अस्य तु षोडशकस्य विकारस्य संज्ञालक्षणप्रयोजनान्युत्तरत्र वक्ष्यति। एषा गुणप्रवृत्तिर्व्याख्याता। यस्यामस्मिप्रत्ययस्य विशेषग्रहणं भवति—शब्देऽहं स्पर्शेऽहं रूपेऽहं रसेऽहं गन्धेऽहमिति। आह, अहङ्कारे सत्त्वादीनां संज्ञान्तरावचनम्, आनर्थक्यात्। यदिदमहंकारे सत्त्वादीनां संज्ञान्तरमारभ्यते वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति, तन्न वक्तव्यम्। कस्मात् ?

आनर्थक्यात् । न हि तत्त्वान्तरसन्निवेशिनां सत्त्वादीनां संज्ञान्तराभिधाने किञ्चित्प्रयोजनमस्तीति, संज्ञाभूयस्त्वात् । अथायं निर्बन्धस्तत्त्वान्तरम्, संज्ञाभूयस्त्वं प्राप्नोति । प्रयोजनाऽभिधानं वा । विशिष्टयत्नानामनाकस्मिकत्वात् । अथवा प्रयोजनं वक्तव्यम् —एवमर्थमहङ्कारे संज्ञान्तराभिधानमिति । कस्मात् ? न हि विशिष्टयत्नानामाकस्मिकत्वमुपपद्यत इति । उच्यते - न, कार्यविशेषहेतुत्वात् । महदादिलक्षणानां हि गुणानामनेकरूपस्तत्त्वारम्भ इति हि न संज्ञान्तरमारभ्यते । अहंकारस्तु सत्त्वतमोबहुलयोरिन्द्रियतन्मात्रपर्वणोः प्रकृतिः, तदर्थमाचार्याणां यत्नविशेषः । धर्मादिविशेषाभ्युपगमान्महति प्रसंग इति चेत् न, विशेषितत्वात् । तत्त्वान्तरारम्भ इति विशेषितम्, न तु धर्मादयस्तत्त्वान्तरमतो न महति प्रसंगः । विशेषाऽनभिधानादयुक्तमिति चेत् स्यादेतत्, कः पुनरत्र विशेषो येन धर्मादि न तत्त्वान्तरम्, तत्त्वान्तरं तु श्रोत्रादीति ? एतच्च नैवम् । कुतः ? वृत्तिमात्रे तदुपचारात् । वृत्तिमात्रे हि महतो धर्माद्युपचारः । तथा च तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम् "प्रकाशवृत्तिधर्म" इति । वृत्तिनिष्पादितस्तु संस्थानविशेषो वृत्तिमतस्तत्त्वान्तरमित्यनयोर्विशेषः । तस्माद्युक्तमेतत् कार्यविशेषहेतुत्वमिति ॥ २४ ॥

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—सात्त्विकः, एकादशकः, वैकृतात्, अहङ्कारात्, प्रवर्तते; भूतादेः, (अहङ्कारात्), तन्मात्रः, (गणः, प्रवर्तते), सः, तामसः, (भवति); तैजसात्, उभयम्, (प्रवर्तते) ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—सात्त्विकः=सत्त्वगुणप्रधान, एकादशकः=ग्यारह इन्द्रियों का समूह, वैकृतात् सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुण प्रधान, अहङ्कारात्=अहङ्कार से, प्रवर्तते=प्रादुर्भूत होता है; भूतादेः=तामस, (अहङ्कारात्=अहङ्कार) से, तन्मात्रः=तन्मात्राओं का (गणः= समूह, प्रवर्तते=प्रकट होता है), सः=वह, तामसः=तमोगुण-प्रधान, (भवति=होता है); तैजसात्=राजस (अहङ्कार) से, उभयम्=दोनों ही, (प्रवर्तते=उत्पन्न होते हैं) ॥२५॥

अर्थः—ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गण सात्त्विक (वैकृत) अहङ्कार से प्रादुर्भूत होता है । तामस (भूतादि) अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राओं का तामस गण प्रकट होता है । राजस (तैजस) अहङ्कार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् राजस अहङ्कार दोनों की उत्पत्ति में सहायक होता है ॥ २५ ॥

त० प्र०—सात्त्विकः सत्त्वगुणप्रधानः अभिभूतरजस्तमोगुणः एकादशकः एकादशसंख्याकः इन्द्रियगणः वैकृतात् सात्त्विकात् अहङ्कारात् प्रवर्तते प्रादुर्भवति । सात्त्विकस्य अहङ्कारस्य पूर्वाचार्यैः वैकृतः इति संज्ञा कृता । भूतादेः तामसात् उद्रिक्ततमोगुण त्

१—तान्मात्रः—युक्ति० ।

अहङ्कारात् तन्मात्रः पञ्च तन्मात्रसमवायः प्रवर्तते । सः पञ्चतन्मात्रसमवायः तामसादहङ्कारादुत्पद्यमानत्वात् तामसः तमोगुणप्रधानः भवति, कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्येति । अत्रेदं ध्येयं सत्त्वरजसी अभिभूय यदा तमः अहङ्कारे वर्तते, तदा सोऽहङ्कारस्तामसः उच्यते । सांख्याचार्यैः तस्य संज्ञा कृताऽस्ति 'भूतादिः' । ननु यदि सत्त्वतमोभ्यामेव निखिलं कार्यं जन्यते तदा रजसः किं प्रयोजनमित्याह तैजसादुभयमिति—यदा रजसाऽभिभूते सत्त्वतमसी अहङ्कारे भवतः तदा सोऽहङ्कारस्तैजस इति संज्ञां प्राप्नोति । उभयमिति 'एकादशकः गणः तन्मात्रपञ्चकश्च' । तैजसादुत्कटरजोगुणकादहङ्कारात् एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि चोत्पद्यन्ते । अत्रेदं तत्त्वम्—वैकृतसंज्ञकः सात्त्विकाऽहङ्कार, भूतादिसंज्ञितः तामसोऽहङ्कारश्च स्वयमक्रियौ । रजसा प्रेर्यमाणौ एव सात्त्विकाहङ्कारतामसाहङ्कारौ क्रमशः एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि चोत्पादयतः । रजसः एतदेव प्रेर्यत्वमादाय तेनाऽहङ्कारेणेन्द्रियाण्येकादश पञ्चतन्मात्राणि च कृतानीत्युच्यते । अतो न व्यर्थं रज इति । अयमेव भावः तैजसादुभयमित्यस्येति ॥ २५ ॥

टिप्पणी—तैजसादुभयम्—सत्त्वगुण तथा तमोगुण स्वयं निष्क्रिय हैं । वे रजोगुण की सहायता अर्थात् प्रेरणा के विना अपने-अपने कार्यों को नहीं उत्पन्न कर सकते । रजोगुण की प्रेरणा मिलने पर ही सत्त्वगुण इन्द्रियों को तथा तमोगुण तन्मात्राओं को उत्पन्न कर सकता है । इस प्रकार रजोगुण मन सहित ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति में सहायक होता है । यही है उसकी (रजोगुण की) दोनों (इन्द्रियों एवं तन्मात्राओं) को उत्पन्न करने की बात । विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिये संस्कृत टीका ॥ २५ ॥

युक्ति०—आह, यद्येवमिदं तर्हि वक्तव्यममुष्य कार्यविशेषस्यैवं संज्ञकादहंकारात्प्रवृत्तिरिति । उच्यते—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।

सर्ग इत्यनुवर्तते । एकादशेन्द्रियाणि सत्त्वबहुलानि वैकृतादहंकारात्प्रवर्तन्ते निष्पद्यन्त इत्यर्थः । एकादशाभिधानादेव चेन्द्रियप्रतीतिः, पूर्वसूत्रे तत्सामानाधिकरण्यात् । अतो न पुनरिन्द्रियग्रहणम् ।

आह, तन्मात्रसर्गः पुनः किंगुणः, कस्माच्चाहङ्कारात्प्रवर्तते इति ? उच्यते—

भूतादेस्तान्मात्रः स तामसः

भूतादेर्भूतादिसंज्ञकात्तमःप्रधानात्तान्मात्रः सर्ग । तान्मात्रस्तु तमोबहुलो भूतादिसंज्ञकादहङ्कारात्प्रवर्तते । तत्र पुनस्तन्मात्रग्रहणात्संख्या शस्यत इति नोच्यते ।

आह, प्रकृतिविशेषनिर्देशानर्थक्यम् । प्रागुक्तं सत्त्वादीनामहङ्कारावस्थितानां वैकारिकाद्याः संज्ञा उच्यन्ते । तद्यदि सत्त्वं वैकारिकशब्देनोच्यते वैकारिकाणि चैन्द्रिय एकादशकः सर्गः प्रवर्तत इत्युक्ते गम्यत एतत् सात्त्विकोऽसौ, भूतादेस्तान्मात्र इत्युक्ते

गम्यत एतत् तामस इति। कस्मात्? न ह्यस्ति सम्भवो यत्सत्त्वात्तमोबहुलः सर्गः स्यात्तमसश्च सत्त्वबहुल इति। उच्यते—न, अप्रसिद्धत्वज्ञापनात्। यस्यैवार्थस्य ज्ञापनार्थमेवमिह क्रियते, कथं गम्यते सत्त्वं वैकारिकशब्देनोच्यते, तमो भूतादिशब्देन, रजस्तैजसशब्देन? अप्रसिद्धार्था हि तान्त्रिकी परिभाषेयमनिर्णीता न गम्यत इति।

आह, तैजससंज्ञानर्थक्यमिति। उच्यते न,

तैजसादुभयम्॥ २५॥

उभयत्र तत्सामर्थ्यात्। स्यादेतदेवं यद्यस्य कार्यसामर्थ्यमेव न स्यात्। अस्मात्तु तैजसादुभयमप्येतत्तन्मात्रेन्द्रियसंज्ञकं प्रवर्तत इत्यनुवर्तते। कथम्? यदा हि वैकारिकोऽहङ्कार इन्द्रियभावेन प्रवर्तते तदा निष्क्रियत्वात्तैजसं प्रकर्तकत्वेनाकांक्षति, भूतादि भेदकत्वेन। कस्मात्? तेनैव तद्भेदात्। तद्यथाऽग्निरग्नौ प्रक्षिप्तोऽग्निरेव भवति, आपो वाऽप्सु प्रक्षिप्ता आप एव भवन्ति, एवं सत्त्वमेव सत्त्वे तु भेदं जनयति गुणान्तरसंसर्गमपेक्षते। भूतादिलक्षणस्य तु तमसः संसर्गाद् भिद्यमानं तैजसेन च रजसा क्रियात्मकेनाऽनुगृहीतमेकादशेन्द्रियभावमपेक्षते। तथा भूतादिलक्षणं तमोऽहङ्कारात्तन्मात्रभावेन प्रवर्तमानं प्रवृत्यर्थं तैजसमाकांक्षति, वैकारिकं भेदत्वेन। कस्मात्? तेनैव तस्य भेदादिति योज्यम्। शास्त्रं चैवमाह—"तदेतस्मिन्वैकारिके स्रक्ष्यमाण एष भूतादिस्तैजसेनोपष्टब्ध एतं वैकारिकमभिद्रावति। तथैव तस्मिन्भूतादौ स्रक्ष्यमाणे एष भूतादिस्तैजसेनोपष्टब्ध एतं भूतादिमभिभवति" इत्यनेन न्यायेन तैजसादुभयनिष्पत्तिरिति व्याख्यातोऽहङ्कारः॥ २५॥

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुश्श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि[1]।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि[2] कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥ २६॥

अन्वयः—चक्षुश्श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि, बुद्धीन्द्रियाणि; (तथा), वाक्पाणिपादपायूपस्थानि, कर्मेन्द्रियाणि, आहुः॥ २६॥

शब्दार्थः—चक्षुश्श्रोत्रघ्राणरसनत्वागाख्यानि=चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जीभ का वह अग्रभाग जिससे स्वाद जाना जाता है अर्थात् रसन और त्वक् (शरीर को ढकने वाला

१—'चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि'—गौणपाद।
'कर्णत्वक्चक्षुरसननासिकाख्यानि'—भट्टोत्पल एवं युक्तिदीपिकाकार।
'श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि'—माठर आदि।

२—'वाक्पाणिपादपायूपस्थान्'—माठर, गौणपाद, सुवर्णसप्तति, जयमंगला।
'वाक्पाणिपादपायूपस्थाः'—युक्तिदीपिकाकार।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यकर्मेन्द्रियाण्याहुः'—सांख्यचन्द्रिका।

चमड़ा) नामवाली, (इन्द्रियाँ), बुद्धीन्द्रियाणि=बुद्धि इन्द्रियाँ या ज्ञानेन्द्रियाँ, (तथा= और), वाक्पाणिपादपायूपस्थानि=जीभ, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग, कर्मेन्द्रियाणि=कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् काम करने वाली इन्द्रियाँ, आहुः=कही गयी हैं ॥ २६ ॥

अर्थः—चक्षु श्रोत्र घ्राण रसन (जिह्वा का अग्र भाग) तथा त्वक् नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक् (जीभ), हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग (जननेद्रिय) पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गयी हैं ॥ २६ ॥

त० प्र० पूर्वस्यां कारिकायां यदुक्तं 'सात्त्विक एकादशकः' वैकृतात् सात्त्विकात् अहङ्कारादुत्पद्यते एकादशानां सात्त्विकः गणः तस्य का संज्ञा ? इत्युच्यते—बुद्धन्द्रियाणीति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः बुद्धयन्ते ज्ञायन्ते एभिरिति बुद्धीन्द्रियाणि रूपाद्युपलब्धिकारणत्वेन सिद्धानि चक्षुरादीनि । अत्रेदमवधेयम्—बुद्धीन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि सन्ति । रूपाद्युपलब्धिं विलोक्य 'करणत्वेन तेषामनुमानं 'रूपाद्युपलब्धिः सकरणिका क्रियात्वाच्छिदिक्रियावत्' इतिरूपं भवति । अनुमानेन चक्षुरादीनि सिद्धयन्तीति भावः । स्थूलेषु चक्षुरादिषु सूक्ष्मरूपेण स्थिता रूपाद्यवगाहनसमर्था शक्तिः एव बुद्धीन्द्रियपदेन निगद्यते इति विवेकः । चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियपञ्चकमध्ये चक्षुः चष्टे, चक्षतेऽनेनेति वा व्युत्पत्या चक्षुपदाभिधेयं नेत्रम्, रूपादिविषयेषु रूपस्य ग्राहकम्; श्रोत्रम्=शृणोति श्रूयते अनेन वेति व्युत्पत्त्या शब्दग्राहकः श्रोत्रपदाभिधेयः कर्णविवरः; घ्राणम्=जिघ्रति अनेनेति वा घ्राणं गन्धस्य ग्राहकमिन्द्रियम्; रसनम्=रसयति रस्यते अनेन वेति रसनं रसस्य ग्राहकं जिह्वाग्रवर्ति इन्द्रियम्; त्वक्=त्वचति स्पृशति अनेनेति व्युत्पत्या स्पर्शग्राहकं सर्वशरीरव्यापि त्वगिन्द्रियम् । एतेषु मध्ये त्वक् चक्षुश्च द्रव्यस्यापि ग्राहकम्, अन्यानि तु केवलं गुणग्राहकानीति ध्येयम् । वागादीनि कर्म कुर्वन्तीति कर्मेद्रिन्याणि, तद्विषयाः वक्ष्यन्ते अष्टाविंशति (२८) कारिकायाम् । तत्र वाक् वदति, हस्तौ नानाव्यापारं कुरुतः, पादौ गमनागमनम्, पायुः भुक्तस्य अन्नस्य मलरूपेण उत्सर्गं करोति, उपस्थः प्रजोत्पत्त्या आनन्दं करोतीति निर्देशः । एतेषां सर्वेषामिन्द्रियसञ्ज्ञा कुतः इति शङ्कायाम्—दम्पदेन विषयाः तान् प्रति द्रवन्तीति व्युत्पत्या चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि निगद्यन्ते ॥ २६ ॥

टिप्पणी—यहाँ यह ध्यान रखना है कि चक्षु, श्रोत्र, घ्राण (नाक), रसन और त्वक् शब्द के माने आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़ा जो स्थूल रूप में देखे जाते हैं, नहीं हैं, अपितु आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़े की वे शक्तियाँ चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और त्वक् हैं जिनके द्वारा आँख आदि अवयव रूप आदि का ग्रहण करते हैं । शक्तियों के नष्ट हो जाने पर स्वरूपतः वर्तमान भी आँख, कान आदि रूप तथा शब्द आदि को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते ॥ २६ ॥

युक्ति०—आह, प्रागपदिष्ट ऐन्द्रिय एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारादिति, तत्सामान्याभिधानान्न प्रतिपद्यामहे । तस्माद्वक्तव्यं कानीन्द्रियाणि भवतोऽभिप्रेतानि ? उच्यते—द्विविधानीन्द्रियाणि, बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि च । तत्र

बुद्धीन्द्रियाणि कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि।

कर्णौ त्वक्चक्षुषी च रसनं च नासिका च कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाः। आख्यानमाख्या प्रत्यायनमित्यर्थः। एतैः शब्दैराख्या येषां तानीमानि कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि। अधिष्ठानभेदाद् द्विवचनेन विग्रहः क्रियते। एतानि बुद्धीन्द्रियाणि प्रत्यवगन्तव्यानि। बुद्धेरिन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि। किं पुनरेतानि बुद्धेरिति? उच्यते—शब्दादिविषयप्रतिपत्तौ द्वारम्। कस्मात्? अबहिर्वृत्तित्वात्। अन्तःकरणस्य नास्ति बहिर्वृत्तिरित्यतो नाऽलमेतत्साक्षाच्छब्दादीनर्थान्प्रतिपत्तुम्। तस्माच्छ्रोत्रादिलक्षणं साक्षाद् बाह्यविषयप्रकाशनसमर्थं कारणान्तरमपेक्षते। तत्प्रणालिकया तस्य विषयग्रहणम्। तस्माद्युक्तमुक्तं बुद्धेर्बाह्यविषयप्रतिपत्तौ द्वारभूतत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणीति।

आह, कर्मेन्द्रियाणि पुनः कानीति?

वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥ २६॥

वाक्च पाणी च पादौ च पायुश्चोपस्थश्च वाक्पाणिपादपायूपस्थाः। एतानि कर्मेन्द्रियाण्याहुराचक्षते। कर्मार्थानीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि। किं पुनः कर्म? वचनादि वक्ष्यमाणम्। एतद्विकुर्वत् इति कर्मेन्द्रियाणि। आह, कथमेतदुपलभ्यते अधिष्ठानादर्थान्तरभूतानीन्द्रियाणि, न पुनरधिष्ठानमात्रमिति? उच्यते—अधिष्ठानादिन्द्रियपृथक्त्वम्, शक्तिविशेषोपलम्भात्। यथा शरीरासम्भविनो विषयव्यवसायलक्षणस्य शक्तिविशेषस्योपलम्भादर्थान्तरं बुद्धिरनुमीयते, एवमधिष्ठानासम्भविनो विषयग्रहणलक्षणस्य शक्तिविशेषस्योपलम्भादर्थान्तरमिन्द्रियमिति। आह, न, असम्भवाऽसिद्धेः। अधिष्ठानमात्रस्य विषयग्रहणं न सम्भवति, अर्थान्तरस्य च सम्भवति इत्येतदुभयमपि चाऽप्रसिद्धमिति। उच्यते—नैतदप्रसिद्धम्। तुल्यजातीयेषु तदनुपपत्तेः। यस्माद् भौतिकेष्वन्येषु घटादिषु विषयग्रहणसामर्थ्यासम्भवः। आहंकारविकारवत्तत्सामर्थ्याप्रतिषेधान्नेन्द्रियाणां नस्तत्प्रतिषेधोऽनुमातव्य इति। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? शक्तिभेदापत्तेः। वैकारिकं सत्त्वमाहङ्कारिकं प्रकाशरूपं, तच्छक्तिविशेषादिन्द्रियाणि न उत्पद्यन्ते। भूतादिलक्षणस्य तमसः सामर्थ्यात् तन्मात्राणि परस्य, पृथिव्यादीनामेकरूपत्वात्। तस्मादयमसमः समाधिरिति। एतेन भौतिकत्वं प्रत्युक्तम्। आह, कथमवगम्यते बहूनीन्द्रियाणि, न पुनरेकमेवेन्द्रियं मनोवत्सर्वार्थमनेकाधिष्ठानं स्यादिति? उच्यते—न, युगपत्प्रवृत्त्यप्रवृत्तिप्रसंगात्। यद्येकमेवेन्द्रियं मनोवत्सर्वार्थमनेकाधिष्ठानं स्यादेकविषयप्रतिपत्तौ वा सर्वविषयप्रतिपत्तिः। दृष्टस्तु ग्रहणभेदस्तस्मान्नैकमिन्द्रियमिति। भौतिकैरनुग्रहोपघातदर्शनादिन्द्रियाणां भौतिकत्वमिति चेत् स्यान्मतम्, इह भौतिकानां घटादीनां भौतिकैर्मृद्दण्डचक्रसूत्रोदकमुद्गरादिभिरनुग्रहोपघातो दृष्टः। यदि च भौतिकानीन्द्रियाणि न स्युः नैषां भौतिकैरञ्जनादिभिरनुग्रहः क्रियते उपघातश्च रजःप्रभृतिभिरिति। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? अनेकान्तात्। तद्यथा भौतिकैर्वदनादिभिरन्तःकरणस्य ग्रहणधारणस्मृतिलक्षणोऽनुग्रहः क्रियते, उपघातश्चोपला-

दिभिः । न चास्य भौतिकत्वम् । एवमिन्द्रियस्यापि स्यात् । वैशेषिकगुणव्यञ्जकत्वाद्विकारप्रतीतिरिति चेत्, अथ मतम् - पृथिव्यादिवैशेषिको गन्धो घ्राणेनाऽभिव्यज्यते । औदको रसो रसनेन च । आग्नेयं रूपं वीक्षणेन । वायवीयः स्पर्शस्त्वचा । आकाशीयः शब्दः श्रोत्रेण । येन च यस्य वैशेषिकगुणाभिव्यक्तिस्तस्य तद्विकारत्वं दृष्टम् । तद्यथा प्रदीपस्य रूपाभिव्यञ्जकत्वे सति तैजसत्वमिति । एतच्चानुपपन्नम् । कस्मात् ? अनिष्टप्रसंगात् । वैशेषिकगुणव्यञ्जकानां तद्विकारत्वमिच्छतः प्राप्तमपां गन्धाभिव्यक्तिहेतुत्वात् पार्थिवत्वम् । अथैतदनिष्टं, न तर्ह्यैकान्तिको हेतुरिति । तत्र यदुक्तं वैशेषिकगुणाभिव्यञ्जकत्वाद् भौतिकानीन्द्रियाणीति एतदयुक्तम् ॥ २६ ॥

[1]उभयात्मकमत्र मनः, संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

अन्वयः - सङ्कल्पकम्, साधर्म्यात्, इन्द्रियम् च, मनः, अत्र, उभयात्मकम्, (अस्ति) । गुणपरिणामविशेषात्, (इन्द्रियाणाम्), नानात्वम्, च, बाह्यभेदाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थः सङ्कल्पकम्=(यह वस्तु ऐसी है, ऐसी नही, इस प्रकार से) संकल्प करनेवाला, साधर्म्यात्=(इन्द्रियों के) सजातीय होने से, इन्द्रियम्=इन्द्रिय (कहलानेवाला) मनः=मन, अत्र=इन्द्रियों के समूह में, उभयात्मकम्=दोनों प्रकार की इन्द्रिय, (अस्ति = है), गुणपरिणामविशेषात्=गुणों के परिणामविशेष (अर्थात धर्म अधर्मरूप अदृष्ट) के कारण, (इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों की), नानात्वम्=विविधता, च=तथा बाह्यभेदाः=बाहरी पदार्थों में भेद है, अथवा—च=जैसे, बाह्यभेदाः=बाहरी पदार्थों में है ॥ २७ ॥

अर्थः—(यह वस्तु ऐसी है, ऐसी नहीं इस प्रकार से) सङ्कल्प करनेवाला और (इन्द्रियों के) सजातीय होने से 'इन्द्रिय' कहा जाने वाला मन इन्द्रियों के बीच में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों प्रकार की इन्द्रिय है । गुणों के परिणाम विशेष (अर्थात् धर्म अधर्म रूप अदृष्ट विशेष) के कारण इन्द्रियों की विविधता और बाहरी पदार्थों में भेद है; अथवा गुणों के परिणामविशेष (अर्थात् धर्म, अधर्म रूप अदृष्टविशेष) के कारण इन्द्रियों की विविधता है जैसे कि बाहरी पदार्थों में भेद है ॥ २७ ॥

त० प्र०—एवं बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि, एकादशकं मनः किमात्मकं किं स्वरूपञ्चेति जिज्ञासायामुच्यते—इन्द्रियेण आलोचितं वस्तु 'इदमेवम्' 'इदं नैवम्' इति सम्यक् कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन चेतयतीति संकल्पकम्—

---

१. सङ्कल्पकमत्र मनस्तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम् ।
अन्तस्त्रिकालविषयं तस्मादुभयप्रचारं तत् ॥ युक्ति०; भट्टोत्पल० ॥

सङ्कल्पधर्मवत्त्वेऽपि धर्मधर्मिणोरभेदात् सङ्कल्पात्मकमित्यर्थः। किञ्च, इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाहङ्कारोपादानत्वं साधर्म्यं तस्मात् साधर्म्यात् समानधर्मभावात्—सात्त्विकाहङ्कारात् बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पन्नानीति साधर्म्यं तस्मात् इन्द्रियमिन्द्रियरूपेण परिगण्यमानम्। अस्मात् साधर्म्यादेव मनसः इन्द्रियत्वम्, न तु इन्द्रस्य आत्मनः लिङ्गत्वात्। तथात्वे च बुद्ध्यहङ्कारयोरपि इन्द्रियत्वापत्तेरिति दिक्। चकारोऽप्यर्थे। मनः एकादशमिन्द्रियम् अत्र ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियमध्ये उभयात्मकं बुद्धीन्द्रियात्मकं कर्मेन्द्रियात्मकञ्चास्ति। अयमाशयः—मनसः अवधानं विना सर्वेषां ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च स्वव्यापारासमर्थत्वात् मनः एव ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियम् इति च उच्यते "अन्यत्रमना अभूवन्नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्" [वृह० उप० १ अध्या० ५ ब्रा० ३ मन्त्रः] इत्यादि श्रुतिरपि अमुमेवार्थं द्रढयति।

ननु कथमेकस्मात् सात्त्विकादहङ्कारात् भिन्नानि भिन्नार्थग्राहकाणि एकादशेन्द्रियाणि जायन्ते? अत्रोच्यते—'गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च' इति। गुणानां सत्त्वादीनां यः परिणामविशेषः अदृष्टविशेषादिरूपः तस्मात् इन्द्रियाणां नानात्वं वैविध्यम्। सहकारिभेदात् कार्यभेदः इति ज्ञेयम्। अत्रेदमपि ध्येयमदृष्टभेदोऽपि गुणपरिणाम एव। बाह्यभेदाश्चेति—यथा गुणपरिणामविशेषात् सत्त्वादीनाम् अदृष्टविशेषाद् इन्द्रियाणां नानात्वं तथैव बाह्यभेदाः बाह्यार्थभेदाश्चापि ज्ञेयाः। बाह्यार्थाश्चात्र इन्द्रियाणां विषयाः एव। वाचस्पतिमिश्रास्तु—"बाह्यभेदाश्च" इति दृष्टान्तार्थम्, यथा बाह्यभेदास्तथैतदपीत्यर्थः इति व्याख्यायन्ते। ग्राह्यभेदाच्चेति माठरवृत्तिपाठे तु ग्राह्यभेदादपीन्द्रियभेदः आवश्यको बोध्यः इत्यर्थः। परञ्चायं पाठस्तु असमीचीनः इन्द्रियाभिव्यक्तावेव तेषां विषयाभिव्यक्तित्वादिति दिक्॥ २७॥

टिप्पणी— गुणपरिणामविशेषात्—इन्द्रियाँ गुणों के ही परिणाम हैं अर्थात् इन्द्रियाँ गुणों से ही उत्पन्न होती हैं। इनको उत्पन्न करने वाले गुण अहंकार में स्थित हैं। इन्द्रियों की उत्पत्ति के समय गुणों में सत्त्वगुण की प्रबलता रहती है। ये गुण जब इन्द्रियों को उत्पन्न करते हैं, उस समय धर्म-अधर्म रूप अदृष्ट इनकी (गुणों की) सहायता करते हैं। इन्हीं अदृष्टों के कारण ही इन्द्रियों में और उनके बाहरी विषयों में भिन्नता-विविधता आती है। यहाँ यह स्मरण रखना है कि धर्म-अधर्म रूप अदृष्ट भी गुणों के ही परिणाम हैं। तत्त्वों को उत्पन्न करने में अदृष्ट सहकारी कारण का कार्य करते हैं। विवरण के लिये देखिये—टीका।

बाह्यभेदाश्च—इन्द्रियों की विविधता तथा उनके विषयों में भेद के लिए समानरूप से गुणों के परिणामविशेष को कारण बतलाया गया है। किन्तु कुछ विद्वान् 'बाह्यभेदाश्च' को दृष्टान्त के रूप में ग्रहण करते हैं अर्थात् 'गुणों के परिणामविशेष से जैसे

बाहरी विषयों में भेद है वैसे ही इन्द्रियों में भी है'—ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु विचार करने पर दोनों प्रकार के अर्थों में कुछ अन्तर नहीं मालूम पड़ता ॥ २७ ॥

युक्ति०—आह, एकादशेन्द्रियाणि अहङ्कारादुत्पद्यन्त इति प्रागपदिष्टम्। इदानीं बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि दशापदिश्यन्ते। तदिदं पदार्थन्यूनमिति। उच्यते—स्यादेतदेवम्, यद्येतावदिन्द्रियपर्व स्यात्। किं तर्हीति—

सङ्कल्पकमत्र मनः

अत्रेन्द्रियपर्वणि मनो भवद्भिः प्रत्यवगन्तव्यम्। तत्र संकल्पकमिति लक्षणमाचक्ष्महे। संकल्पोऽभिलाष इच्छातृष्णेत्याद्यनर्थान्तरम्। संकल्पयतीति संकल्पकम्। एतन्मनसो लक्षणम्। तस्मादस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्यास्तित्वमवसीयते। कस्मात्? व्यस्तसमस्तानामिन्द्रियान्तराणां तदसंभवात्। अपोह्य हि मनः संकल्पं व्यस्तानामिन्द्रियान्तराणां भवान्परिकल्पयेत्, समस्तानां वा? किञ्चातः? तत्र तावद्व्यस्तानामिन्द्रियाणां संकल्पो भवति। किं कारणम्? अनियतविषयत्वात्। नियतो हि श्रोत्रादीनां शब्दादिर्विषयः। अनियतविषयश्च संकल्पः। किञ्च त्रिकालविषयत्वात्। वर्तमानविषया श्रोत्रादिवृत्तिः त्रिकालविषयश्च संकल्पः। तस्मान्न व्यस्तानां नाऽपि समस्तानाम्। बधिरादिषु तदभावप्रसंगात्। यदि समस्तेन्द्रियवृत्तिः संकल्पः स्यात्प्राणादिवदिति चेत् स्यान्मतम्, यथा समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिः, न चान्यतरवैकल्ये तदभावः, एवं समस्तेन्द्रियवृत्तिः संकल्पः स्यान्नचान्यतरवैकल्ये तदभावः स्यादिति। एतच्चानुपपन्नम्। विशेषितत्वात्। निर्विषया प्राणादिवृत्तिः। शब्दाविषयस्तु संकल्प इति विशेषितम्। तस्माद् व्यस्तसमस्तानामिन्द्रियाणां संकल्पानुपपत्तेर्मनसो लिङ्गमेतदस्तित्वे इति सिद्धम्।

आह, तदवधारणीयम्, इन्द्रियद्वैविध्यात्। द्विप्रकाराणि हीन्द्रियाणि पुरस्तादुपदिष्टानि। तत्र मनोऽप्यवधारणीयं किं बुद्धीन्द्रियम् अथ कर्मेन्द्रियमिति? उच्यते—

तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्।

ह्यर्थे चः पठितः। तद्धीन्द्रिमुभयथेत्यर्थः। मनो न केवलं बुद्धीन्द्रियमपि तु कर्मेन्द्रियमपि।

नियमहेत्वभावादयुक्तमिति चेत् स्यात्पुनरेतत्, कोऽत्र नियमहेतुः यदिन्द्रियत्वाविशेषे मनस एवोभयप्रचारत्वमभ्युपगम्यते, नान्येषामिति? उच्यते

अन्तस्त्रिकालविषयं तस्मादुभयप्रचारं तत् ॥ २७ ॥

त्रिकालविषयत्वात्। इह यस्यान्तस्त्रिषु च कालेषु करणस्य वृत्तिस्तदुभयप्रचारम्, तद्यथा बुद्धिः। साक्षात् विषयाऽनभिसन्धानादतीतानागतवर्तमानविषयत्वाच्च मनोऽन्तस्त्रिकालविषयम्। तस्मादुभयप्रचारं तदिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

॥ युक्तिदीपिकायां सांख्यसप्ततिपद्धतौ षष्ठमाह्निकम् ॥

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—पञ्चानाम्, (ज्ञानेन्द्रियाणाम्), वृत्तिः, रूपादिषु, आलोचनमात्रम्, इष्यते । पञ्चानाम्, (कर्मेन्द्रियाणाम्, वृत्तयः), वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः, च, (कथ्यन्ते) ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—पञ्चानाम्-पाँच, (ज्ञानेन्द्रियाणाम्=ज्ञानेन्द्रियों का), वृत्तिः=व्यापार, रूपादिषु रूप, रस इत्यादि पाँचों विषयों का, आलोचनमात्रम्=विशेषण-विशेष्य-रहित अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञानमात्र, इष्यते=अभीष्ट है (कहा जाता है) । पञ्चानाम्=पाँच, (कर्मेन्द्रियाणाम्=कर्मेन्द्रियों के, वृत्तयः=व्यापार), वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः= भाषण, ग्रहण, गमन, मल-त्याग तथा रमण, (कथ्यन्ते-कहे जाते हैं) ॥ २८ ॥

अर्थः—पाँच ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार रूप, रस इत्यादि पाँचों विषयों का विशेषण-विशेष्य-रहित (अर्थात् निर्विकल्पक) ज्ञानमात्र अभीष्ट है (कहा जाता है) । एवं पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार भाषण, ग्रहण, गमन, मल-त्याग तथा रमण कहे जाते हैं ॥ २८ ॥

त० प्र०—पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां चक्षूरसनघ्राणश्रोत्रत्वचाम्, वृत्तिः व्यापारः रूपादिषु रूपरसगन्धशब्दस्पर्शेषु आलोचनं सम्मुग्धवस्तुदर्शनं निर्विकल्पकज्ञानमित्यर्थः इष्यते । मात्रपदग्रहणात् क्रियादिव्यवच्छेदः । ज्ञानेन्द्रियाणां तद्विषयाणाञ्च संयोगे प्रथमे क्षणे वस्तूनां यज्ज्ञानं जायते तत्तु विशेषणविशेष्यपरिहीनं केवलं वस्तुमात्रावगाहि ज्ञानं भवति । एतदेव ज्ञानं निर्विकल्पकम् आलोचनञ्च निगद्यते । द्वितीये क्षणे गृहीतविषयाणां ज्ञानेन्द्रियाणां मनसा संयोगे विशेषणविशेष्यविशिष्टं सविकल्पकं ज्ञानम् जायते । एतत्स-विकल्पकं ज्ञानं न केवलम् इन्द्रियाणां विषयम् अपि तु मनसश्चापि; अतएव केवलं निर्विकल्पकं ज्ञानमेव ज्ञानेन्द्रियाणां अविशेषा वृत्तिः । अयमेव आलोचनपदस्य मात्रपदस्य च अभिप्रायः । तत्र चक्षुषः रूपे, रसनायाः रसे, घ्राणस्य गन्धे, श्रोत्रस्य शब्दे, त्वचः स्पर्शे शक्तिरिति स्फुटार्थः । कर्मेन्द्रियव्यापारमाह वचनेति—पञ्चानां कर्मेन्द्रियाणां वचनादीनि कर्माणि व्यापाराः (कथ्यन्ते) । तत्र वाचः वचनम्, हस्तयोः आदानम्, पादयोः विहरणम्, पायोः भुक्तस्य अन्नाद्याहारस्य परिणतमलोत्सर्गः, उपस्थस्य आनन्दः रमणं सुतोत्पत्ति-विषया वृत्तिः कर्मेति सम्बन्धः ॥ २८ ॥

टिप्पणी—आलोचनमात्रम्—आलोचन का अर्थ होता है विशेषण-विशेष्य से रहित ज्ञान । बच्चों को किसी भी पदार्थ का ऐसा ही विशेषण-विशेष्य-रहित ज्ञान होता है । उन्हें किसी भी पदार्थ का गोल-मटोल (समूहालम्बनात्मक) ज्ञान होता है । किसी भी पदार्थ और इन्द्रियों के संयोग के प्रथम क्षण में प्रत्येक व्यक्ति को बच्चों के समान ही विशेषण-विशेष्यरहित अर्थात् निर्विकल्पक ही ज्ञान होता है । इसी को 'आलोचन' कहते

हैं। यही निर्विकल्पक ज्ञान ही इन्द्रियों का विशुद्ध व्यापार है। सविकल्पक ज्ञान में तो मन भी भागीदार बनता है। यहाँ यह भी ध्यान रखना है कि 'मात्र' पद के जोड़ देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति आलोचन (निर्विकल्पक ज्ञान) मात्र ही है। वे कर्म नहीं करतीं और सविकल्पक ज्ञान भी उनका विशेष व्यापार नहीं है। विशेष के लिये देखिये—टीका॥ २८॥

युक्ति० समधिगतं करणपर्व। तस्येदानीं व्यस्तसमस्तवृत्तयो वक्तव्याः। सति चोभयाभिधाने व्यस्तवृत्तिरेव तावदुच्यते, न समस्तवृत्तिः। किं कारणम्? प्रकरणशेषभूतत्वात्। श्रोत्रादीनां हि सद्भावप्रकरणमिदमनुक्रान्तम्। स चैषां सद्भावः शक्तिविशेषोपालम्भादित्युक्तम्। इदानीमसौ शक्तिविशेषोऽस्माकं व्यस्तवृत्तिरित्युच्यते। तस्मात्तदनुक्रमणं करिष्यामः। आह, यद्येवं तस्मादुच्यतां तस्य करणस्य कस्मिन्नर्थे वृत्तिः, किं लक्षणं वेति? उच्यते— यदुक्तं तस्य कस्मिन्नर्थे वृत्तिरित्यत्र ब्रूमः—

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।

रूपादिषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु स्वभेदभिन्नेषु पञ्चानां श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां श्रवणस्पर्शनदर्शनरसनघ्राणलक्षणो व्यापारो वृत्तिरित्युच्यते। तत्र करणनिर्देशे श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राक्पाठात्तद्विषयनिर्देशातिलंघने प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा शब्दादिषु पञ्चानामित्येव पठितव्यम्। प्राक्तनस्तु प्रमादपाठः।

यत्पुनरेतदुक्तं किंलक्षणेति अत्र ब्रूमः—आलोचनमात्रमिष्यते। आलोचनं ग्रहणमित्यनर्थान्तरम्। मात्रशब्दो विशेषनिवृत्त्यर्थः। तद्यथा भैक्षमात्रमस्मिन्ग्रामे लभ्यत इत्युक्ते नान्यो विशेष इति ज्ञायते। छन्दोमात्रमधीते माणवक इत्युक्ते नान्यदधीत इति। एवमालोचनमात्रमिन्द्रियाणामिष्यते वृत्तिरित्युक्ते नान्यो विशेष इति गम्यते। तेन किं सिद्धं भवति? यदुक्तमन्यैराचार्यैः सामान्यज्ञानमिन्द्रियाणां विशेषज्ञानं बुद्धेरिति तत्प्रतिषिद्धं भवति। आह, कः पुनरस्मिन्दर्शने दोषो यत एतत्प्रतिषिध्यत इति? उच्यते—सामान्यविशेषयोरितरेतरापेक्षत्वे सत्येकस्मिन्नविरोधादन्यतरपरिकल्पनाऽनर्थक्यम्। यदि खल्विन्द्रियस्य सामान्यज्ञानं न स्यात्तेन विशेषापेक्षं सामान्यं सामान्यापेक्षश्च विशेष इति यत्र सामान्यज्ञानं तत्र विशेषज्ञानमपि न प्रतिषिध्यत इत्युभयमपीन्द्रियस्य स्यात्। ततश्चान्तःकरणपरिकल्पनाऽनर्थक्यम्। विशेषवतो वाऽन्तःकरणस्य कः सामान्येन विरोध इत्युभयस्यापि तत्र सम्भवादिन्द्रियानर्थक्यम्। तस्मादप्रत्ययमिन्द्रियमिति। इन्द्रियस्य चेत्प्रत्ययः स्याद्यथा प्रत्ययवतोऽन्तःकरणस्याऽनियतविषयत्वम्, एवमस्यापि स्यात् न तु तदस्ति। तस्मादप्रत्ययमिन्द्रिमिति। किञ्च कालातिवृत्तिप्रसंगात्। इन्द्रियस्य चेत्प्रत्ययः स्याद्यथा प्रत्ययवतोऽन्तःकरणस्य त्रिकालविषयत्वमेवमस्यापि स्यात्। न तु तदस्ति। तस्मादप्रत्ययमिन्द्रिमिति। किञ्चान्यत् स्मृत्यदर्शनात्। इन्द्रियस्य चेत्प्रत्ययः स्याद्यथा प्रत्ययव-

तोऽन्तःकरणस्यादिरूपोपपत्तिरेवमत्रापि स्यात् । न तु तदस्ति । तस्मादप्रत्ययमिन्द्रियं सिद्धमिति । आह, भवतु तावदप्रत्ययमिन्द्रियम् । तत्तु ग्रहणरूपं न तु प्रकाशकं प्रदीपवदित्यत्र को हेतुरिति ? उच्यते—न, कारणान्तरप्रसंगात् । यदि प्रदीपवदिन्द्रियं प्रकाशकं स्यात्तेन यथा तत्प्रकाशितेषु घटादिष्वर्थेषु करणान्तरमार्गणमेवमत्रापि स्यात् । न चैतदिष्टम् । अतो न प्रदीपवदिन्द्रियं प्रकाशकमिति । अन्तःकरणसद्भावादयुक्तमिति चेत् स्यान्मतम्—अस्ति करणान्तरं बुद्धिलक्षणं यदिन्द्रियेण प्रदीपवत्प्रकाशितमर्थं गृह्णाति । तस्मात्परवादानुवादोऽयं क्रियते, न प्रतिषेध इति । तच्च नैवम् । कस्मात् ? प्रदीपेन्द्रिययोरन्यतरानुपादानप्रसंगात् । इन्द्रियमपि प्रकाशकम्; प्रदीपोऽपि । तत्रान्यतरस्यानुपादनं प्रसक्तम् । कस्मात् ? न ह्येकार्थकारिणो युगपत्करणे सामर्थ्यमस्तीति । किञ्चान्यत् । अन्तःकरणहानेः । इन्द्रियेण प्रदीपवत्प्रकाशितान्बाह्यानर्थान्साक्षादन्तःकरणं गृह्णातीति वदतोऽन्तःकरणमेव हीयते । तस्मादयुक्तमन्तःकरणस्य ग्रहणसामर्थ्यम् । पुरुषस्येति चेन्न करणानर्थक्यप्रसंगात् । साक्षाद्विषयग्रहणसमर्थं पुरुषमिच्छतः करणानर्थक्यं प्रसज्यते । तस्माद्युक्तमेतत् ग्राहकमिन्द्रियं न तु प्रदीपवत्प्रकाशकमिति । आह, भवतु तावद् ग्रहणमात्रमिन्द्रियवृत्तिरप्रत्यया । ग्रहणप्रत्ययप्रकाशानामिदानीं को भेदः ? उच्यते—विषयसम्पर्कात्ताद्रूप्यापत्तिरिन्द्रियवृत्तिग्रहणं, तथा विषयेन्द्रियवृत्त्यनुकारेण निश्चयो गौरयं शुक्लो धावतीत्येवमादिः प्रत्ययः । तथा विषयसम्पर्कापगमे श्रोत्रादिवृत्तेः ताद्रूप्यापगमो वर्तमानकालता, ग्रहणस्यानुभवात्तु संस्काराधानं तत्पूर्विका च स्मृतिरिति त्रिकालविषया प्रत्ययस्येत्ययमनयोर्विशेषः । बाह्यस्तु प्रकाशो न विषयरूपापन्नः । संस्कारात्तु घटादीनां व्यवधानरूपं पार्थिवं छायालक्षणं धर्ममपहृत्य व्यञ्जकत्वाय कल्पते, चक्षुषोऽनुग्रहाय । उभयोर्वा चक्षुर्विषययोरित्यपरे । तस्मादुपपन्नमेतत् प्रकाशकं प्रदीपादि, ग्राहकं श्रोत्रादि, व्यवसायकमन्तःकरणमिति ।

अथ कर्मेन्द्रियाणां का वृत्तिरित्युच्यते—नैयायिकास्त्वेवमाहुः—घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः (न्या० सू० १।१।१२) । भूतेभ्य इत्यनेन स्वविषयोपलब्धिलक्षणत्वं ह्येन्द्रियाणां भूतप्रकृतित्वे सति निर्धहति (?) नान्यथा । तानि पुनरिन्द्रियकारणानि पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि । एभ्यः पञ्चभ्यो यथासंख्यं घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्राणि पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति । भूतप्रकृतित्वमिति भूतस्वभावं व्याख्यायमानं पञ्चस्वपि सम्भवति । भूतकारणत्वं त्वन्येषु चतुर्षु तथैव । श्रोत्रे तु कथञ्चित्कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोभागाभिप्रायेण व्यवहारतः समर्थनीयम् । एवं भौतिकानीन्द्रियाणि स्वस्वविषयमधिगन्तुमुत्सहन्त इति तल्लक्षणत्वमेषां सिध्यतीति, अतो भूतेभ्य इत्युक्तम् । एतत्तु सांख्याचार्याणां नेष्टम् । एवं हि सांख्यवृद्धा आहुः—आहङ्कारिकाणीन्द्रियाणि अर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा । तथा हि कारकं कारकत्वादेव प्राप्यकारि भवति । भौतिकानि चेन्द्रियाणि कथं प्राप्यकारीणि दूरवर्तिनि विषये भवेयुः ? आहंकारिकाणां तु तेषां व्यापकत्वात् । विषयाकारपरिणामात्मिका वृत्तिर्वृत्तिमतोऽनन्या सती सम्भवत्येवेति

सुवचं प्राप्यकारित्वम् । अपि च महदणुग्रहणमाहङ्कारिकत्वे तेषां कल्पते, न भौतिकत्वे । भौतिकत्वे हि यत्परिमाणं करणं तत्परिमाणं ग्राह्यं गृह्णीयात् ।

आह, अथ कर्मेन्द्रियाणां का वृत्तिरिति ? उच्यते—

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थानां तु वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दलक्षणा यथाक्रमं वृत्तयः प्रत्यवगन्तव्याः । तत्रोच्यतेऽनेनेति वचनम् । तस्माद्य एवार्थप्रत्यायनसमर्थो वर्णसमुदायः पदवाक्यश्लोकग्रन्थलक्षणः स वागिन्द्रियस्यार्थो नाऽन्यः । आदीयतेऽनेनेत्यादानम् । आङभिविध्यर्थे प्रयुज्यते । ततश्च यदेव प्रक्षालनपरिमार्जनोपस्पर्शनाध्ययनप्रहरणशिल्पव्यायामादि कृत्स्नं ग्रहणं स इन्द्रियार्थो नान्यः । विशिष्टं हरणं विहरणम् । अतश्च यदेव समविषमनिम्नोन्नतचङ्क्रमणपरिवर्तननाट्यव्यायामादिः स इन्द्रियार्थो नान्यः । एवमुत्कृष्टः सर्ग उत्सर्गः । अतश्च य एवाऽशितपीतविपरिणामस्य सम्यक्स्रोतोमार्गानुसारिणो विसर्गः स इन्द्रियार्थो नान्यः । एवमभिव्याप्यानन्दनमानन्दः । ततश्च य एवाऽसाधारणप्रीतिर्निर्यनाभिनिष्पत्तिलक्षणः स इन्द्रियार्थो नान्यः ॥ २८ ॥

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

अन्वयः—त्रयस्य, स्वालक्षण्यम्, वृत्तिः, सा, एषा, (एषाम्), असामान्या, (वृत्तिः); प्राणाद्याः, पञ्च, वायवः, सामान्यकरणवृत्तिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—त्रयस्य=तीन अन्तःकरणों के (अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार एवं मन के), स्वालक्षण्यम्=अपने-अपने लक्षण, वृत्तिः=व्यापार हैं, सा=वह (अर्थात् लक्षणरूप), एषा=यह, (एषाम्=इन अन्तःकरणों के), असामान्या=विशिष्ट, वृत्तिः=व्यापार हैं); प्राणाद्याः=प्राण इत्यादि, पञ्च=पाँच, वायवः=वायु, सामान्यकरणवृत्तिः=सामान्यरूप से इन्द्रियों (करणों) के व्यापार हैं ॥ २९ ॥

अर्थः—बुद्धि, अहंकार तथा मन इन तीन अन्तःकरणों के अपने-अपने लक्षण ही व्यापार हैं । ये लक्षण ही इनके विशिष्ट व्यापार हैं । 'प्राण' इत्यादि पाँच वायु सामान्य रूप से तेरह इन्द्रियों के व्यापार हैं ॥ २९ ॥

त० प्र०—अधुना बुद्ध्यहंकारमनसां व्यापारः उच्यते—स्वालक्षण्यमिति । त्रयस्य अन्तःकरणस्य बुद्ध्यहंकारमनसामित्यर्थः स्वमसाधारणं लक्षणं येषां तानि स्वलक्षणानि बुद्ध्यहंकारमनांसि, तेषां भावः स्वालक्षण्यं तच्च स्वानि स्वानि लक्षणान्येव वृत्तिः व्यापारः निगद्यते । तत्र महतो व्यापारः अध्यवसायः, अहंकारस्य व्यापारः अभिमानः,

मनसो व्यापारः संकल्पः। त्रिविंशतिचतुर्विंशतिसप्तविंशतिकारिकासु क्रमशः 'अध्यवसायो बुद्धिः' 'अभिमानोऽहंकारः' 'मनः संकल्पकम्' इति बुद्ध्यहंकारमनसां यानि लक्षणानि कथितानि तान्येव तेषां व्यापाराः इति निर्गलितार्थः। सा स्वलक्षणरूपा पूर्वनिगदिता एषा अन्तःकरणानाम् असामान्या असाधारणी विशिष्टेति यावत् वृत्तिः व्यापारः। करणानां वृत्तिर्द्विविधा—असाधारणी साधारणी चेति। एतावत्पर्यन्तम् असाधारणीं वृत्तिमुक्त्वा साधारणीमाह-सामान्यकरणवृत्तिरिति। प्राणाद्याः प्राण-अपान-समान-उदान-व्यानाख्याः पञ्च वायवः सामान्यकरणवृत्तिः सामान्या साधारणी सम्मिलितेत्यर्थः सा चासौ करणानां त्रयोदशानामिन्द्रियाणां वृत्तिः व्यापारः। प्राणादीनां भावे एव इन्द्रियाणां व्यापारसामर्थ्यात् पञ्च वायवः तेषां सामान्या वृत्तिरिति निगद्यन्ते। यत्तु केचन 'सामान्यकरणवृत्ति'रिति पदे करणानामन्तःकरणानामित्यर्थं विधाय प्राणादीन् अन्तःकरणानामेव व्यापारं निगदन्ति तदसत् अग्रिमकारिकायामेकवचनान्तषष्ठ्यन्ततच्छब्दश्रवणात् तत्र तस्योभयविधेन्द्रियार्थत्वात् तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वाच्च। सर्वविधेन्द्रियाणामसामान्यव्यापारकथनानन्तरं सामान्यव्यापारस्यावसरप्राप्तत्वादपीदमेव तात्पर्यं गृह्यते इति दिक्। प्राणादीनां भेदः स्थानभेदादुक्तो ग्रन्थेषु यथा –

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिदेशगः।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥

इत्यास्तां विस्तरेणः॥ २९॥

टिप्पणी—स्वालक्षण्यं वृत्तिः– बुद्धि अहंकार एवं मन के जो लक्षण पीछे बतलाये गये हैं, वे ही उनके विशेष व्यापार हैं। बुद्धि का लक्षण है 'अध्यवसायो बुद्धिः'। इस प्रकार बुद्धि का विशेष व्यापार है– अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करना। इसी प्रकार अहंकार एवं मन के विषय में भी समझना चाहिये।

सामान्यकरणवृत्तिः—प्राण आदि पाँच वायु, तेरह इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार एवं मन) के समान रूप से व्यापार हैं। 'प्राण' आदि वायुओं के रहने पर ही सभी बाहरी तथा भीतरी करण (इन्द्रियाँ) अपना-अपना कार्य करते हैं। अतः ये वायु सबके समान रूप से व्यापार हैं। उदाहरण के रूप में कहा जा सकता है कि घड़ी के 'पेण्डुलम' का हिलना उसमें लगे सभी यन्त्रों का समान रूप से व्यापार है; क्योंकि 'पेण्डुलम' की गति बन्द हो जाने पर सभी यन्त्रों का कार्य रुक जाता है। इसी तरह 'प्राण' आदि वायु सभी इन्द्रियों के व्यापार हैं॥ २९॥

युक्ति॰—आह, प्रागन्तःकरणवृत्तिनिर्देशः, सर्गक्रमानुगमात्पूर्वं बुद्ध्यहंकारमनसां वृत्तिनिर्देशः कर्तव्यः। किं कारणम्? एवं हि सर्गक्रमोऽनुगतो भवति। क्रमभेदे वा प्रयोजनं वक्तव्यमिति। उच्यते—न, इन्द्रियवृत्तिपूर्वकत्वात्। अन्तःकरणस्य हि इन्द्रियवृत्ति-

पूर्वकः प्रत्ययः। तथा च वक्ष्यति—दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिरिति (का० ३०)। तस्मात्सर्गक्रमेण विना तन्निर्देशः प्रागाचार्येण क्रियते इति। आह, तदसम्भवः, शास्त्रे प्रागभिमानाभिधानात्। शास्त्रं ह्येवमाह—का नु भोः संज्ञा मातुरुदरेऽवस्थितं कुमारं प्रत्यभिनिर्विशत इति? अस्मीत्येषा माहात्मी संविदिति। तथा कार्यकारणव्यूहसमकालं माहात्म्यशरीरोऽस्मीति प्रतिबुद्ध्यते। प्रवृत्ताश्चैव ह्यव्यक्ता भवन्त्यस्मीत्यस्मितामात्राः। प्रमाणं च शास्त्रम्। तस्मात्प्रागन्तःकरणनिर्देशः कर्तव्यः। उच्यते—तन्निमित्तार्थेन विवक्षितत्वात्। सत्यमेतत् कार्यकारणव्यूहनिष्पत्तिसमकालमस्मीत्येषा माहात्मी संवित् प्रत्युपधीयते। शब्दादिविषयस्त्वन्तःकरणप्रत्ययः श्रोत्रादिनिमित्त इति। एतत्पूर्वशब्देन विवक्षितम्। न च निमित्तमतिक्रम्य नैमित्तिकाभिधानं न्याय्यम्।

अथवा नैव वयमिदं प्रष्टव्या यथा प्रागन्तःकरणवृत्तिनिर्देशः कर्तव्य इति। किं कारणम्? यस्मात्

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य

स्वलक्षणमेव स्वालक्षण्यम्। स्वार्थे तद्धितवृत्तिः, अन्यभावस्तु कालशब्दव्यवायादिति। यथा बुद्ध्यहंकारमनसां हि सौक्ष्म्यान्न शक्यं स्वरूपमभिधातुमित्यतो वृत्तिरेव लक्षणभावेनोपदिश्यते, श्रोत्रादीनामपि च सौक्ष्म्याल्लक्षणमपदेष्टुमशक्यमिति वृत्तिरेवोच्यते, न लक्षणम्। तदेव चैषां लक्षणं भवति। यच्छब्दालोचनसमर्थं तच्छ्रोत्रम्। एवमितरेष्वपि वक्तव्यम्। बुद्ध्यहंकारमनसां च लक्षणमध्यवसायाद्युक्तम्। तदेव वृत्तित्वेनाचक्षाणः श्रोत्रादीनामेव चाभिदधानं लक्षणं चाप्याचक्षाणो वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वं ज्ञापयति। अन्यथा तु यथाऽध्यवसायादि लक्षणमेवं रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रं लक्षणमित्युच्यते, न तु वृत्तिरिति। श्रोत्रादिवद् बुद्ध्यादीनामपि व्यवसायादयो वृत्तिरित्युच्यते, न तु लक्षणम्। तस्मादन्यथा निर्देशो ज्ञापकं वृत्तिवृत्तिमतोरन्यत्वस्येति व्याख्याता करणवृत्तिः।

सैषा भवत्यसामान्या।

सेति पूर्वकृतां वृत्तिमभिसम्बध्नाति। एषेति सर्वनाम्ना प्रत्याकृष्टां तामेव प्रत्यक्षं प्रति निर्दिशति। भवतीति वक्ष्यमाणेन धर्मान्तरेणास्यास्तद्वत्ताऽनुभावित्वं ख्यापयति। असामान्येति धर्ममाचष्टे। सामान्या साधारणेत्यर्थः। न सामान्याऽसामान्या। प्रतिकरणं नियतेत्युक्तं भवति। या हीयमनुक्रान्ता करणपर्णोऽध्यवसायादिका वृत्तिरियं व्यस्तानां करणानां प्रतिस्वं नियता। ततश्चैषां बुद्ध्यादीनां कार्यविशेषनिमित्तभावसंसूचितस्य स्वरूपस्यासंकरः सिद्धः।

आह, सामान्यविशेषयोरितरेतरापेक्षत्वादसामान्याभिधानेन सामान्यस्याप्यभिधानादध्यवसायादिका करणानामसामान्या वृत्तिरित्युक्तेऽर्थादापन्नमेषां सामान्यापि वृत्तिरस्तीति। तस्मादसावपि वक्तव्येति उच्यते—

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

सामान्या चासौ करणवृत्तिः सामान्यकरणवृत्तिः। प्राणश्चाद्यो येषां ते प्राणाद्याः, प्राणापानसमानोदानव्यानाः पञ्च समस्तकरणवृत्तिः प्रत्यवगन्तव्येति। तैः सर्वैः सहितः प्राण इति वेदान्तेष्वपि। आह, अयुक्तमेतत्। कस्मात्? धर्मिणो धर्म्यन्तरवृत्तिभावानुपपत्तेः। वृत्तिरित्ययं शब्दो व्यापारमाचष्टे। न च धर्मान्तरं धर्म्यन्तरस्य व्यापारो भवितुमर्हतीति। उच्यते—न, कार्ये कारणोपचारात्। सत्यमेतत्। धर्मी धर्म्यन्तरस्य वृत्तित्वेनाशक्यः परिकल्पयितुम्। किं तु सामान्यकरणवृत्त्या प्रेर्यमाणो वायुस्तत्प्रवणत्वात्तत्कार्यतां प्रतिपद्यते। तत्र प्राणादिकार्ये वायौ प्राणोपचारं कृत्वा एवमुच्यते—प्राणाद्या वायवः पञ्च। तत्प्रेरणाऽसिद्धेरयुक्तमिति चेत् स्यादेतत्, कथमेतदवगम्यतेऽर्थान्तरप्रेरितस्य वायोरियं क्रिया भवति न पुनः स्वतन्त्रस्येति? उच्यते—न स्वतः, तद्व्यतिरिक्तत्वाऽनुपपत्तेः। इहेयमकस्माद् भिन्ना क्रिया वायोः स्वतो वा स्यात्, करणवृत्तिव्यतिरिक्ताद्वा? किञ्चातः? तन्न तावत्स्वत उपपद्यते। कस्मात्? सर्वत्र प्रसंगात्। स्वाभाविके हि वायोर्दिक्संचारेऽभ्युपगम्यमाने सर्वत्र तत्संभवः स्यात्। ततश्च तिर्यक्पातादिवृत्तिर्हन्येत, न चान्यतः। कस्मात्? अदर्शनात्। न हि पृथिव्यादीनां वायुप्रेरणसामर्थ्यं क्वचिदुपलब्धम्। भस्त्रादिषु दृष्टमिति चेन्न, अन्यनिमित्तत्वात्। अत्राऽपि चैत्रव्यापार उपलभ्यते इत्यवश्यमन्यन्निमित्तमुपलभ्यते। इत्यभ्युपगन्तव्यम्। आत्मेति चेन्न, क्रियाप्रतिषेधात्। उपपादितमेतत्पूर्वमात्मा निष्क्रिय इति। न च निष्क्रियस्य प्रेरणमुपपद्यते। न च निर्निमित्ता स्वभावभेदानामनाकस्मिकत्वात्। तस्माद्यत्तन्निमित्तं सा समस्तकरणवृत्तिः। स चायं वायुरेक एव स्थानसंचारविशेषान्नानाख्यो भवति। यथैको देवदत्तः पाचको लावक इति क्वचित्। तदयुक्तम्। कस्मात्। युगपत्परस्परातिशयविरोधात्। पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो वायुर्बलीयानिति ह्यभ्युपगमः। तदेतदेकस्यैकस्मिन्काले नोपपद्यते। तस्मादुपपन्नं प्राणाद्या वायवः पञ्च।

किं पुनरेषां प्राणादीनां लक्षणमिति? उच्यते—द्विविधाः प्राणादयः। अन्तर्वृत्तयो बहिर्वृत्तयश्च। तत्र मुखनासिकाभ्यां प्रगमनात्प्रणतेश्च प्राणः। योऽयं मुखनासिकाभ्यां सञ्चरति सोऽन्तवृत्तिर्वायुः प्राण इत्यभिधीयते। या काचित्प्रणतिर्नाम भूतेषु तद्यथा प्रणतेयं सेना, प्रणतोऽयं वृक्षः, प्रणतोऽयं धर्मे, प्रणतोऽयमर्थे, प्रणतोऽयं कामे, प्रणतोऽयं विद्यायाम्। तद्विपरीतेषु वा बाह्यप्राणवृत्तिरेषा। प्राणिविषय एवैषा भवति। स खल्वयमत्राऽभिव्यक्तो भवति। तद्यथा महता वा दुःखेनाऽभिप्लुतस्य, महता वा बन्धुना वियुक्तस्य, सहितस्य वा सौरभेयस्य, निपानावतीर्णस्य वा महिषस्यावगतेः। अपक्रमणाच्चापानः। योऽयं रसं धातून् शुक्रं मूत्रं पुरीषं वातार्तवगर्भांश्चाकर्षन्नधोगच्छन्नयमन्तर्वृत्तिर्वायुरपान इत्यभिधीयते। यच्चापि किञ्चिदपक्रमणं नाम भूतेषु तद्यथा अपक्रान्तोऽयं धर्मादिभ्यस्तद्विपरीतेभ्यो वा इति बाह्या खल्वपानवृत्तिरेषा। अपानविषय एवैष भवति। बलवत्तरश्चायं प्राणाद्वायोः। कस्मात्? एषा ह्येतं प्राणमूर्ध्वं वर्तमानमर्वागेव सन्नियच्छति अर्वागेव सन्निरुणद्धि। एषो-

ऽत्राभिव्यक्तो भवति । तद्यथा उपकूपमुपश्वभ्रं वा परिवर्तमानस्या''''शतपदीं लङ्घयतः । हृद्यवस्थानात्सहभावाच्च समानः । यस्त्वयं प्राणापानयोर्मध्ये हृद्यवतिष्ठते स समानो वायुरन्तर्वृत्तिः । यश्चापि कश्चित्सहभावो नाम भूतेषु द्वन्द्वारामता । तद्यथा सह दास्ये, सह यक्ष्ये, सह तपश्चरिष्यामि, सह भार्यापुत्रैर्बन्धुभिः सुहृद्भिश्च वर्तिष्य इति बाह्या समान वृत्तिरेषा । समानविषय एवैष भवति । बलवत्तरः खल्वयं प्राणापानाभ्याम् । एष ह्येतौ प्राणापानौ ऊर्ध्वमवाक्च वर्तमानौ मध्य एव सन्नियच्छति, मध्य एव सन्निरुणद्धि, स चैषोऽत्राभिव्यक्तो भवति । तद्यथा स्रुतसारस्य वा सारमेयस्य, अनडुहो वोढभारस्य, धर्माभितप्ताया वा एडकाया अर्धार्धकायं शकशकेति । प्राणान्ते सर्वप्राणिनां प्राणापानावुत्सृज्योर्ध्वमधश्च मुक्तयोक्त्रौ हयाविव विषमं संचारयन् शरीरं स परास्यति । मूर्धारोहणादात्मोत्कर्षणाच्चोदानः । यस्त्वयं प्राणापानसमानानां स्थानान्यतिक्रम्य रसं धातूंश्चादाय मूर्धानमारोहति ततश्च प्रतिहतो निवृत्तः स्थानकरणानुप्रदानविशेषाद्वर्णपदवाक्यश्लोकग्रन्थलक्षणस्य शब्दस्याऽभिव्यक्तिनिमित्तं भवति अयमन्तवृत्तिर्वायुरुदान इत्युच्यते । यश्चापि कश्चिदात्मोत्कर्षो नाम भूतेषु तद्यथा हीनादस्मि श्रेयान्, सदृशेन वा सदृशः, सदृशादस्मि श्रेयान्, श्रेयसा वा सदृशः, श्रेयसो वा श्रेयान् । एतस्मिंस्तथा रूपाभिमानो वा प्राप्तविद्यस्तु । तद्यथा बह्वन्तरविशेषादल्पान्तरविशेषोऽस्म्यगुणवतो वा गुणवानस्मीति बाह्योदानवृत्तिरेषा । उदानविषय एवैष भवति । बलवत्तरः खल्वयं पूर्वेभ्यः । कथम् ? एष ह्येतान्प्राणादीनूर्ध्वमवाङ्मध्ये च वर्तमानानूर्ध्वमेवोन्नयति, ऊर्ध्वमेवोत्कर्षति । स चैषोऽत्राभिव्यक्तो भवति शीतोदकेन वा पर्युक्षितस्य प्रासमसिं विकोशं चोद्यतमभिपश्यतः । शरीरव्याप्तेरत्यन्ताविनाभावाच्च व्यानः । यस्त्वयमालोमनखाच्छरीरं व्याप्य रसादीनां धातूनां पृथिव्यादीनां व्यूहं मर्मणां च प्रस्पन्दनं प्राणादीनां च स्थितिं करोति सोऽन्तर्वृत्तिर्व्यानः । यश्चापि कश्चिदत्यन्ताऽविनाभावो नाम भूतेषु तद्यथा पतिव्रता भर्तारं मृतमप्यनुगच्छति भवान्तरेऽप्ययमेव भर्ता स्यात् तथा धर्मादिभिस्तद्विपरीतैश्चेति बाह्यो व्यानविषय एवैष प्रभवति । बलवत्तमश्चायं सर्वेभ्यः । कथम् ? अनेन हि व्याप्ते शरीरदण्डके तद्वशीकृतानां प्राणादीनां समा स्थितिर्भवति । एषोऽन्तकाले प्राणभृतामविनाभावेन वर्तमानोऽभिव्यज्यते । तद्यथा ह्य तर्हि पादौ हेमौ शीतीभूतौ गुल्फे जङ्घे ऊरू कटिरुदरमुरः— कण्ठेऽस्य घुरघुरो वर्तते ह्र (?) इत्येवैषो बाह्यो व्यान इति । एवमेते प्राणाद्याः स्थानकार्यविशेषसूचिताः पञ्च वायवो व्याख्याताः । तेषां प्रेरिका सामान्यकरणवृत्तिः । एषा च तन्त्रान्तरेषु प्रयत्न इत्युच्यते । स च धर्मादिसंस्कारभावनावशादनुपरतो जीवनम् । आह च—

वृत्तिरन्तः समस्तानां करणानां प्रदीपवत् ।
अप्रकाशा क्रियारूपा जीवनं कायधारिका ॥

सा यावदनिरुद्धा तु हन्ति वायुं रजोऽधिका ।
धर्माद्यनावृत्तिवशात्तावज्जीवति मानवः ॥

अत्र च सामान्यकरणवृत्तिग्रहणसामर्थ्यात्प्राणाद्याः पञ्च वायवः । बुद्धीन्द्रियाणि षष्ठम् । कर्मेन्द्रियाणि सप्तमम् । पूरष्टमम् । पूरित्यहंकारावस्थासंविदमधिकुरुते । यस्मादाह—तत्र

संविदहंकारगतं कार्यं कारणं पूरयति यस्मात् ।
तस्मात्पूरित्युक्ता प्रत्यवभासाऽष्टमं भोक्तुः ॥

सा चाहङ्कारगता संविद् बुद्धिगतैव पुरुषेणोपलभ्यते । यस्माद्वक्ष्यति—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ (का० ३६)
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ॥ (का० ३७)

तस्मात्सैव पूरिति । शास्त्रं चैवमाह—प्राणापानसमानोदानव्यानाः पञ्च वायवः । षष्ठं मनः । सप्तमी पूरष्टमी वाक् । वाग्ग्रहणेन कर्मेन्द्रियपर्वणो ग्रहणम् । मनोग्रहणेन बुद्धीन्द्रियपर्वणः । तदेतत्प्राणाष्टमं वैकारिकं गुणशरीरस्य परिद्रष्टुः क्षेत्रज्ञस्य शरीरमाददानस्य नित्यं स्तम्भस्थानीयं प्रत्यङ्गं भवति, अच्छेद्यमभेद्यमदाह्यमविनाश्यमविकम्प्यम् । अनित्यानि पुनर्भौतिकानि बाह्यानि शरीराणि कुशमृत्तिकास्थानीयानि उपचीयन्ते चेति ।

आह, कुतः पुनरियं प्राणादिवृत्तिः प्रवर्तत इति ? उच्यते—सा कर्मयोनिभ्यः ॥ महतः प्रच्युतं हि रजो विकृतम्, अण्डस्थानीयाः पञ्च कर्मयोनयो भवन्ति—धृतिः श्रद्धा सुखा विविदिषा अविविदिषेति । आह च

प्रच्युतो महतो यस्तु न प्राप्तो ज्ञानलक्षणम् ।
व्यापारो ज्ञानयोनित्वात्सा योनिः कुक्कुटाण्डवत् ॥

तासां लक्षणविषयसतत्त्वगुणसमन्वया भवन्ति । तत्र लक्षणं तावत् व्यवसायादप्रच्यवनं धृतिः । फलमनभिसन्धाय शास्त्रोक्तेषु कार्येष्ववश्यकर्तव्यताबीजभावः श्रद्धा । दृष्टानुश्रविकफलाभिलाषद्वारको हि बुद्धेराभोगः सुखा । वेत्तुमिच्छा विविदिषा । तन्निवृत्तिरविविदिषा । तत्र यदाऽयं जन्तुः शुभाशुभेषु कार्येषु वृत्त्यनुसारी जिज्ञासुरजिज्ञासुर्वा शरीरं परित्यजति तामेव कर्मयोनिमुपपद्यते । तस्यामुपपन्नस्तामेव भावयति । एतत्तावल्लक्षणसतत्त्वम् । आह च—

वाचि कर्मणि संकल्पे प्रतिज्ञां यो न रक्षति ।
तन्निष्ठस्तत्प्रतिज्ञश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥
अनसूया ब्रह्मचर्यं यजनं याजनं तपः ।
दानं प्रतिग्रहः शौचं श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥

सुखार्थी यस्तु सेवेत विद्यां कर्म तपांसि वा ।
प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखायां स तु वर्तते ॥
द्वित्वैकत्वपृथक्त्वं नित्यं चेतनमचेतनं सूक्ष्मम् ।
सत्कार्यमसत्कार्यं विविदिषितव्यं विविदिषायाः ॥
विषपीतसुप्तमत्तवदविविदिषा ध्यानिनां सदा योनिः ।
कार्यकरणक्षयकरी प्राकृतिका गतिः समाख्याता ॥

विषयसतत्त्वं पुनः सर्वविषयिणी धृतिः । आश्रमविषयिणी श्रद्धा । दृष्टानुश्रविकविषयिणी सुखा । व्यक्तविषयिणी विविदिषा । अव्यक्तविषयिण्यविविदिषा । गुणसमन्वयस्तु रजस्तमोबहुला धृतिः । सत्त्वरजोबहुला श्रद्धा । सत्त्वतमोबहुला सुखा । रजोबहुला विविदिषा । तमोबहुलाऽविविदिषा इति । उक्तञ्च—

लक्षणविषयसतत्त्वं त्रैगुण्यसमन्वयं च पञ्चानाम् ।
योनीनां यो विद्याद्यतिवृषभं तं त्वहं मन्ये ॥

इत्युक्ताः प्राणादयो योनयश्च । एतद् द्वयमधिगम्य सम्यङ्मार्गानुगमनं कुर्यात् । रजस्तमोधर्मादिसाधनभावविनिवृत्तितस्त्वत्र प्राणानामन्तर्वृत्तिरनुपाधिकत्वादनिवर्त्या । बहिर्वृत्तिस्तु मार्गामार्गविषयतया प्रयोक्तव्या । कथमित्युच्यते—प्राणविषया तावत्प्रणतिर्धर्मादिविषय एवापरोद्धव्या । ततो ह्यस्य सत्त्ववृद्धिः, सत्त्ववृद्धेश्चोत्तरोत्तरबुद्धिरूपाधिगमः । अपानविषयस्त्वपक्रमणं धर्मादिविषय एवापरोद्धव्यमेवं ह्यस्य ख्यातिविषयाऽऽकारकस्य तमसो निर्ह्रासः । ततश्चोत्तरोत्तरबुद्धिरूपाऽधिगमः । तथा समानविषयं साहचर्यं सत्त्वधर्मानुगुणं कुर्यात् । यस्माच्छास्त्रमाह-सत्त्वारामः सत्त्वमिथुनश्च सदा स्यादिति । आत्मोत्कर्षं तूदानविषयम् । अविद्यापर्वणोऽन्त्यं रूपं विवर्ज्य तत्प्रतिपक्षैर्निवर्तयेत् । अत्यन्ताऽविनाभावं च व्यानविषयं ज्ञानविषय एव भावयेत् । योनीनां चतसृणां धर्मता बीजतामेवादद्यात् । अविविदिषामपि अनिष्टफलहेतुषु भावयेत् । सोऽयं धर्मादिषु प्रवणस्तत्प्रतिपक्षापक्रान्तः सत्त्वारामो विनिवृत्ताभिमानो ज्ञाननिष्ठः सविशुद्धयोनिरचिरेण परं ब्रह्मोपपद्यत इति । आह च

बाह्यां प्राणविवृत्तिं सम्यङ्मार्गे बुधः प्रतिष्ठाप्य ।
विनिवृत्तविखरकलुषो ध्रुवममृतं स्थानमभ्येति ॥
पञ्चानां योनीनां धर्मादिनिमित्ततां च संस्थाप्य ।
परिपक्वमित्यधस्तान्न पुनस्तद्भावितो गच्छेत् ॥

इति व्याख्याता व्यस्तसमस्ता करणानां वृत्तिः ॥ २९ ॥

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥

अन्वयः—दृष्टे, तस्य, चतुष्टयस्य, वृत्तिः, तु, युगपत्, च, क्रमशः, निर्दिष्टा; तथा, अदृष्टे, अपि, त्रयस्य, तत्पूर्विका, (क्रमशः), वृत्तिः, (निर्दिष्टा) ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—दृष्टे=प्रत्यक्ष प्रदार्थ के विषय में, तस्य=उन, चतुष्टयस्य चारों का (एक बाह्य इन्द्रिय और मन, अहङ्कार एवं बुद्धि का), वृत्तिः-व्यापार, तु=तो, युगपत्=एक साथ, च=और, क्रमशः=बारी-बारी से, निर्दिष्टा कहा गया है। तथा= और, अदृष्टे=परोक्ष पदार्थ के विषय में, अपि=भी, त्रयस्य=तीनों अन्तःकरणों का, तत्पूर्विका=प्रत्यक्षपूर्वक, (क्रमशः=क्रम से), वृत्तिः=व्यापार, (निर्दिष्टा=निर्दिष्ट है) ॥३०॥

अर्थः—प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में उन चारों (एक बाह्य तथा तीन आन्तरिक) करणों का व्यापार कभी एक साथ और कभी बारी-बारी से (क्रमशः) होता है। और परोक्ष पदार्थ के विषय में भी तीनों अन्तःकरणों का प्रत्यक्षपूर्वक (क्रमशः) व्यापार होता है ॥ ३० ॥

त० प्र०—दृष्टे प्रत्यक्षविषये तस्य यथावसरं पूर्वनिर्दिष्टस्य चतुष्टयस्य एकैकबाह्येन्द्रियसम्बद्धस्य मनोऽहङ्कारमहत्तत्वस्य वृत्तिः व्यापारस्तु कदाचित् युगपत् एकदा एककालमित्यर्थः भवति; तथा हि घोरे अन्धकारे गच्छन् कश्चित् विद्युत्सम्पाते व्याघ्रमभिमुखमतिनिकटस्थं पश्यति, तदा खलु इन्द्रियेण आलोचनं मनसा संकल्पः अहङ्कारेण अभिमानः बुद्धया अध्यवसायः एतत्सर्वं युगपत् भवति, यतस्तस्मात् स्थानात् उत्प्लुत्य एकपदे अपसरति। तत्र एकस्मिन्नेव काले आलोचनसङ्कल्पाभिमानाध्यवसायाः क्रमं विहाय युगपद् भवन्ति। कदाचित् तेषां वृत्तिः व्यापार क्रमशः भवति; तथाहि—कश्चित् मन्दालोके प्रथमं किञ्चिद्वस्तुमात्रं पश्यति, पश्चात् निश्चिनोति 'गृहीतखड्गोऽयं चौरः' इति, अथ च 'मां प्रत्यागच्छति' इत्यभिमन्यते, 'अतः अस्मात् स्थानात् अपसरामि' इति अध्यवस्यति। अत्र आलोचनसंकल्पाभिमानाध्यवसायाः क्रमशः भवन्ति। यथा रूपे तथैव शब्दादिष्वपि बोद्धव्या तेषां क्रमशोऽक्रमशश्च वृत्तिः।

तथा अदृष्टे परोक्षविषयेऽपि त्रयस्य बुद्धयहङ्कारमनसामित्यर्थः बाह्येन्द्रियरहितस्यान्तःकरणस्येति यावत् तत्पूर्विका दृष्टपूर्विकाः क्रमशो वृत्तयः ज्ञेयाः। अनुमानागमस्मृतयो हि परोक्षे विषये प्रत्यक्षपूर्वाः प्रवर्तन्ते नान्यथा। अत्रेत्थं ज्ञेयम्—अनुमेये व्याप्तिज्ञानाय प्रत्यक्षापेक्षा, शब्दे च शक्तिग्रहाय प्रत्यक्षापेक्षा, स्मरणीये च संस्कारायाऽनुभवापेक्षा, इत्यनुमानादयो दर्शनपूर्वाः भवन्तीति। ये त्वत्र अपिशब्दबलाददृष्टेऽपि करणानां युगपद्वृत्तिं निगदन्ति तत्तु अनुभवविरोधान्न सङ्गच्छते। प्रत्यक्षविषये भयादिहेतूनां

पुरोवर्तमानत्वेन आलोचनसंकल्पाभिमानाध्यवसायानां क्रमस्याऽवसरो नास्ति। यत्र तु अवसरो भवति तत्र तेषां क्रमशः वृत्तिर्भवतीति। परोक्षे विषये भयादिहेतूनां अनुपस्थित्या न सम्भवति करणव्यापारेषु यौगपद्यम्। तत्र तु केवला क्रमशः वृत्तिरपेक्षिता भवतीति संक्षेपः ॥ ३० ॥

टिप्पणी—चतुष्टयस्य—आँख (चक्षु) जब किसी वस्तु या व्यक्ति को देखती है तब मन उसके विषय में संकल्प-विकल्प करता है, अहङ्कार अभिमान करता है और बुद्धि निश्चय करती है। इस प्रकार वस्तु या व्यक्ति के देखने से लेकर उसे ग्रहण करने या छोड़ने के निश्चय पर्यन्त चार करण (इन्द्रियाँ) कार्य करते हैं, जिनमें एक बाहरी इन्द्रिय—चक्षु होती है और तीन भीतरी। इस प्रकार चार करण (इन्द्रियाँ) मिलकर कार्य करते हैं। इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, रसना एवं त्वक् के साथ भी तीन भीतरी इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। यही 'चतुष्टयस्य' शब्द से कहा गया है।

युगपत्—यहाँ यह ध्यान रखना है कि एक बाहरी इन्द्रिय के साथ मिल कर कार्य करने वाले तीनों अन्तःकरणों का और उस बाहरी इन्द्रिय का व्यापार कभी-कभी एक साथ ही होता है। जैसे कोई व्यक्ति रात में बिजली के चमकने पर क्रुद्ध काले सर्प को अपने पास देखकर एक निमिष भर में कूद कर दूर भाग जाता है। वहाँ आँख (चक्षु) का काले साँप को देखना, मन का उसके विषय में 'यह काला साँप बड़ा भयङ्कर है' ऐसा संकल्प करना, अहङ्कार का 'यह मुझे डँसेगा' ऐसा अभिमान करना, तथा 'मुझे यहाँ से भाग जाना चाहिए' ऐसा बुद्धि का निश्चय करना, यह सब एक साथ ही होता है।

क्रमशः—ऊपर कही गयी चारों इन्द्रियों का व्यापार कभी-कभी क्रमशः भी होता है। साँप के दूर दिखलायी देने पर मन उसके विषय में संकल्प करता है, फिर दूसरे क्षण में अहङ्कार अभिमान करता है और फिर उसके दूसरे क्षण में बुद्धि वहाँ से चले जाने का निश्चय करती है। इस प्रकार यहाँ इन्द्रियों का क्रमशः व्यापार होता है।

तत्पूर्विका—'तत्पूर्विका' का अर्थ है—प्रत्यक्षपूर्वक। प्रत्यक्ष की गयी वस्तु का ही बाद में अनुमान तथा स्मरण होता है। कभी भी न देखी गई वस्तु का न तो अनुमान ही होता है और न प्रत्यक्ष ही। मन, अहङ्कार तथा बुद्धि पहले प्रत्यक्ष की गयी वस्तु के ही विषय में अपना-अपना व्यापार करते हैं। विशेष के लिये टीका द्रष्टव्य है ॥ ३० ॥

युक्ति०—आह, येयमेकैकस्मिन् रूपादावर्थे करणचतुष्टयस्य वृत्तिः सा किं युगपत् आहोस्वित् क्रमेणेति? कुतः संशय इति चेत्, उभयथा दृष्टत्वात्। इहैकार्थविषयाणां युगपदपि वृत्तिर्दृष्टा। तद्यथा चन्द्रमण्डले चक्षुषां मनसो वा। क्रमशश्च तद्यथा घटे मधूदकपयसाम्।

एकार्थविषयं च करणचतुष्टयम् । अतो नः संशयः किं चक्षुर्मनोवद्युगपदस्य वृत्तिः, आहोस्विन्मध्वादिवत्क्रमेणेति ? उच्यते—यथादर्शनमपि तावदुच्यताम् । किमत्र युक्तं भवान् मन्यते ? स चेत्सम्यगुपदेक्ष्यसि को निर्बन्धस्तदेव प्रतिपद्यामहे इति । यद्येवं तस्मादिदमस्मद्दर्शनम्

युगपच्चचतुष्टयस्य तु वृत्तिः

तुशब्दोऽवधारणार्थः । युगपदेवेत्यर्थः । बुद्ध्यहंकारमनसां हि बुद्धीन्द्रियाणां च समानदेशत्वम् । तत्र न शक्यत एतद्वक्तुं सति शक्तिसद्भावे विषयसम्बन्धे च कस्यचित्तत्र वृत्तिः कस्यचिन्नेति । किञ्चान्यत् मेघस्तनितादिषु क्रमानुपलब्धेः । यदि हि क्रमेण श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च बाह्येऽर्थे वृत्तिः स्यादपि तर्हि मेघस्तनितकृष्णसर्पालोचनादिष्वप्युपलभ्येत क्रमः । न तूपलभ्यते । तस्माद्युगपदेव बाह्येऽर्थे चतुष्टयवृत्तिरिति ।

उच्यते—यदुक्तं श्रोत्रादोनामन्त करणस्य चाऽभिन्नकालं वृत्तिरित्यत्र ब्रूमः, अयुक्तमेतत् । किं कारणम् ? यस्मादस्माकं

क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।

तस्येति चतुष्टयमपि सम्बध्यते । चशब्दोऽवधारणार्थः । क्रमश एवेत्यर्थः । क्रमश एव हि बाह्यान्तःकरणवृत्त्योरेकार्थनिपातः ।

यत्तूक्तं समानदेशानां शक्तिसम्बन्धसद्भावे वृत्त्यभावानुपपत्तिरिति, अत्र ब्रूमः चक्षुरादिवदेतत्स्यात् । तद्यथा चक्षुस्त्वचोः समानदेशत्वे शक्तिविषयसम्बन्धोपपत्तौ रजोधूमातपादिगतः स्पर्श एवोपलभ्यते, न रूपम् । एवमिहापि स्यात् । तस्मात्

दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे

क्रमश एव चतुष्टयस्य वृत्तिः । अदृष्टग्रहणेन पुनरत्रातीतानागतव्यवहितविषयग्रहणम् । तत्रातीतं द्विविधम्, दृष्टविषयमदृष्टविषयं च । अत्रापि दृष्टविषयं प्रत्यभिज्ञानमित्यभिप्रेतम्, अदृष्टविषया स्मृतिः । सा तु लिङ्गागमाभ्यामकस्माद्वा भवति । तथा च वृषगणवीरेणाप्युक्तंभवति................अनागतव्यवहितविषयज्ञानं तु लिङ्गागमाभ्याम् । आह, च

विषयेन्द्रियसंयोगात्प्रत्यक्षज्ञानमुच्यते ।
तदेवातीन्द्रियं जातं पुनर्भावनया स्मृतिः ॥
तदेव भावनापेक्षज्ञानं कालान्तरे पुनः ।
तत्रैव सेन्द्रियं जातं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते ॥

तत्र दृष्टे क्रमं प्रति नास्ति सन्देहः ।

यत्पुनरेतदुक्तं दृष्टे मेघस्तनितकृष्णसर्पालोचनादौ क्रमानुपलब्धेर्युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिरित्यत्र ब्रूमः एतदप्ययुक्तम् । किं कारणम् ? यस्मात्

त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

न तावत् बुद्ध्यहंकारमनसां साक्षाद् बाह्यार्थग्रहणसामर्थ्यमस्ति, अन्तःकरणानुपपत्तिप्रसंगात्, श्रोत्रादिवैयर्थ्यप्रसंगात्, द्वारिद्वारभावव्याघातप्रसङ्गाच्च। तस्मात्पूर्वं श्रोत्रादीनामर्थसम्बन्धोऽस्ति मेघस्तनितादावप्यवश्यमेतदभ्युपगन्तव्यम्। पश्चात्तु तद्वृत्त्युपनिपातादन्तःकरणस्येत्यस्ति क्रमोऽत्रापि। तत्र यदुक्तं मेघस्तनितादिषु क्रमाऽननुगते युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिरित्येतदयुक्तम्। अन्यैस्त्वन्यथाऽन्वयो दर्शितः। तद्यथा चतुष्टयस्येति मनोऽहंकारबुद्धीनामन्तःकरणानां बाह्येनैकेन करणेन श्रोत्रेण वा चक्षुषा वा सह चतुष्टयस्येत्यर्थः। अस्य दृष्टे वर्तमाने युगपद्वृत्तिः पूर्वाचार्यैर्निर्दिष्टा। आचार्येण तु क्रमेणेत्यर्थः। अदृष्टेऽतीतादावपि क्रमशश्च क्रमेणैव, यतस्त्रयस्यान्तःकरणस्य तत्पूर्विका बाह्येन्द्रियपूर्विका वृत्तिः। यदा यथाऽनुभवस्तथा संस्कारः, यथा च संस्कारस्तथा स्मृतिरित्येवं वृत्तिर्बाह्येन्द्रियपूर्विकेति ॥ ३० ॥

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—(करणानि), परस्पराकूतहेतुकाम्, स्वाम्, स्वाम्, वृत्तिम्, प्रतिपद्यन्ते; (करणानाम्, वृत्तिशीलतायाम्), पुरुषार्थः, एव, हेतुः (अस्ति); करणम्, केनचित्, न, कार्यते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—(करणानि=इन्द्रियाँ), परस्पराकूतहेतुकाम् = पारस्परिक अभिप्राय या संकेत (अर्थात् एक दूसरे की स्व-स्व कार्योन्मुखता) रूप कारणवाले, स्वाम्=अपने, स्वाम्=अपने, वृत्तिम्=व्यापार को, प्रतिपद्यन्ते=करती हैं। (करणानाम्=इन्द्रियों की, व्यापारशीलतायाम्=व्यापारशीलता में), पुरुषार्थः = (भोग एवं मोक्ष रूप) पुरुषार्थ, एव=ही, हेतुः=कारण, (अस्ति=है)। करणम्=इन्द्रिय (अर्थात् इन्द्रिय-समूह), केनचित्=किसी (ईश्वर या आत्मा) के द्वारा, न=नहीं, कार्यते=कार्य करने के लिये प्रेरित किया जाता है ॥ ३१ ॥

अर्थः– (ये इन्द्रियाँ) पारस्परिक अभिप्राय या संकेत (अर्थात् एक दूसरे की स्व स्व कार्योन्मुखता) रूप कारणवाले अपने अपने व्यापार को करती हैं (अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियों के अभिप्राय यानी कार्योन्मुखता को जान कर ही अपने व्यापार में लगती है)। (इन्द्रियों की इस व्यापारशीलता में भोग एवं अपवर्ग रूप) पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण है। इन्द्रियों का समूह किसी अन्य (ईश्वर या आत्मा इत्यादि) के द्वारा कार्य करने के लिये प्रेरित नहीं किया जाता है ॥ ३१ ॥

त० प्र०—करणानीति शेषः। परस्परमन्योन्यमाकूतमभिप्रायः, स चाचेतनानां

बाधितः इत्याकूतमत्र कार्योन्मुखत्वमेव, हेतुरेव हेतुकः कारणं यस्यां ताम्, 'स्वां स्वामि'ति वीप्सा, स्वकीयामित्यर्थः, वृत्तिं व्यापारं प्रतिपद्यन्ते प्राप्नुवन्ति, न परकीयां वृत्तिमिति भावः। यथा हि शाक्तीकयाष्टीककार्पाणिकाः कृतसंकेताः अनेके पुरुषाः परावस्कन्दनाय प्रवृत्ताः, तत्र एकस्याभिप्रायमवगम्य अन्यः प्रवर्तते, प्रवर्तमानस्तु शाक्तीकः शक्तिमेव गृह्णाति, न तु यष्ट्यादिकम्, एवं याष्टीकोऽपि यष्टिमेव, न शक्त्यादिकम्। एवमेव एकस्य करणस्य आकूतात् कार्योन्मुखत्वादन्यतमं करणं प्रवर्तते। इत्थं न कदाचिदपि वृत्तिसंकराशङ्का।

ननु पुरुषास्तु चेतना। ते तथा कर्तुं प्रभवन्ति। किन्त्वचेतनानि करणानि कथं स्वयं प्रवर्तन्ते ? अवश्यमेव तेषां केनचिदधिष्ठात्रा भवितव्यमिति शङ्कानिरासायोच्यते—पुरुषार्थ एवेति। करणानां वृत्तिशीलतायां भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः एव हेतुः प्रेरक· कारणमित्यर्थः। करणं पुरुषार्थादन्येन केनचित् ईश्वरेण पुरुषेण वा न कार्यते न प्रेर्यते। सांख्यनये सत्कार्यवादसिद्धान्तः स्वीक्रियते। अतः भाविनौ अपि भोगापवर्गौ अनिर्भिन्नतया गुणेषु तिष्ठतः। अतः अनिर्भिन्नौ अपि प्रकृतिगतौ तावेव प्रेरकौ। गुणानां प्रवृत्तिः आ भोगापवर्गान्तमेव। निर्वर्तितभोगापवर्गास्ते समाप्तकृत्याः निवर्तन्ते इति दिक् ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—परस्पराकूतहेतुकाम्—जैसे टैंक, बंदूक एवं हथगोला इत्यादि धारण करनेवाले एक देश के सैनिक आपस में सङ्केत करके शत्रु की सेना का दमन करने के लिये एक स्थान पर छिपे रहते हैं, और शत्रु की सेना के सामने आते ही, आपस में एक-दूसरे का अभिप्राय जानकर धावा बोलदेते हैं। उस समय टैंक चलाने वाला टैंक ही लेता है, बंदूक आदि नहीं, बंदूक चलाने वाला बंदूक ही लेता है, हथगोला आदि नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक करण के अभिप्राय अर्थात् अपने कार्य की ओर लगने में प्रवृत्त होने से दूसरे करण भी अपने कार्य में संलग्न होते हैं। विशेष के लिये देखिये—टीका ॥ ३१ ॥

युक्ति०—आह, किं पुनरेषां करणानां स्वविषयनियमेन वृत्तिर्भवति आहोस्विद्व्यतिकरेणेति ? उच्यते—ननु च प्रागेव 'रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः' (का० २८) इति चोक्त्वाऽऽचार्येणान्तेऽपदिष्टं 'सैषा भवत्यसामान्या' (का० २९) इति। तत्रैवं गते भवतः संशयः। कुतः इत्युच्यते—सत्यमेवैतत्। तथापि जायते संशयः। कुतः ? करणान्तरेण स्वविषयोपलब्धौ करणान्तरौत्सुक्यदर्शनात्। इह करणान्तरेण चक्षुषाऽऽम्रदाडिमादिरूपोपलब्धौ सत्यां करणान्तरस्य जिह्वालक्षणस्यौत्सुक्यं प्रवृत्तिश्चोपलब्धा। तद्यदि स्वविषयनियतानीन्द्रियाणि, नैषां करणान्तरविषयोपलम्भात्तत्साहचर्यापेक्षः स्वविषयग्रहणभावः स्यात्। अस्ति च। तस्मादुपपन्नः संशयः। तत्रेदानीं भवतः का प्रतिपत्तिरित्युच्यते अत्रापि नास्तीन्द्रियाणां स्वविषयग्रहणव्यतिकरः। किं तर्हि—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकीं वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

यस्य करणस्य या वृत्तिरुपदिष्टा तद्यथा श्रोत्रस्य शब्दग्रहणम्, चक्षुषो रूपग्रहणम् इत्यादि, तामेव प्रतिपद्यन्ते – स्वविषयजिघृक्षयाऽवलम्बन्त इत्यर्थः। परस्परस्याकूतं परस्पराकूतम्। आकूतमभिप्रायोऽभिसन्धिरित्यर्थः। परस्पराकूतं हेतुः प्रतिपत्तेरस्याः, सेयं परस्पराकूतहेतुकी। परस्पराकूतं प्रतिपत्तेः कारणमिति कृत्वा ताच्छब्द्यं लभते। तद्यथा दधित्रपुसं[1] ज्वरः। एतदुक्तं भवति यदा चक्षुषाऽऽम्रदाडिमादिरूपमुपलब्धं भवति तदा रसनेन्द्रियमुपात्तविषयस्य चक्षुषो वृत्तिं संवेद्य स्वविषयजिघृक्षयौत्सुक्यवद्विकारमापद्यते, रसनस्य वृत्तिं संवेद्य पादौ विहरणमारभेते हस्तावादानं, तावद्यावदसौ विषयो रसनेन्द्रिययोग्यतां नीतः। ततो रसनं स्वविषये प्रवर्तते। एवमितरेष्वपि वक्तव्यम्। आह, यद्येवं तेन तर्हीन्द्रियान्तरवृत्तिसंवेदनेऽक्षप्रत्ययवत्त्वप्रसंगः। यदि तर्हीन्द्रियान्तरेणेन्द्रियान्तरस्य वृत्तिः संवेद्यते, प्राप्तमस्य प्रत्ययवत्त्वम्। अथाऽप्रत्ययमिन्द्रियं परस्पराकूतसंवेदनं, तर्हि न वाच्यमिति। किञ्च परस्परद्वारिद्वारभावप्रसंगश्च। इन्द्रियान्तरं चेदिन्द्रियान्तरस्य वृत्तिं संवेद्य स्वार्थमाकांक्षेत्, प्राप्तमस्य द्वारित्वमितरस्य च द्वारत्वम्। तदयुक्तमिन्द्रियाणां परस्पराकूतसंवेदनमिति। उच्यते—न, उपचारात्। प्रागेवोपदिष्टमस्माभिरप्रत्ययमिन्द्रियमिति। किं तर्हि स्वविषयस्य पटोः सहचारिणमर्थमिन्द्रियान्तरविषयतामापन्नं संस्पृश्य स्वभावत इन्द्रियान्तरं स्वविषयं प्रति साकांक्षं भवति, तत्सन्निधौ विक्रियादर्शनात्। तत्र संवेदनमुपचर्यैवमुच्यते इत्यदोषः। किञ्चान्यत्। भौतिकावयवप्रत्ययविवृत्तिवत्तद्विवृत्तेः। यथा बुद्धेः प्रसादसमनन्तरं भौतिकानामवयवानां मुखनयनादीनां प्रसादो भवति, न चैषां प्रत्ययवत्त्वम्, एवमिहापि स्यात्। न च प्रत्ययवत्त्वम्। एतेन द्वारिद्वारभावः प्रत्युक्तः। मनोऽधिष्ठानसामर्थ्याद्वा। अथवा परस्परविषयमाकूतं परस्पराकूतम्, यथा जलविषयः पुरुषः जलपुरुषः। आकूतमिच्छा संकल्पः मन इत्यर्थः। स हेतुरस्याः सेयं परस्पराकूतहेतुकी ताम्। एतदुक्तं भवति, यदा किञ्चिदिन्द्रियं विषये प्रवृत्तं भवति तदा तद्द्वारेण समस्तमर्थमुपलभ्य तत्सहचारिणमर्थान्तरमाकांक्षदिन्द्रियान्तरं वृत्त्या प्रतितिष्ठते। तेनाकांक्षावता मनसाऽधिष्ठितमिन्द्रियं विक्रियामापद्यते। तथा च तन्त्रान्तरेऽप्युक्तं—"यस्य यस्येन्द्रियस्य विषयं मनो ध्यायत्यभिसम्पत्त्यर्थेन तस्य तस्यौत्सुक्यं प्रवृत्तिश्च भवतीति।" एतदुक्तं स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकीं वृत्तिमिति। किमिन्द्रियं मनोवृत्त्याधिष्ठाय स्वविषये प्रवर्तयति यथा परश्वादींश्चैत्र इति? नेत्युच्यते। किं तर्हि स्वविषयसंकल्पानुगृहीतस्य मनसः संस्पर्शात्स्वयमेवेन्द्रियं स्वविषयं प्रतिपद्यते। कस्मात्? प्रयोगशक्त्यसिद्धेः। न हि यथा चैत्रस्य परश्वादिप्रयोगशक्तिः सिद्धा एवं मनस इन्द्रियप्रयोगशक्तिः। तस्मादयुक्तमिन्द्रियस्य मनः प्रेरकमिति। रज इति चेत्स्यान्मतम्,

१—'दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः' म० भ० १।१।५६ ॥

रजसो ह्यीन्द्रियान्तरप्रयोगसामर्थ्यं विद्यते। तस्मादयुक्तमुक्तं प्रयोगशक्त्यसिद्धेर्नेन्द्रियाणां मनः प्रयोजकमिति। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? अविशेषात्। इन्द्रियान्तरेऽपि हि तर्हि रजोऽस्तीत्यत आत्मभूतेनैवास्य निमित्तेन प्रवृत्तिरप्रतिषिद्धा, किं मनसा परिकल्पितेनेति? किञ्चान्यत्, करणान्तरानुपपत्तेः। चैत्रो हि परश्वादीनां प्रयोगं करणान्तरेण करोति। न तु मनसः करणान्तरमस्तीत्यसमानम्। पाणिवदिति चेन्न, चैत्रव्यापारापेक्षत्वात्। तदपि हि चैत्रव्यापारापेक्षं प्रवर्तते न स्वतः। किञ्च तद्व्यतिरेकेण प्रवृत्त्युपलब्धेः। यस्य हि प्रयोजकान्तरापेक्षा प्रवृत्तिः न तस्य कदाचिदपि स्वतन्त्रस्य भवति। अस्ति तु संकल्पव्यतिरेकेण मेघस्तनितादिष्वन्द्रियस्य प्रवृत्तिः। तस्मान्नेन्द्रियान्तरस्य मनः कारकम्। न चेत्कारकं यथा मौलानां गुणानामेवमिहापि पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणमिति सिद्धम्॥ ३१॥

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।
कार्यञ्च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च॥ ३२॥

अन्वयः—करणम्, त्रयोदशविधम्, (अस्ति); तत्, आहरणधारणप्रकाशकरम्, (भवति); तस्य, आहार्यम्, धार्यम्, प्रकाश्यम्, च, कार्यम्, दशधा, (भवति)॥ ३२॥

शब्दार्थः—करणम्=इन्द्रिय, त्रयोदशविधम्=तेरह तरह का, (अस्ति=है), तत्=वह, आहरण-धारण-प्रकाशकरम्=आदान, धारण तथा प्रकाश करनेवाला, (भवति=होता है); तस्य=उसका, आहार्यम्=आदेय, धार्यम्=धारण किया जानेवाला, प्रकाश्यम्=प्रकाशित होने वाला, कार्यम्=कार्य, दशधा दशप्रकार का, (भवति=होता है)॥ ३२॥

अर्थः—करण तेरह प्रकार के हैं। वे आदान, धारण तथा प्रकाश करने वाले हैं। उनका आदेय, धारण किया जाने वाला और प्रकाशित होने वाला—प्रत्येक कार्य दश प्रकार का होता है॥ ३२॥

त० प्र०—पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि, मनो बुद्धिरहङ्कारश्चेति करणं त्रयोदशविधं त्रयोदशप्रकारमस्ति। तत् किं करोतीत्येतदाह—तदाहरणधारणप्रकाशकरम्—तत्र कर्मेन्द्रियाणि आहरणं कुर्वन्ति स्वव्यापारेण विषयान् व्याप्नुवन्तीत्यर्थः। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि धारणं, बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशं कुर्वन्ति। बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितमर्थमन्तःकरणानि धारयन्तीति भावः। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि प्राणादिलक्षणया स्ववृत्या शरीरं धारयन्तीति व्याख्यानं तु "सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" इति कारिकार्थविरोधादश्रद्धेयम्। कतिविधं कार्यं तस्येति तदुच्यते—

'कार्यञ्च तस्य दशधा'—तस्य त्रयोदशविधस्य करणस्य आहार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्चेति

त्रिविधं कार्यं दशधा दशप्रकारम्। आहार्यमत्र व्याप्यम्। कर्मेन्द्रियाणां वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः यथायथं व्याप्याः, ते च दिव्यादिव्यतया दशेत्याहार्यं दशधा। बुद्धीन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा यथायथं व्याप्याः, ते च दिव्यादिव्यतया दशेत्याहार्यं दशधा। बुद्धीन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा यथायथं व्याप्याः, ते च दिव्यादिव्यतया दशेति प्रकाश्यमपि दशधेति। बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितान् दिव्यादिव्यदशप्रकारान् अर्थान् अन्तःकरणानि धार्यन्ते इति धार्यमपि दशधेति। यद्यपि प्रकाशितानर्थान बुद्धिरेव धारयति तथापि तत्सन्निधानादन्ययोरन्तःकरणयोरपि धार्यत्वेन सः अर्थः उपचर्यते इति ज्ञेयम्॥ ३२॥

टिप्पणी—कार्यञ्च तस्य दशधेति—वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने जिन विषयों का आहरण या ग्रहण करती हैं अर्थात् अपने-अपने व्यापार या कार्य से उन्हें व्याप्त करती हैं वे आहार्य कहे जाने वाले कार्य दिव्य (देवभोग्य अर्थात् सूक्ष्म) एवं अदिव्य (अर्थात् मानव भोग्य=स्थूल) भेद से दश प्रकार के होते हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों के प्रत्येक के दिव्य तथा अदिव्य भेद से दो-दो प्रकार के विषय होते हैं। इस प्रकार आहार्य दश प्रकार के हुए।

चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ दिव्य एवं अदिव्य विषयों को प्रकाशित करती हैं। इस प्रकार प्रकाश्य भी दश प्रकार के हुए।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रकाशित विषयों को अन्तःकरण धारण करते हैं। वे प्रकाशित विषय दश प्रकार के होते हैं। इस प्रकार धार्य भी दश प्रकार के हुए।

विशेष जानकारी के लिये टीका अवश्य देखें॥ ३२॥

युक्ति०—आह, करणं प्रत्याचार्यविप्रतिपत्तेः तदवधारणं कर्तव्यम्। इत्याचार्याणां करणं प्रति विप्रतिपत्तिः। एकादशविधमिति वार्षगणाः। दशविधमिति तान्त्रिकाः पञ्चाधिकरणप्रभृतयः। द्वादशविधमिति पतञ्जलिः। तस्माद् भवतः कतिविधं करणमभिप्रेतमिति वक्तव्यमेतत्। उच्यते—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।

पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि मनोऽहङ्कारो बुद्धिश्चेत्येतत्सर्वं पुरुषार्थोपयोगि करणम्। कस्मात्? अपुरुषार्थोपयोगित्वे तत्त्वान्तरानुपपत्तिप्रसंगात्। यदि यथा वार्षगणा आहुः— लिङ्गमात्रे महानसंवेद्यः कार्यकारणरूपेण विशिष्टाविशिष्टलक्षणेन, तथा स्यात्तत्त्वान्तरम्। तन्न स्यात्, अनर्थकत्वात्। आह, सत्यम्, प्रधानलक्षणानां गुणानां वैषम्यमात्ररूपत्वेऽपि तत्त्वान्तरमसौ भविष्यतीति। कस्मात्? साम्याद्वैषम्यमुपाख्यान्तरमिति। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? तत्त्वानवस्थाप्रसंगात्। एवं हि परिकल्प्यमाने प्रधानमहतोर्यदन्तरालं तत्त्वान्तराणां तदपि च क्रियारूपत्वादक्रियावत उपाख्यान्तरमिति तत्त्वान्तराऽनवस्थाप्रसंगः। अभ्युपगमे वा महतस्तत्त्वान्तराणां च क्रियाकालविरोधः।

तस्मात्तत्त्वान्तराऽनुपपत्तिरनवस्था वा, त्रयोदशविधं करणमित्यन्यतरवदवश्यमभ्युपगन्तव्यम्ँ। तत्र चाऽस्मत्प्रतिज्ञातमेव निर्दोषं लक्ष्यते। तस्मादुपपन्नमेतत् त्रयोदशविधं करणमिति।

आह, करणमिति क्रियाकारकसम्बन्धगर्भोऽयं निर्देशः। कथम्? येन तत्करणमिति। तत्र वक्तव्यं का क्रिया, किञ्च तत्क्रियते यदपेक्ष्य बुद्धयादीनां करणत्वमिति? उच्यते—यदुक्तं का क्रियेत्यत्र ब्रूमः—तन्निर्वर्तकमिहाभिप्रेतं न दण्डादिवत्, किं तर्हि तदाहरणधारणप्रकाशकरम्। तत्राऽऽहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, विषयार्जनसमर्थत्वात्। धारणं बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति, विषयसन्निधाने सति श्रोत्रादिवृत्तेस्तद्रूपापत्तेः। प्रकाशमन्तःकरणं करोति, निश्चयसामर्थ्यात्। अपर आह आहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति। धारणं मनोऽहंकारश्च। प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्चेति। एतदभिसन्धाय बुद्धयादीनां करणत्वमुच्यत इति।

यत्तूक्तं किं कार्यमिति, उच्यते—

कार्यं च तस्य दशधा

दशधेति पञ्च विशेषाः पञ्चाऽविशेषाः। तदप्यत एव कार्यशब्दं लभते—

आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ ३२ ॥

तद्धयाहर्तव्यं धारणीयं प्रकाशयितव्यञ्च। अतः कार्यमित्युच्यते, न निर्वर्त्यत्वात् ॥ ३२ ॥

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः— अन्तःकरणम्, त्रिविधम्, (अस्ति); त्रयस्य, विषयाख्यम्, बाह्यम्, (करणम्), दशधा, (अस्ति); बाह्यम्, करणम्, साम्प्रतकालम्, (भवति, किन्तु), आभ्यन्तरम्, करणम्, त्रिकालम्, (अस्ति) ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः— अन्तःकरणम्=अन्तःकरण, त्रिविधम्=तीन प्रकार का, (अस्ति=है); त्रयस्य त्रिविध अन्तःकरण के, विषयाख्यम्=विषय को प्रदान करनेवाला, बाह्यम्=बाहरी, (करणम्=इन्द्रिय), दशधा=दश प्रकार का, (अस्ति=है); बाह्यम्=बाहरी, करणम्=इन्द्रिय साम्प्रतकालम्=वर्तमान काल में ही विषय ग्रहण करनेवाला, (भवति=होता है किन्तु=किन्तु); आभ्यन्तरम् भीतरी, करणम्=करण, त्रिकालम्=तीनों काल के विषयों को ग्रहण करने वाला, (अस्ति=है) ॥३३॥

अर्थः अन्तःकरण तीन प्रकार का है। तीनों अन्तःकरणों के विषय को प्रदान करनेवाला बाहरी करण दस प्रकार का है। बाहरी करण वर्तमान काल में ही विषय ग्रहण करनेवाला होता है। किन्तु भीतरी करण (अन्तःकरण) तीनों काल के विषयों को ग्रहण करने वाला अर्थात् अपने व्यापार का विषय बनानेवाला है ॥ ३३ ॥

त० प्र०—बुद्ध्यहंकारमनोभेदेन अन्तःकरणमान्तरेन्द्रियं त्रिविधं त्रिप्रकारमस्ति। शरीराभ्यन्तरवर्तित्वाद् बुद्ध्यदयः अन्तःकरणम्। त्रयस्य त्रिसंख्याकस्य अन्तःकरणस्य विषयाख्यं-विषयं व्यापारमाख्याति जनयति प्रददातीति विषयाख्यं विषयप्रदमित्यर्थः बाह्यं करणं दशधा—बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, दशप्रकारमेतत्करणं बाह्यमस्ति। बाह्यं करणं साम्प्रतकालं वर्तमानकालं भवति—श्रोत्रं वर्त्तमानमेव शब्दं शृणोति नातीतं न च भविष्यन्तम्। चक्षुरपि वर्त्तमानं रूपं पश्यति नातीतं नानागतम्। त्वक् वर्तमानमेव स्पर्शं गृह्णाति। जिह्वा वर्तमानमेव रसम्। नासिका वर्तमानमेव गन्धम्। एवं कर्मेन्द्रियाणि—वाक् वर्तमानमेव शब्दमुच्चारयति नातीतं नानागतम्। पाणी वर्तमानमेव घटमाददाते न भूतं न च भाविनम्। पादौ वर्त्तमानं पन्थानं विहरतो नातीतं नाप्यनागतम्। पायूपस्थौ च वर्त्तमानौ एव उत्सर्गानन्दौ कुरुतः। एवं बाह्यं करणं साम्प्रतकालं कथितम्। त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्—बुद्ध्यहंकारमनांसि त्रिकालविषयाणि—बुद्धिर्वर्तमानं घटं बुध्यते, अतीतमनागतञ्चापि। अहङ्कारो वर्त्तमानेऽभिमानं करोति व्यतीते भाविनि चापि। एवमेव मनो वर्त्तमाने विषये संकल्पं कुरुते, अतीतेऽनागते चापि। एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति॥ ३३॥

टिप्पणी—साम्प्रतकालम्—कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ वर्तमान काल के ही कार्य या पदार्थ को अपना विषय बनाती हैं, भूत तथा भावी कार्य या पदार्थ को नहीं। किन्तु मन, बुद्धि एवं अहङ्कार तीनों कालों की वस्तुओं को अपने संकल्प अभिमान तथा निश्चय का विषय बनाते हैं॥ ३३॥

युक्ति०—एतस्मिंस्त्रयोदशविधे तु करणे त्रयोदशं कतरदिति? उच्यते—बुद्धिरहंकारो मनश्च। तस्मात्—

अन्तःकरणं त्रिविधम्

कस्मात्? विषयाऽनभिसन्धानात्। श्रोत्रादिप्रणालिकया च विषयसंप्रतिपत्तेः। अविशेषाऽभिधानाद् बुद्ध्यादिप्रतिपत्तिरयुक्तेति चेत्स्यान्मतम्, अविशेषेणेदमुक्तमाचार्येण अन्तःकरणं त्रिविधमिति। तत्र कथमिदमवगम्यते बुद्ध्यहंकारमनसां ग्रहणमिहाभिप्रेतं, न पुनरन्येषामिति? उच्यते—न, प्रथमसंख्याव्यतिक्रमहेत्वनुपपत्तेः। बुद्ध्यादिसंख्यां हि व्यतिक्रममाणस्य प्रतिपत्तौ नास्ति हेतुः। तस्मात्तेषामेव ग्रहणम्। यथा वसन्ताय कपिञ्जलानालभत इति। श्रोत्रस्यान्तःकरणत्वप्रसंगादयुक्तमिति चेत् स्यादेतत्—बुद्धिमहंकारं चोक्त्वा तत आह 'बुद्धीन्द्रियाणि कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि' (का० २६) इति। तस्माच्छ्रोत्रमन्तःकरणं प्रसज्यत इति। एतदनुपपन्नम्। कस्मात्? मनसः पृथगभिधानात्। अत एवेदमाचार्येणापेक्ष्य मनसोऽन्तःकरणत्वं पृथगुक्तम्—'तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्, अन्तस्त्रिकालविषयम्' (का० २७) इति। तस्मादुपपन्नमन्तःकरणं त्रिविधं बुद्ध्यादीति।

दशधा बाह्यम्

पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणीत्येतद् बाह्यं दशप्रकारमाचार्यैराख्यायते। आह, दशधा बाह्यमित्यस्यानर्थक्यम्, परिशेषबुद्धेः। अन्तःकरणं त्रिविधमित्युक्ते गम्यत एतत्परिशेषादेव दशधा बाह्यमिति। तस्मात्तद्ग्रहणमनर्थकमिति। उच्यते—न, विषयार्थत्वात्। त्रयस्य विषयाख्यमित्येवं वक्ष्यामीत्याचार्य आरभते। अक्रियमाणे त्वस्मिन् किन्तत् त्रयस्य विषयाख्यमिति न ज्ञायते। आह, एवमपि त्रिषयग्रहणात्सिद्धेर्बाह्यग्रहणमपार्थकमिति। उच्यते—वक्तव्यं तावदिदमवश्यं विषयभावप्रतिपत्त्यर्थम्। तत्र शेषे वा यथान्यासं वोच्यमाने न कश्चिद्विशेषः। अथवा नेदं बाह्यसंज्ञाप्रतिपत्त्यर्थमारभ्यते, किं तर्हि नियमार्थम्। कथम्? दशधा बाह्यं शब्दादिविषयग्रहणभूतमेव त्रयस्यापि विषयाख्यं यथा स्यात्, मा भूदन्तःप्राणादिभूतम्। अथवा दशधैव बाह्यम्। भेदविषयं बाह्यमित्यर्थः। प्राणादिभूतस्य तु भेदो नास्तीत्यदोषः।

तदेतत्

त्रयस्य विषयाख्यम्।

बुद्ध्यहंकारमनोलक्षणस्य हि त्रयस्योपात्तविषया बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियवृत्तयः सम्पर्काद्विषयरूपप्रत्यवभासनिमित्ततामुपगच्छन्त्यो विषयाख्यतां लभन्ते। तथा महोऽहंकारावपि बुद्धेः। बुद्धिस्तु निश्चयरूपत्वात्करणान्तरनिरपेक्षा सर्वमर्थं प्रवृत्तौ प्रति निश्चयरूपेणाऽध्यस्तं पुरुषायोपसंहरति।

तत्र शब्दादिसन्निधाने वृत्तीनां ताद्रूप्यापत्तेस्तदपगमे च ताद्रूप्यापगमात् प्राप्यकारि

साम्प्रतकालं बाह्यम्

उपात्तविषयेन्द्रियवृत्तिसन्निधानात्तु तदाकारसंस्काराधाननिमित्तस्मृतिप्रत्ययवशात्

त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्॥ ३३॥

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि[1] तु पञ्चविषयाणि[2]॥ ३४॥

अन्वयः– तेषाम्, पञ्च, विशेषाविशेषविषयाणि, (सन्ति); वाक्, शब्दविषया, भवति, शेषाणि, तु, पञ्चविषयाणि, (सन्ति)॥ ३४॥

शब्दार्थः तेषाम्=उन (दश इन्द्रियों) की, पञ्च=पाँच (ज्ञानेन्द्रियाँ), विशेषाविशेषविषयाणि सुख-दुःख एवं मोह से युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध (अर्थात् विशेष-स्थूल) और तन्मात्र (अर्थात् अविशेष=सूक्ष्म) द्विविध विषयों वाली,

१—शेषाण्यपि—माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका।

२—विषयीणि—जयमङ्गला।

(सन्ति=हैं); वाक्=वाक् इन्द्रिय, शब्दविषया=(स्थूल) शब्द स्वरूप विषयवाली, भवति=है; शेषाणि शेष (कर्मेन्द्रियाँ), तु=तो, पञ्चविषयाणि=(शब्द, स्पर्श आदि) पाँचों विषयों वाली, (सन्ति हैं) ॥ ३४ ॥

अर्थः—उन (दश बाह्य करणों=इन्द्रियों) की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तो सुख, दुःख एवं मोह से युक्त शब्द; स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध (अर्थात् विशेष = स्थूल) और तन्मात्र (अर्थात् अविशेष=सूक्ष्म) विषयों वाली हैं (अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूल और सूक्ष्म द्विविध विषयों में प्रवृत्त होती हैं) । (कर्मेन्द्रियों में) वाक् इन्द्रिय (स्थूल) शब्द रूप विषय वाली है (अर्थात् वाक् इन्द्रिय स्थूल शब्द के ही विषय में प्रवृत्त होती है) । शेष चारों ही (स्थूल शब्द, स्पर्श आदि) पाँचों विषयों वाली हैं ॥ ३४ ॥

त० प्र० – तेषां दशनामिन्द्रियाणां मध्ये पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि विशेषाविशेषविषयाणि—विशेषाः सुखदुःखमोहान्विताः स्थूलाः शब्दादयः, अविशेषाः,—नास्ति विशेषः शान्तघोर-मूढत्वादिरूपो यत्रेत्यविशेषाः अतीन्द्रियाः भूतसूक्ष्माः पञ्चतन्मात्राणीत्यर्थः । विशेषाश्च अविशेषाश्च विशेषाविशेषाः, ते एव विषयाः येषां बुद्धीन्द्रियाणां तानि तथोक्तानि सन्ति । तत्र सिद्धानां योगिनां बुद्धीन्द्रियाणि शब्दादितन्मात्राणि स्थूलशब्दादिविषयांश्च गृह्णन्ति; अस्मदादीनां तु केवलान् स्थूलविषयानेव ।

एवं कर्मेन्द्रियेषु मध्ये वाक् शब्दविषया–शब्दः स्थूलः शब्दः विषयः यस्याः सा तादृशी भवति । कुतः ? तज्जनकत्वादिति । शेषाणि तु चत्वारि पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च-विषयाणि पञ्च शब्दादयो विषयाः येषां तानि तथोक्तानि सन्ति । पाणी घटादिकं गृह्णीतः । घटादिकं तु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्वितमस्ति । पादौ पञ्चशब्दादिलक्षणायां भुवि विहरतः । पाय्विन्द्रियं पञ्चक्लृप्तमुत्सर्गं करोति । एवमेवोपस्थेन्द्रियं पञ्चलक्षणं शुक्रमानन्दयतीति ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—विशेषाविशेषविषयाणि—विशेष कहते हैं स्थूल अर्थात् हम लोगों के द्वारा गृहीत शब्द, रूप आदि को । अविशेष कहते हैं तन्मात्राओं को । तन्मात्राएँ स्थूल शब्द आदि के सूक्ष्म रूप हैं । योगियों की इन्द्रियाँ स्थूल शब्द आदि एवं सूक्ष्म शब्द आदि अर्थात् तन्मात्राओं—दोनों—को ग्रहण करती हैं । हम लोगों की इन्द्रियाँ केवल स्थूल शब्द आदि को ही ग्रहण करती हैं । इस प्रकार बुद्धीन्द्रियाँ विशेष और अविशेष-दोनों-को अपना विषय्न बनाती हैं ।

पञ्चविषयाणि—हाथ घट आदि को ग्रहण करता है । घट आदि में शब्द, रूप, रस, स्पर्श एवं गन्ध सब रहता है । इस प्रकार शब्द आदि पाँचों हाथ के विषय बनते हैं । पैर पृथ्वी पर विचरण करते हैं । पृथ्वी में भी शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गन्ध

रहते हैं । इस प्रकार शब्द आदि पाँचों पैर के भी विषय में बनते हैं । इसी प्रकार अन्य कर्मेन्द्रियों के भी विषय में समझना चाहिए । विवरण के लिये देखिये—टीका ॥३४॥

युक्तिः—आह, प्राक्छब्दादिषु श्रोत्रादीनामालोचनमात्रं वृत्तिरित्यविशेषेणोक्तम् । तत्र किं तथैव प्रतिपत्तव्यमथेन्द्रियाणां विषयविशेषोऽस्तीति ? अथ चोक्तं कार्यं च तस्य दशधा विशेषलक्षणमविशेषलक्षणं च । तत्र केन करणेन कस्य विषयस्य ग्रहणमिति उच्यते—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाऽविशेषविषयाणि ।

तेषां पूर्वोक्तानामिन्द्रियाणां यानि बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च श्रोत्रादीनि तानि विशेषाऽविशेषविषयाणि प्रतिपत्तृभेदेन । तत्र देवानां यानि इन्द्रियाणि तानि धर्मोत्कर्षाद्विशुद्धान्यविशेषानपि गृह्णन्ति प्रागेव विशेषात्, योगिनां च संप्राप्तविशेषाणाम् । अस्मदादीनां तु विशेषानेव तमसा परिवृतत्वात् ।

आह, किं कर्मेन्द्रियाणामपि प्रतिपत्तृभेदाद् ग्रहणभेदो भवति ? नेत्युच्यते । किं तर्हि सर्वेषामेव

वाग्भवति शब्दविषया

वागिन्द्रियस्य वाय्वभिहतेषु वदनप्रदेशेषु ताल्वादिषु ध्वनेर्वर्णपदवाक्यश्लोकग्रन्थभावेन विकारापादनं सर्वप्राणिनामविशिष्टम् ।

आह, अथेतराणि कर्मेन्द्रियाणि कथमिति ? उच्यते—

शेषाण्यपि पञ्चविषयाणि ॥ ३४ ॥

पाणिपादपायूपस्थास्तु आदानविहरणोत्सर्गानन्दलक्षणैः कर्मभिः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धसमुदायरूपा मूर्तीर्विकुर्वन्तीति ।

आह, यदि पञ्चविषयाण्येवाऽविशेषाणीति नियमोऽभ्युपगम्यते तेनैकैककरणेष्वादानादिक्रियाऽनुपपत्तिप्रसंग इति । उच्यते न, नियमप्रतिषेधार्थत्वात् । स्वविषयनियमो बुद्धीन्द्रियवत्कर्मेन्द्रियाणामपि मा विज्ञायीत्यतो नियमप्रतिषेधार्थमिदमारभ्यते । तदर्थमेव चापिशब्दमाचार्योऽधिजगे । सम्भावनाऽर्थमपि च पञ्चविषयाण्येतानि प्रागेव तु चतुस्त्रिविषयाणीति । आह, कथमेतदवगम्यते विशेषाविशेषविषयाणीन्द्रियाणि, न पुनरसद्विषयाणि इति ? उच्यते— विशेषाणामसत्त्वाऽसिद्धेः । प्रत्यक्षतस्तावद्विशेषा उपलभ्यन्ते । तस्मादेषामसत्त्वमशक्यं प्रतिज्ञातुम् । अथापि स्यात्साध्यमेतत्प्रत्यक्षमेवैतदनवद्यम्, बाह्यवस्तुविषयमयमृगतृष्णिकादिविज्ञानवत्प्रत्यक्षाभासम् । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? विकल्पानुपपत्तेः । सर्वमभूतमभ्युपगन्तव्यम् । यतो नास्ति किञ्चिद् भूतार्थेन प्रत्यक्षं यदपेक्ष्येतरत् प्रत्यक्षाभासं स्यात् । उक्तस्त्वयं विकल्पः । तस्मादयुक्तं ज्ञानमात्रमिदमिति । किञ्चान्यत् । विपरीतदर्शनप्रसंगात् । मृगतृष्णिकास्वप्नविषयैरसद्भिः सतामसत्त्वमिच्छतस्तद्वदेव विपरीतदर्शनप्रसंगः । तथा हि

गन्धर्वनगरादिषु कदाचित्तमेवार्थं गां पश्यति, कश्चिद् गजं पश्यति, कदाचित्पताकाम्। स्वप्ने चैकमूर्तिपतितानां गोपुरुषाश्वरासभनदीवृक्षप्रभृतीनां दर्शनं स्मरणे विपर्ययेण दृष्टम्। तथा वातायनेन हस्तियूथप्रवेशने.... ...। विच्छिन्नानां चावयवानां पुनः सन्धानं आकाशगमनमनीश्वरस्यानिमित्तं राज्यलाभ इति। तदितरत्रापि स्यात्। न त्वस्ति। तस्मादयुक्तं मृगतृष्णिकास्वप्नादिवदसत्त्वं भावानाम्। [1]अर्थक्रिया च न स्यात्। यथा स्वप्ने स्नातानुलिप्ताशितपीतवस्त्राच्छादितानामफलत्वं दृष्टम्, एवमिहापि स्यात्। शुक्रविसर्गवदिति चेत्. स्यादेतत्—यथा द्वयसमापत्तिपूर्वकः शुक्रविसर्गः स च तदभावेऽपि स्वप्ने भवति, एवमितरत्स्यादिति। तदयुक्तम्, रागादिनिमित्तत्वात्। तथाहि जाग्रतोऽपि तत् द्वयसमापत्तिमन्तरेण भवति। तस्मान्मनोरञ्जनानिमित्तं तत्। प्रेतवदिति चेत् स्यादियं मम सद्बुद्धिः, यथा प्रेतानामसद्भिः पूयनद्यादिभिरर्थक्रिया, नरकपालैश्च बाधनम्। एवमत्रापि स्यादिति। तदयुक्तम्। असिद्धत्वात्। न ह्येतदसदिति सिद्धम्। किञ्च प्रत्यक्षेण चाप्रत्यक्षबाधनात्। इह प्रत्यक्षं बलीय इत्यप्रत्यक्षस्य तेन प्रत्याख्यानमुपपद्यते। भवन्तस्त्वप्रत्यक्षेण प्रत्यक्षं प्रत्याचक्षते। तस्मादयुक्तं नरकपालादिवदसतामर्थक्रियेति। स्वभावभेदात्तदसत्त्वमिति चेत्, स्यादेतत्—यदि परमार्थतो नरकपालाः स्युस्तेषामपि दुःखसम्बन्धः स्यात्, मूर्तिमत्त्वाविशेषात्। न तु तेषां बाधाऽस्ति। तस्माद् भ्रान्तिरसाविति। एतदयुक्तम् कस्मात्? कर्मशक्तिवैचित्र्यात्। प्रत्यक्षमेव तावत्कर्मनिमित्तो वाग्बुद्धिस्वभावाहारविहारशक्तिभेदभिन्नो विचित्रः संसार उपलभ्यते। स निपुणमवेक्षितुमशक्यः, गम्भीरत्वात्। किं पुनरप्रत्यक्षकर्मणां विपाकवैश्वरूप्यमतर्कगोचरमस्मदादिबुद्धयः परिच्छेत्स्यन्ति? तस्मान्मनोरथमात्रमेतत्। धर्माऽधर्माऽनुपपत्तिश्च स्यात्। यथा स्वप्ने ब्रह्महत्यासुरापानागम्यगमनादीनामफलत्वम्, एवमितरत्रापि स्यात्, असदविशेषात्। मिद्धोपघातात्तद्विशेष[2] इति चेत् न, अविशेषात्। असत्त्वे तुल्ये क्वचिदुपघातः क्वचिन्नेतीच्छामात्रमेतत्। एवं चेत् नासन्तः पृथिव्यादयः। न चेदसन्तो युक्तमुपदिष्टं बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणीति॥ ३४॥

॥ इति श्रीयुक्तिदीपिकायां सप्तममाह्निकम्॥

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥ ३५॥

अन्वयः—यस्मात्, सान्तःकरणा, बुद्धिः, सर्वम्, विषयम्, अवगाहते, तस्मात् त्रिविधम्, करणम्, द्वारि, (अस्ति), शेषाणि, द्वाराणि, (सन्ति)॥ ३५॥

१—तुलना कीजिये—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, विंशतिका ३-४ पर वसुबन्धु की टीका।

२—मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम्। विंशतिका, १८।

शब्दार्थः - यस्मात्=चूँकि, सान्तःकरणा=अन्य दो अन्तःकरणों (मन एवं अहङ्कार) के सहित, बुद्धिः=बुद्धि, सर्वम्=समस्त, विषयम्=विषय को, अवगाहते=व्याप्त करती है, तस्मात्=इसलिये, त्रिविधम्=तीन प्रकार का, करणम्=अन्तःकरण, द्वारि=प्रधान, (अस्ति=है), शेषाणि=बाकी करण (इन्द्रिय), द्वाराणि=द्वार या साधन अर्थात् अप्रधान, (सन्ति=हैं) ॥ ३५ ॥

अर्थः - चूँकि अन्य दो अन्तःकरणों (मन एवं अहङ्कार) के सहित बुद्धि समस्त विषय को व्याप्त करती है, इसलिये तीनों अन्तःकरण प्रधान हैं, अन्य द्वार या साधन-मात्र हैं ॥ ३५ ॥

त० प्र०— यस्मादिति हेतुनिर्देशः । अन्तःकरणे मनोऽहङ्कारौ ताभ्यां सहिता बुद्धिः सर्वं निखिलमिन्द्रियोपनीतं विषयं भोग्यमवगाहतेऽध्यवस्यति पुरुषाय निश्चिनोतीत्यर्थः तस्मात् कारणात् तत् त्रिविधमन्तःकरणं द्वारमस्यास्तीति द्वारि प्रधानमस्ति । शेषाणि दशेन्द्रियाणि द्वाराणि अप्रधानानि उपकारकानीति यावत् । उपकार्यत्वमत्र द्वारित्वम्, उपकारकत्वं तु द्वारत्वम् । बाह्येन्द्रियाणि विषयानालोच्य मनसे समर्पयन्ति, मनः सङ्कल्प्य अहङ्काराय, अहङ्कारो बुद्ध्यै, सा चात्मने, इति क्रमे—बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि मनो द्वारि, मनो द्वारम् अहङ्कारो द्वारी, अहङ्कारो द्वारं बुद्धिर्द्वारिणीति बोध्यम् ॥ ३५ ॥

टिप्पणी - 'त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि'—बाहरी इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण (व्याप्त) करके मनको सौंप देती हैं । मन संकल्प करके अहङ्कार को सौंपता है । अहङ्कार बुद्धि को और बुद्धि आत्मा को प्रदान करती है । इस क्रम में बाहरी दशों इन्द्रियाँ द्वार (साधन या अप्रधान) एवं मन द्वारी (प्रधान) होता है । पुनः मन द्वार तथा अहंकार द्वारी एवं अहंकार द्वार और बुद्धि द्वारी बनती है । यहाँ यह ध्यान रखना है कि अन्तःकरण आपस में भले ही प्रधान (द्वारी) तथा अप्रधान (द्वार) बन जायँ किन्तु बाहरी दशों इन्द्रियाँ सर्वदा द्वार (साधन या अप्रधान) ही रहती हैं ॥ ३५ ॥

युक्ति०—द्वारिद्वारभावमेषामिदानीं वक्ष्यामः । तत्र बाह्यं करणं द्वारम्, अन्तःकरणं द्वारीति । आह, करणाऽविशेषादयुक्तम् । अन्तःकरणस्य हीन्द्रियाणां च करणत्वमविशिष्टम् । तत्र को हेतुरन्तःकरणं द्वारि, द्वाराणीन्द्रियाणीति ? उच्यते—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

सहान्तःकरणेन वर्तते या सा साऽन्तःकरणा बुद्धिः । अहंकारमनोभ्यां सहिता बुद्धिरित्यर्थः । अत्र चान्तःकरणग्रहणेनैव बुद्धेर्ग्रहणे सिद्धे भूयो बुद्धिग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् । भवति हि सामान्येऽन्तर्भूतस्यापि पृथगुपदेशः । तद्यथा—

जगाम तं वनोद्देशं व्यासः सह महर्षिभिः ।

इति महर्षिग्रहणे व्यासोऽप्यन्तर्भूतः प्राधान्यात्पृथगुच्यते, एवं साऽन्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते, विशिष्टानविशिष्टांश्च शब्दादीन्सन्निकृष्टविप्रकृष्टव्यवहितान्प्रमाणबलेन स्ववृत्तेर्विषयीकरोतीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति अनियतविषयो द्वारी, नियतविषयाणि द्वाराणि । तद्यथा प्रासादस्य पूर्वोत्तरदक्षिणपश्चिमानां स्वदिङ्नियमो न पूर्वमुत्तरं दक्षिणं पश्चिमं वा कदाचिद् भवति, तथेतराण्यपि द्वारीणि । तत्राऽनियताः सर्वदिगवस्थितैर्द्वारैः प्रवर्तन्त एवमिहापि श्रोत्रादीनि स्वविषयनियतानि । सान्तःकरणा तु बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् तस्मादनियतविषयत्वादुपपन्नमेतत्त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणीति ॥ ३५ ॥

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

अन्वयः परस्परविलक्षणाः, एते, गुणविशेषाः, प्रदीपकल्पाः, (सन्ति); (एते), कृत्स्नम्, पुरुषस्य, अर्थम्, प्रकाश्य, बुद्धौ, प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—परस्परविलक्षणाः=आपस में एक-दूसरे से भिन्न, एते=ये, गुणविशेषाः= गुणों के ही विकार (मन, अहंकार एवं दशों इन्द्रियाँ), प्रदीपकल्पाः=दीपक के समान हैं; (एते -ये), कृत्स्नम्=समस्त, पुरुषस्य=पुरुष के, अर्थम्=अर्थ को, प्रकाश्य=प्रकाशित कर, बुद्धौ बुद्धि में, प्रयच्छन्ति=समर्पित कर देते हैं ॥ ३६ ॥

अर्थः—आपस में एक दूसरे से भिन्न, गुणों के ही विकार, ये करण (मन अहंकार तथा दशों इन्द्रियाँ) दीपक के समान हैं। ये (करण) समस्त पुरुषार्थ (पुरुष के भोग्य पदार्थ) को प्रकाशित कर बुद्धि को समर्पित कर देते हैं ॥ ३६ ॥

त० प्रः—परस्परविलक्षणाः परस्परमसदृशाः भिन्नविषया विरोधशीलाः वा एते गुणानां सत्त्वादीनां विशेषाः विकाराः बाह्येन्द्रियमनोऽहंकाराः प्रदीपकल्पाः प्रदीपवद्विषयप्रकाशकाः सन्ति, यथा परस्परविलक्षणाः वर्तितैलवह्नयः मिलिताः सन्तः अन्धकारापनयनेन घटादिकं प्रकाश्य पुरुषं प्रापयन्ति, एवमेते गुणविशेषाः गुणानां विकाराः बुद्धिं विहाय बाह्याभ्यन्तरकरणानीत्यर्थः पुरुषाय अर्थं प्रकाशयन्तीति भावः । यथा हि ग्रामसभापतिः ग्रामीणेभ्यः शुल्कमादाय मण्डलाध्यक्षाय प्रयच्छति, मण्डलाध्यक्षश्च प्रान्ताध्यक्षाय, प्रान्ताध्यक्षश्च केन्द्राध्यक्षाय, तथा बाह्येन्द्रियाणि विषयानालोच्य मनसे समर्पयन्ति, मनश्च संकल्प्य अहंकाराय, स चाभिमत्य बुद्धौ केन्द्राध्यक्षभूतायाम्; तदिदमुक्तम्—'कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति' । एते गुणविकाराः इन्द्रियसमवायाः समग्रं पुरुषस्य कृते स्वविषयीकृतमर्थं प्रकाशितमर्थमित्यर्थः बुद्धौ समर्पयन्ति; यतः बुद्धिस्थं सर्वं विषयसुखादिकं पुरुषः उपलभ्यते ॥ ३६ ॥

टिप्पणी प्रदीपकल्पाः—जैसे आपस में विरुद्ध बत्ती, तेल तथा अग्नि मिलकर अन्धकार को दूरते हुए घट आदि विषयों को पुरुष के लिये प्रकाशित कर देते हैं, इसी प्रकार गुणों के विकार, परस्पर विलक्षण, ये समस्त करण विषयों को प्रकाशित कर बुद्धि को सौंप देते हैं। बुद्धि में स्थित विषयों का भोग पुरुष करता है॥ ३६॥

युक्ति०—एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति॥ ३६॥

एते इत्यनेन त्रयमभिसम्बध्नाति श्रोत्रादीनामन्यतमं मनोऽहंकारश्च। प्रदीपकल्पा इत्यनेन प्रकाशसाम्यं करणपर्वण आचष्टे, यथा प्रदीप. प्रकाशक एवं करणमपि, तद्व्यापारे सति विषयाविर्भावानुपपत्तेः। परस्परविलक्षणा इत्यनेन व्यस्तवृत्तिं पूर्वोक्तामाकर्षति। तया ह्येषां वैलक्षण्यमनुमीयते, आलोचनसंकल्पाभिमानभेदात्। गुणविशेषा इत्यनेन सत्त्वादीनां पुरुषविज्ञानमुद्दिश्य तद्भावेन परिणामं ख्यापयति। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थमिति विशेषाऽविशेषलक्षणं कार्यं आहार्यधार्यप्रकाश्यतया यथासम्भवं प्रकाश्य स्ववृत्त्यनुगुणं कृत्वा विषयत्वमापाद्येत्यर्थः। बुद्धौ प्रयच्छन्ति बुद्धावादधति। एतदुक्तं भवति—यदा श्रोत्रादीनामन्यतमं करणं शब्दादौ विषये प्रवर्तते तदा तद्द्वारेणाहंकारो मनो वा तं विषयं स्वव्यापारेणानुभूय बुद्धावाधत्ते, तद्विषयतामापादयतीत्यर्थः। कदाचित्तु बुद्धिरेव बाह्यकरणसंकल्पाभिमानान्निश्चिनोति विषयं, कदाचित्संकल्पाभिमानान्निश्चिनोति विषयं तावत्कदाचित्संकल्पाभिमानगृहीतम्। सर्वथा त्वयं शास्त्रार्थो येन वा तेन करणेन विषयमुपात्तं बुद्धिरध्यवस्यति। तया चाध्यवसायरूपापन्नया चेतनाशक्तिरनुगृह्यते। न करणान्तरस्य पुरुषेण सम्बन्धोऽस्ति। ततश्च द्वारिणां बहुत्वाद्दर्शनविशेषस्वातन्त्र्यसमुच्चयान्तःकरणपुरुषकर्तृत्वदोषाणामप्रसंगः॥ ३६॥

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥ ३७॥

अन्वयः—यस्मात्, सर्वम्, प्रति, उपभोगम्, पुरुषस्य, बुद्धिः, साधयति, च, सा, एव, पुनः, सूक्ष्मम्, प्रधानपुरुषान्तरम्, विशिनष्टि, (अतः, सा, एव, प्रधाना)॥ ३७॥

शब्दार्थः यस्मात्=चूँकि, सर्वम्–सभी (विषयों) के, प्रति=सम्बन्ध में (होनेवाले), उपभोगम्=भोग को, पुरुषस्य=पुरुष के लिये, बुद्धिः=बुद्धि, साधयति सम्पादित करती है, च = और, सा=वह, एव=ही, पुनः=भोग के अनन्तर, सूक्ष्मम् सूक्ष्म, प्रधानपुरुषान्तरम्=प्रकृति एवं पुरुष के भेद को, विशिनष्टि=प्रकट करती है, (अतः=इसलिये, सा= वह, एव=ही, प्रधाना=प्रधान है)॥ ३७॥

अर्थः चूँकि सभी (विषयों) के सम्बद्ध में (होनेवाले) भोग को, पुरुष के लिये, बुद्धि ही सम्पादित करती है (अर्थात् बुद्धि ही सभी विषयों को भोग के लिये पुरुष को प्रदान करती है और वही (बुद्धि ही) भोग के अनन्तर सूक्ष्म प्रकृति एवं पुरुष के भेद को भी प्रकट करती है (अतः वही प्रधान है) ॥ ३७ ॥

त॰ प्र॰—बुद्धेः प्राधान्ये हेतुमाह—सर्वमिति । यस्मात् सर्वं शब्दादिकम्, प्रतीति सम्बन्धे, उपभोगः पुरुषस्य तं बुद्धिः साधयति सम्पादयति तथा सैव बुद्धिः पुनः पश्चात् भोगानन्तरमित्यर्थः सूक्ष्मं दुर्लक्ष्यम् अनधिकृतपश्चरणैरप्राप्यमित्यर्थः प्रधानपुरुषयोः प्रकृतिपुरुषयोः अन्तरं वैलक्षण्यं भेदमिति यावत् विशिनष्टि करोति उद्भावयतीत्यर्थः; "इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था अयमन्यः पुरुषः अस्याः व्यतिरिक्तः" इत्येवं बोधयति बुद्धिः, यज्ज्ञानान्मोक्षो भवति । अतः सा बुद्धिरेव सर्वेष्वपि करणेषु विशिष्टतमा मुख्येति यावत् । अनेनापवर्गः पुरुषार्थो लक्षितः । ३७ ॥

युक्ति॰—आह, कः पुनरत्र हेतुर्येन द्वारित्वाविशेषे सत्यहंकारमनसी बुद्धौ विषयाधानं कुरुतो न पुनरनयोः साक्षात्पुरुषेण सम्बन्ध इति ? उच्यते—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।

अहंकारमनसोर्हि नास्ति निश्चयरूपता, संकल्पाभिमानमात्ररूपत्वात् । अनिश्चितविषयया च करणवृत्त्या पुरुषस्य सम्बन्धोऽनर्थकः स्यात् । स्वयं वा निश्चेतुरस्य कर्तृत्वं स्यात् । ततश्चाऽमिश्रनिश्चयकारणत्वादयमप्यामिश्ररूपः स्यात् । सर्वं चैतदुक्तोत्तरं निश्चयरूपा हि बुद्धिः । अतस्तद्वृत्त्युपनिपाती विषय. सन्निधानमात्रात्पुरुषेण सञ्चेतितो नास्यौदासीन्यं बाधितुमुत्सहते, नो खल्वप्यानर्थक्यमनुषज्यते । एतदुक्तं सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिरिति ।

आह, एवमपि शब्दादिलक्षणो विषयः प्रकृतः, स च बुद्ध्या सर्वः प्रतिपाद्यते । तत्र विषयान्तरमप्यस्ति प्रधानपुरुषान्तरलक्षणम् । तथाचाहुः—"उपभोगस्य शब्दाद्युपलब्धिरादिः गुणपुरुषोपलब्धिरन्तः ।" तस्मात्तत्प्रतिपत्त्यर्थं करणान्तरं वक्तव्यमिति । उच्यते—न वक्तव्यम् । किं कारणम् ? यस्मात्

सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

यतो यस्मात्कारणात् सा बुद्धिरेव हि काष्ठापन्नेन तमसाऽभिभूतत्वाद्धर्मादीनां सत्त्वधर्माणां प्रकृतिभूतान्विकारभूतान्परतन्त्रानुपकार्यानुपकारकानचेतनान्संसर्गधर्मिणश्च गुणानात्मत्वेनाऽध्यवस्य पुरुषायोपहरति । स च मिथ्याज्ञानाभ्यासवासनाऽनुरञ्जितं बुद्धिप्रत्ययमनरुध्यमानो दर्शितविषयत्वात्तथैव प्रतिपद्यते । यदा तु धर्माद्यभ्यासात्तमोरूपापगमे सत्युत्तरोत्तराणां सत्त्वधर्माणामुत्कर्षस्तदा विनिवृत्तमिथ्याप्रत्यया वृत्तिः । न प्रकृतिविकारभूतः स्वतन्त्रोऽनुपकार्योऽनुपकारकश्चेतनोऽसंसर्गधर्मा च । ततो विपरीताश्च गुणा इति शुद्धाध्यवसायं

करोति । पुरुषश्च परोपहृतवृत्तित्वात्तथैव प्रतिपद्यते । तदेतद् गुणानां पुरुषस्य चान्तरं द्वयोरपि निश्चयस्वभावत्वादस्मात्पूर्वोक्तधर्मभेदेऽपि सति सूक्ष्मं गम्भीरं दुर्ज्ञेयम् । अतश्च सूक्ष्मं यद् बुद्धिमात्रमवलम्ब्य तदविशिष्टायाश्चेतनाशक्तेर्ग्राह्यग्राहक[1]............॥३७॥

तन्मा ।ण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तन्मात्राणि, अविशेषाः, (कथ्यन्ते); तेभ्यः, पञ्चभ्यः, पञ्च, भूतानि, (जायन्ते); एते, विशेषाः, स्मृताः; (यतः; एते) शांताः, घोराः, च, मूढाः, (सन्ति) ॥३८॥

शब्दार्थः—तन्मात्राणि=पाँच तन्मात्र, अविशेषाः=अविशेष, (कथ्यन्ते=कहे जाते हैं); तेभ्यः=उन, पञ्चभ्यः=पाँच तन्मात्र से, पञ्च=पाँच भूतानि=महाभूत, (जायन्ते=उत्पन्न होते हैं); एते=ये महाभूत, विशेषाः=विशेष, स्मृताः=कहे गये हैं; (यतः=क्योंकि, एते=ये), शान्ताः = सुखात्मक, घोराः = दुःखात्मक, च = और, मूढाः = मोहात्मक, (सन्ति हैं) ॥ ३८ ॥

अर्थः—पाँच तन्मात्र 'अविशेष' (कहे जाते हैं) । उन पाँच तन्मात्र से पाँच महाभूत (उत्पन्न होते हैं) । ये महाभूत 'विशेष' कहे गये हैं । (क्योंकि ये) सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक (हैं) ॥ ३८ ॥

त॰ प्र०—तन्मात्राणि शब्दादीनि अहङ्कारादुत्पद्यमानानि—शब्दतन्मात्र–स्पर्शतन्मात्र–रूपतन्मात्र–रसतन्मात्र–गन्धतन्मात्राणि–अविशेषाः नास्ति विशेषः शान्तघोरमूढत्वादिरूपो यत्रेत्यविशेषाः अभिव्यक्तशान्तघोरमूढत्वशून्याः कथ्यन्ते । अविशेषाः देवानां योगिनाञ्च विषयाः । अत एव ते सर्वदैवसुखिनः दुःखमोहरहिताश्च । तेभ्यः पञ्चभ्यः तन्मात्रेभ्यः पञ्च आकाशादिमहाभूतानि जायन्ते—तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात् तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी । एतदेवाभिप्रेत्य 'अविशेषाद्विशेषारम्भः' इति सांख्यसूत्रम् । एतेन एकस्मात् तन्मात्रादेकैकस्य महाभूतस्योत्पत्तिः सूचिता । ततश्च यदन्येषामाचार्याणां मतं 'शब्दादिभ्यः पञ्चभ्यः आकाशादीनि पच्चमहाभूतानि पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणान्युत्पद्यन्ते' तत् प्रतिषिद्धं भवति । पूर्वपूर्वतन्मात्राणामुत्तरोत्तरतन्मात्रेषु अनुप्रवेशकल्पनया शब्दगुणात् शब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणं स्पर्शप्रधानात् शब्दस्पर्शगुणात् स्पर्शतन्मात्रात् द्विगुणो वायुः, रूपप्रधानात् शब्दस्पर्शरूपगुणात् रूपतन्मात्रात् त्रिगुणं तेजः, रसप्रधानात् शब्दस्पर्शरूप-

---

1. It appears that a cousiderable portion of the discussion on the Kārikā 37 is left out.

रसगुणात् रसतन्मात्रात् चतुर्गुणाः आपः, गन्धप्रधानात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणात् गन्धतन्मात्रात् पञ्चगुणा पृथिवी, उत्पद्यते इति कल्पने लाघवमनुभूयते ।

एते आकाशादयः विशेषा अभिव्यक्तशान्तघोरमूढत्वयुक्ताः स्मृताः आचार्यैः निगदिताः सन्ति । अत्र शान्तत्वं सुखत्वम्, घोरत्वं दुःखत्वम्, मूढत्वं मोहत्वं ज्ञेयम् । एते मानुषाणां विषयाः । विशेषत्वे हेतुमाह—शान्ताः इति । यतः एते आकाशादयः शान्ताः सुखलक्षणाः, घोराः दुःखलक्षणाः तथा मूढाः मोहलक्षणाः सन्ति, अतः विशेषाः कथ्यन्ते । यथाऽऽकाशं कस्यचित् अन्तर्गृहादेः बहिः निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति, तदेव शीतोष्णवात-वर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति, तदेव पन्थानं गच्छतो अरण्ये मार्गात् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढं भवति । एवमन्येष्वपि ज्ञेयमिति दिक् ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—तन्मात्राओं को 'अविशेष' तथा उनसे उत्पन्न महाभूतों को 'विशेष' कहा जाता है। महाभूत सुखात्मक, दुःखात्मक एवं मोहात्मक होते हैं, अतः वे विशेष कहे जाते हैं ॥ ३८ ॥

युक्ति०—व्याख्यातं करणपर्व । कार्यपर्वेदानीं वक्तव्यम् । तस्य च पुरस्तादुद्देशः कृतः—कार्यं च तस्य दशधा पञ्च विशेषा इति । साम्प्रतं तु निर्देशं करिष्यामः । आह, यद्येवं तस्मादिदमेव तावदुच्यतां के विशेषाः, इति । उच्यते—

तन्मात्राण्यविशेषाः

यानि तन्मात्राणि पञ्चाहंकारादुत्पद्यन्ते इति प्रागपदिष्टम् । ते खल्वविशेषाः । कानि पुनस्तन्मात्राणीत्युच्यते शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्र-मिति । कथं पुनस्तन्मात्राणीति ? उच्यते—तुल्यजातीयविशेषानुपपत्तेः । अन्ये शब्दजात्य-भेदेऽपि सति विशेषा उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकादयस्तत्र न सन्ति तस्माच्छब्दतन्मात्रम् । एवं स्पर्शतन्मात्रे मृदुकठिनादयः । एवं रूपतन्मात्रे शुक्लकृष्णादयः । एवं रसतन्मात्रे मधुराऽम्लादयः । एवं गन्धतन्मात्रे सुरभ्यादयः । तस्मात्तस्य तस्य गुणस्य सामान्यमेवात्र, न विशेष इति तन्मात्रास्वेतेऽविशेषाः ।

आह, अथ के पुनर्विशेषा इति ? उच्यते – यानि खलु ।

तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।

उत्पद्यन्ते

एते स्मृता विशेषाः

तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्ध-तन्मात्रात्पृथिवी । तेभ्यो भूतानीत्येतावति वक्तव्ये पञ्च पञ्चभ्य इति ग्रहणं समसंख्याक-तस्तदुत्पत्तिज्ञापनार्थम् । तेनैकैकस्मात्तन्मात्रादेकैकस्य विशेषस्योत्पत्तिः सिद्धा । ततश्च यदन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम् एकलक्षणेभ्यस्तन्मात्रेभ्यः परस्परानुप्रवेशादेकोत्तरा विशेषाः

सृज्यन्त इति तत्प्रतिषिद्धं भवति। किन्तर्हि अन्तरेणापि तन्मात्रानुप्रवेशमेकोत्तरेभ्यो भूतेभ्य एकोत्तराणां भूतविशेषाणामुत्पत्तिः। तत्र शब्दगुणाच्छब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणम्, शब्दस्पर्शगुणात्स्पर्शतन्मात्रात् द्विगुणो वायुः, शब्दस्पर्शरूपगुणाद्रूपतन्मात्रात्त्रिगुणं तेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणाद्रसतन्मात्राच्चतुर्गुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणाद् गन्धतन्मात्रात्पञ्चगुणा पृथिवी। अत्र च वायोः शीतः स्पर्शः अपां च, तेजस उष्णः, अनुष्णाशीतः पृथिव्याः। रूपं च शुक्लं भास्वरं च तेजसोऽपां च, कृष्णं पृथिव्याः। रसो मधुरोऽपाम्, साधारणः पृथिव्याः। गन्धस्तु पार्थिव एव तदवयवानुप्रवेशाद् भूतान्तरेषूपलभ्यते। इत्येते पृथिव्यादीनां धर्माः। अन्ये च परस्परानुग्राहकाः। के पुनस्त इत्याह—

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च।
स्थितिभेदः क्षमा कृष्णच्छाया सर्वोपभोग्यते॥
इति ते पार्थिवा धर्मास्तद्विशिष्टास्तथा परे।
जलाग्निपवनाकाशव्यापकास्तान्निबोधत॥
स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत्।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं सन्तानश्चौदका गुणाः॥
ऊर्ध्वगं पावकं दग्धृ पाचकं लघु भास्वरम्।
प्रध्वंस्योजस्विता ज्योतिः पूर्वाभ्यां सविलक्षणम्॥
तिर्यग्गतिः पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम्।
रौक्ष्यमच्छायता शैत्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः॥
सर्वतोगतिरव्यूहो विष्कम्भश्चेति ते त्रयः।
आकाशधर्मा विज्ञेयाः पूर्वधर्मविरोधिनः॥
संहतानां तु यत्कार्यं सामान्यं ते गवादयः।
इतरेतरधर्मेभ्यो विशेषान्नात्र संशयः॥

तत्राकारादिभिर्धर्मैः पृथिव्या लोकस्य चोपक्रियते भूतान्तराणां च। तत्राकारात्तावत् गवादीनां घटादीनां चाकारनिर्वृत्तिः गौरवादेषामवस्थानम्। रौक्ष्यादपां संग्रहो वैशद्यं च भूतानाम्। वरणादनभिप्रेतानां छादनम्। स्थैर्याद् वृत्तिः प्रजानां भूतान्तराणां च। स्थितेर्मात्रादिसन्निधानाद्यनुग्रहः। भेदाद्घटादिनिष्पत्तिः। व्यूहश्चावयवानाम्। क्षान्तेरुपभोगयोग्यता। कृष्णच्छायत्वाद्रात्रिसम्पच्छायाकार्यप्रसिद्धिश्च। सर्वोपभोग्यत्वात्सर्वभूतानुग्रहः। एवं स्नेहादिभिर्लोकस्योपकारः क्रियते भूतान्तराणां च। स्नेहाद्रूपसंपद्वायुप्रतीकारोऽग्निशमनं संग्रहश्च पृथिव्याः। सौक्ष्म्यादनुप्रवेशः। शौक्ल्याच्चन्द्रादिनिर्वृत्ति। मार्दवात्स्नानावगाहनमेकक्रिया कठिनानां चावनामनम्। गौरवात्सन्तानाच्च भूतानुग्रहार्थं स्रोतस्त्वम्। शैत्यादुष्णप्रतीकारः। रक्षातः प्रजासु घोरशमनम्। पवित्रत्वाद्धर्मोपचयः

शौचविधिरलक्ष्योपघातश्च । सन्तानाद् द्रव्यसंघातः । तथोर्ध्वगत्यादिभिर्धर्ममात्रैस्तेजसां लोकस्य चोपक्रियते भूतान्तराणां च । ऊर्ध्वगतेः पाकप्रकाशसिद्धिः । पावकत्वाद् द्रव्यशौचं च । दाहकत्वात्क्षारोत्पत्तिः, शीतप्रतीकारो नभसश्चोष्णत्वं शब्दनिष्पत्यर्थम् । पाचकत्वात्स्वेद्यस्वेदनमन्नपक्तिः पृथिव्यवयवानां क्रियायोग्यता, तथा बाह्यान्तरपरिणामः, रसलोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणां लाघवाद् दाह्यातिक्रमः । भास्वरत्वाद् द्रव्यान्तरप्रकाशनम् । प्रध्वंसित्वाद् दग्धपक्वानामुपभोगः । तैजसः प्रजापालनम् । तथा तिर्यक्पातादिभिर्धर्मैर्वायुना लोकस्य चोपकारः क्रियते भूतान्तराणां च । तिर्यक्पाताद् दृष्टिविक्षेपो गन्धसंवहनं च । पवित्रत्वात्पूतिद्रव्यपवनम् । आक्षेपनोदनाभ्यामुत्कर्षः प्रथनं घर्माम्भसः । व्यूहश्च शरीरे रसादीनां धातूनां च । अग्नेश्चोपध्मानमभिघातश्चाकाशस्य । बलात्समीकरणं सर्वेषाम् । रौक्ष्याद्विशोषणम् । अच्छायत्वादहोरात्रप्रसिद्धिः । शैत्यादुष्णप्रतीकारः । तथा सर्वतोगत्यादिभिर्धर्मैर्नभसा लोकस्योपकारः क्रियते भूतान्तराणां च । सर्वतोगतेः समन्तात्तुल्यदेशश्रवणानामेकश्रुतित्वम् । अव्यूहविष्कम्भाभ्यां सर्वेषामवकाशतादानमित्युक्ताः पृथिव्यादयः । एते विशेषा इत्युच्यन्त इति ।

आह, कथं पुनरेते विशेषा इत्युच्यन्ते ? यस्मात्

शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

तत्र शान्तास्तावत् स्वसंस्कारविशेषयोगात्तत्सन्निधौ प्रसादादिधर्मोत्पत्तेः । घोरास्तु शोषादिधर्मनिमित्तत्वात् । मूढाश्च वरणादिधर्महेतुत्वात् । तन्मात्राणि पुनरशान्तघोरमूढानि अतोऽविशेषा इत्युच्यन्ते । तदेते यथा व्याख्याता अविशेषा विशेषाः पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं बहुधा व्यवतिष्ठन्ते । कस्मात् ? न ह्येतेषामेकधाऽवस्थाने पुरुषार्थः सिद्धयतीति ॥ ३८ ॥

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सूक्ष्माः, मातापितृजाः प्रभूतैः, सह, त्रिधा, विशेषाः, स्युः; तेषाम्, सूक्ष्माः, नियताः, मातापितृजाः, निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

शब्दार्थः—सूक्ष्माः=सूक्ष्म शरीर, मातापितृजाः=माता और पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर, प्रभूतैः=प्रर्वत वृक्ष आदि के, सह=साथ, त्रिधा=तीन प्रकार के, विशेषाः=स्थूल विषय, स्युः=होते हैं; तेषाम् उनमें, सूक्ष्माः=सूक्ष्म शरीर, नियताः=नित्य हैं, मातापितृजाः=माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर, निवर्तन्ते=विनष्ट होते हैं (अर्थात् अनित्य हैं) ॥३९॥

अर्थः—सूक्ष्म शरीर, माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर, पर्वत-वृक्ष आदि के साथ तीन प्रकार के स्थूल विषय होते हैं (अर्थात् सूक्ष्म शरीर, माता-पिता से उत्पन्न स्थूल

शरीर और पर्वत-वृक्ष आदि—ये तीन प्रकार के स्थूल विषय (विशेष) होते हैं)। उनमें सूक्ष्म शरीर नित्य हैं (अर्थात् मोक्ष पर्यन्त रहने वाले हैं) किन्तु माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर अनित्य हैं ॥ ३९ ॥

त० प्र०—विशेषाणामवान्तरभेदमाह—सूक्ष्मा इति। सूक्ष्माः महदादिसूक्ष्मगन्धतन्मात्रान्ताः अष्टादशतत्त्वात्मकाः लिङ्गशरीराख्याः सूक्ष्मदेहाः। एतदेव 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' इति सांख्यसूत्रेणाभिहितम्। सूक्ष्माः अनुमानगम्याः भवन्ति; न तु स्थूलशरीरवत्प्रत्यक्षोपलब्धाः। ननु पूर्वस्यां कारिकायां सूक्ष्मतन्मात्राणामविशेषत्वमुक्तम्, अत्र पुनः सूक्ष्मदेहानां कथं विशेषमध्ये परिगणनमिति चेत्? शान्तघोरमूढैरिन्द्रियैरन्वितत्वात् सूक्ष्मानामपि विशेषत्वं बोध्यम्। मातापितृजाः तैर्भुक्तान्नशुक्रशोणिताद्यारब्धाः स्थूलदेहाः। प्रभूताः पर्वतवृक्षाद्याः तैः सह साकं त्रिधाः विशेषाः स्युः। सूक्ष्मं शरीरमेको विशेषः, मातापितृजो द्वितीयः, पर्वतवृक्षाद्याः तृतीयः। इत्थं त्रिप्रकाराः विशेषभेदाः सन्ति। तेषां त्रयाणां विशेषाणां मध्ये सूक्ष्माः नियताः आमोक्षावस्थायिनः सन्ति। नियतत्वमत्रापेक्षिकं बोध्यम्। मातापितृजाः निवर्तन्ते मृत्युसमये पतन्ति, उपलक्षणमेतत् प्रभूतानामपि, तेऽपि निवर्तन्ते इति बोध्यम् ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—सूक्ष्माः—सूक्ष्म शरीर को लिङ्गशरीर भी कहते हैं। यह बुद्धि, अहङ्कार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, एवं पाँच तन्मात्राओं के समूह का होता है। यह मोक्षपर्यन्त रहता है। पुरुष इसी शरीर से एक जन्म से दूसरे जन्म में जाता है ॥ ३९ ॥

नियताः—'नियताः' का अर्थ है 'मोक्षपर्यन्त रहने वाले'।

युक्ति०—आह, अतिसामान्योक्तमिदमित्यतो न प्रतिपद्यामहे। तस्माद्वक्तव्यं कथं विशेषाणामवस्थानमिति? उच्यते—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।

तत्र सूक्ष्मा नाम चेष्टाश्रितं प्राणाष्टकं संसरति। मातृपितृजास्तु द्विविधाः। जरायुजा अण्डजाश्च। तेषां कोशोपहृताः कोशाः लोमरुधिरमांसास्थिस्नायुशुक्रलक्षणाः। तत्र लोमरुधिरमांसानां मातृतः सम्भवः। अस्थिस्नायुशुक्राणां पितृतः। तत्रैवाशितपीताभ्यासादष्टौ कोशानपरे व्याचक्षते। कथं पुनरेषां कोशत्वम्? आवेष्टनसामर्थ्यात्। यथा कोशकारः कोशेनावेष्टितोऽस्वतन्त्रः, एवं सूक्ष्मशरीरं सप्राणमेतैरावेष्टितमस्वतन्त्रं तत्तत्कर्मोपचिनोति। प्रभूतास्तूद्भिज्जाः स्वेदजाश्च। तदेतैस्त्रिविधैर्विशेषैर्देवमानवतैर्यग्योनिलक्षणस्त्रिविधो भूतसर्ग आरभ्यते। तत्र देवानां चतुर्विधं शरीरं प्रधानानुग्रहात्, यथा परमर्षेर्विरिञ्चस्य च। तत्सिद्धिभ्यो यथा ब्रह्मणः पुत्राणां तत्पुत्रपुत्राणां च। मातापितृतो यथाऽदितेः कश्यपस्य च पुत्राणाम्। केवलाद्वा यथा पितृतो मित्रावरुणाभ्यां वशिष्ठस्य। मनुष्याणां तु जरायुजम्।

धर्मशक्तिविशेषात्तु कस्यचिदन्यथाऽपि भवति । यथा द्रोणकृपकृपीधृष्टद्युम्नादीनाम् । तिर्यग्योनीनामपि चतुर्विधम् ।

जरायुजं गवादीनामण्डजं चैव पक्षिणाम् ।
तृणादेश्चोद्भिज्जं क्षुद्रजन्तूनां स्वेदजं स्मृतम् ॥

एवं त्रिविधा विशेषा व्याख्याताः ।

तत्र केचिन्नियताः केचिदनियता इत्याह–के पुनरत्र नियताः, के वाऽनियताः ? इत्युच्यते

सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

सूक्ष्मा आसर्गप्रलयान्नित्याः मातापितृजा निवर्तन्ते । सह प्रभूतैरिति वर्तते । केचित्तु प्रभूतग्रहणेन बाह्यानामेव विशेषाणां ग्रहणमिच्छन्ति । तेषामुद्भिज्जस्वेदजयोरग्रहणम् । तस्मादुभयथा प्रभूता इत्येतदनवद्यम् । आह, सूक्ष्माभिधानमप्रसिद्धत्वात् । मातापितृजाश्च प्रभूताश्च प्रसिद्धा इत्यतो युक्त एषां परिग्रहः । सूक्ष्मास्त्वप्रसिद्धाः । तस्माद्वक्तव्यं कथमेषामुत्पत्तिरस्तित्वं वेति ? उच्यते—पूर्वसर्गे प्रकृतेरुत्पन्नानां प्राणिनां सत्त्वधर्मोत्कर्षादन्तरेण द्वयसमापत्तिं मनसैवाऽपत्यमन्यद्वा यथेप्सितं प्रादुर्बभूव । तदेतदद्यापि चानुवर्तते—यत्कच्छपिका निरूपितेनाण्डधारणं करोति । प्रियं खल्वपि चक्षुषा निरीक्ष्य कृतार्थमात्मानं मन्यते । तस्यामपि क्षीणायां वाक्सिद्धिर्बभूव । अभिभाष्य प्राणिनो यदिच्छन्ति तदापादयन्ति । तदद्याप्यनुवर्तते—यच्छङ्खी विरुतेनाऽपत्यं बिभर्ति । प्रियं खल्वपि सम्भाष्य महतीं प्रीतिमनुभवति । तस्यामुपक्षीणायां हस्तसिद्धिर्बभूव । संस्पृश्य पाणिमीप्सितमर्थमुपपादयन्ति । तदेतदद्याप्यनुवर्तते—यत्प्रियं चिरादालोक्य पाणौ संस्पृश्य प्रीतिर्भवति । अस्यामुपक्षीणायामाश्लेषसिद्धिर्बभूव । आलिङ्गनेन प्राणिन ईप्सितं लभन्ते । तदेतदद्याप्यनुवर्तते—यत्प्रियमालिङ्ग्य निर्वृतिर्भवति । तस्यामुपक्षीणायां द्वन्द्वसिद्धिरारब्धा । स्त्रीपुंसौ संघृष्याऽपत्यमुत्पादयेतां ममेदं ममेदमिति च परिग्रहाः प्रवृत्ताः, एतस्मिन्नेवावसरे संसारो वर्ण्यते । तत्र चाचार्याणां विप्रतिपत्तिः । पञ्चाधिकरणस्य तावद्वैवर्तं शरीरं मातापितृसंसर्गकाले करणाविष्टं शुक्रशोणितमनुप्रविशति । तदनुप्रवेशाच्च कललादिभावेन विवर्धते । व्यूढावयवं तूपलब्धप्रत्ययं मातुरुदरान्निस्सृत्य यौ धर्माधर्मौ षट्सिद्ध्युपभोगकाले कृतौ तद्वशादवतिष्ठते । यावत्तत्क्षयाच्छरीरपातस्तावत् । यदि धर्मसंस्कृतं करणं ततो द्युदेशं सूक्ष्मशरीरेण प्राप्यते, तद्विपर्ययात्तु यातनास्थानं तिर्यग्योनिं वा, मिश्रीभावेन मानुष्यम् । एवमातिवाहिकं सूक्ष्मशरीरमिन्द्रियाणां धारणप्रापणसमर्थं नित्यं बाह्येनाऽपायिना परिवेष्ट्यते परित्यज्यते च । पतञ्जलेस्तु सूक्ष्मशरीरं यत्सिद्धिकाले पूर्वमिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति तत्र तत्कृताशयवशात् द्युदेशं यातनास्थानं वा करणानि वा प्रापय्य निवर्तते । तत्र चैवं युक्ताशयस्य कर्मवशादन्यदुत्पद्यते यदिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति तदपि निवर्तते, शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते । एवमनेकानि शरीराणि । विन्ध्यवासिनस्तु विभुत्वादिन्द्रियाणां बीजदेशे

वृत्त्या जन्म। तत्त्यागो मरणम्। तस्मान्नास्ति [1]सूक्ष्मशरीरम्। तस्मान्निर्विशेषः संसार इति पक्षः। एषा सूक्ष्मशरीरस्योत्पत्तिः॥ ३९॥

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥ ४०॥

अन्वयः पूर्वोत्पन्नम्, असक्तम्, नियतम्, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्, निरुपभोगम्, भावैः, अधिवासितम्, लिङ्गम्, संसरति॥ ४०॥

शब्दार्थः पूर्वोत्पन्नम्=सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, असक्तम्=अप्रतिहत गति वाला, नियतम्=मोक्षपर्यन्त स्थायी, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्=महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्म तन्मात्राओं तक के १८ तत्त्वों से बना हुआ, निरूपभोगम् भोगरहित, भावैः=धर्माधर्म आदि भावों से, अधिवासितम् संस्कृत, लिङ्गम्=सूक्ष्म शरीर, संसरति=गमनागमन करता रहता है॥ ४०॥

अर्थः—सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, अप्रतिहतगतिवाला, मोक्षपर्यन्त स्थायी, महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्म तन्मात्राओं तक के १८ तत्त्वों से बना हुआ, भोगरहित (अर्थात् स्थूल शरीर के बिना भोग करने में असमर्थ), धर्म-अधर्म आदि भावों से संस्कृत (युक्त), सूक्ष्म शरीर संसरण=गमनागमन करता रहता है॥ ४०॥

त० प्र०—पूर्वस्मिन्नादिसर्गे पूर्वेण प्रधानेन प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितम्। यदा स्थूलभूतानि अनुत्पन्नान्यासन् तदा प्रधानेन प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितमित्यर्थः। असक्तं पर्वतशिलादिष्वपि अप्रतिहतप्रसरम्। नियतं स्थूलशरीरापेक्षया चिरकालावस्थायि, आ चाऽऽदिसर्गात्, आ च मोक्षादवतिष्ठते इति भावः। नियतं प्रत्येकयोनिषु प्रत्येकपुरुषस्य कृते अवश्यमेव धारणीयम्। प्रत्येकजन्मनि पुरुषस्य स्थूलशरीराणि भिद्यन्ते, परञ्च सूक्ष्मं शरीरं मोक्षपर्यन्तमेकेनैवात्मना ध्रियते इति यावत्। महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं महदहङ्कारमनोदशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रसमूहात्मकम्—महानादिर्यस्य समूहस्य तत् महदादि, सूक्ष्मं पञ्चतन्मात्रमेव पर्यन्तं सीमा यस्य समूहस्य तत्तथोक्तम्, महदादि च तत्सूक्ष्मपर्यन्तं चेति कर्मधारयः। निरुपभोगं स्थूलदेहं विना भोगायाऽसमर्थम्। भावैः वक्ष्यमाणैः धर्माधर्मादिभिः अधिवासितमुपरञ्जितं संस्कृतमिति यावत्। अयमभिप्रायः—धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि भावाः वक्ष्यन्ते। बुद्धिस्तु तैरन्वितास्ति। बुद्ध्यन्वितञ्च वर्तते सूक्ष्मं शरीरम्। अतः तत्सूक्ष्मशरीरमपि भावैरधिवासितं वर्तते। एतादृशं लयं तिरोभावं गच्छतीति लिङ्गं सूक्ष्मशरीरं संसरति गमनागमनं करोति॥ ४०॥

टिप्पणी—पूर्वोत्पन्नम्—सूक्ष्म शरीर सृष्टि के आरम्भ में, महाभूतों की उत्पत्ति के पूर्व, प्रकृति के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यह सूक्ष्म शरीर प्रत्येक पुरुष के लिए एक-एक अलग होता है।

१—'अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना'—श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, ६२।

नियतम्—स्थूल शरीर की अपेक्षा चिरकाल तक रहने के कारण लिङ्ग शरीर को 'नियत' कहा गया है।

लिङ्गम्—महाप्रलय के समय सूक्ष्म शरीर अपने कारणभूत प्रकृति में लीन होता है, अतः इसे लिङ्ग कहा गया है ॥ ४० ॥

युक्ति०—आह, एवमनेकनिश्चयेष्वाचार्येषु भवतः का प्रतिपत्तिरिति ? उच्यते—यत्तावत्पतञ्जलिराह—सूक्ष्मशरीरं विनिवर्तते पुनश्चान्यदुत्पद्यते, तत् सूक्ष्मास्तेषां नियता इति वचनादस्माभिर्नाऽभ्युपगम्यते। तस्मात्

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

तत्र पूर्वोत्पन्नमित्यनेन महदादेः सूक्ष्मपर्यन्तस्य लिङ्गस्यार्गप्रलयान्नित्यत्वमाह। असक्त-मित्यनेन गूढस्थिरबीजानुप्रवेशमाचष्टे। न हि लिङ्गं क्वचिद्व्याहन्यते, किं तर्हि लिक्षादि-बीजमप्याविशति। बदरगोलमपि भित्वा प्रविशति। नित्यमित्यनेन प्रतिपुरुषव्यवस्थां प्रतिजानाति। साधारणो हि महान्प्रकृतित्वादिति। वार्षगणानां पक्षः। महदादीत्यनेन प्राणाष्टकं परिगृह्णाति पूर्वात्मानः प्राणाद्याश्च पञ्च वायव इति। सूक्ष्मपर्यन्तमिति तत्त्वान्तर-प्रतिषेधमाह, एतावदेव नाऽतोऽन्यदिति। संसरतीति गतिमाचष्टे, ततश्चाऽविभुत्वाद् बीजा-वेशत्यागौ प्रख्यातौ भवतः। निरुपभोगमिति शरीरान्तरस्यावकाशं करोति। सूक्ष्मशरीरस्य ह्युपभोगसामर्थ्येऽभ्युपगम्यमाने शरीरान्तरस्य निरवकाशत्वादनुत्पत्तिप्रसंगः स्यात्। भावैर-धिवासितमित्यनेन भावाष्टकपरिग्रहं द्योतयति। बुद्धिरूपैरिह धर्मादिभिरधिवासितम्। तत्सामर्थ्यात्सर्वत्राऽप्रतिहतं प्राणाष्टकं सूक्ष्मशरीरेऽवस्थानगमनमात्रफले व्यवस्थितम्। द्युतिर्यक्प्रेतेषु संसरतीति तेनैव चार्थसिद्धौ शरीरान्तरपरिकल्पनाऽनर्थक्यमतो न बहूनि शरीराणि ॥ ४० ॥

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—यथा, आश्रयम्, ऋते, चित्रम्, (तथा), यथा, स्थाण्वादिभ्यः, विना, छाया, न, तिष्ठति; तद्वत्, विशेषैः, विना, निराश्रयम्, लिङ्गम्, (न, तिष्ठति) ॥ ४१ ॥

शब्दार्थः—यथा=जैसे, आश्रयम् आधार के, ऋते बिना, चित्रम्=चित्र, (तथा= और), यथा=जैसे, स्थाण्वादिभ्यः=ठूँठ (स्तम्भ) आदि के, विना=बिना, छाया=छाया, न=नहीं, तिष्ठति=रहती; तद्वत्=उसी प्रकार, विशेषैः=स्थूल शरीर रूप विशेष के, विना= बिना, निराश्रयम्=आश्रय-हीन, लिङ्गम्=सूक्ष्म शरीर, (न=नहीं, तिष्ठति=रहता है) ॥४१॥

अर्थः—जैसे आधार के बिना चित्र और ठूँठ (स्तम्भ) आदि के बिना छाया नहीं रहती; उसी प्रकार स्थूल शरीररूप 'विशेष' के बिना आश्रय-हीन लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहता है ॥ ४१ ॥

त० प्र०—नन्वस्तु पूर्ववर्णितं लिङ्गशरीरमेव भोगायतनं पुरुषस्य, कृतं मातापितृजेन स्थूलशरीरेणेत्यत आह—चित्रमिति। यथा येन प्रकारेण आश्रयमाधारम् ऋते विना चित्रं न तिष्ठति; यथा स्थाण्वादिभ्यः स्तम्भादिभ्यः विना छाया न तिष्ठति; तद्वत् तेनैव प्रकारेण विशेषैः मातापितृजैः स्थूलदेहैः विना निराश्रयं निराधारं लिङ्गं अष्टादशतत्त्वात्मकं सूक्ष्मशरीरमपि न तिष्ठति। ये तु 'लिङ्गनात् ज्ञापनात् बुद्ध्यादयो 'लिङ्गम्', विना विशेषैः सूक्ष्मैः शरीरैरित्यर्थः' इति विवेचयन्ति, तन्न समीचीनं पूर्वापरप्रसङ्गविरोधात् कारिकागतोपमानोपमेयदृष्ट्याप्यसामञ्जस्यादिति दिक्॥ ४१॥

युक्ति०—यत्पुनरेतदुक्तम्—विभुत्वादिन्द्रियाणां स्वात्मन्यवस्थानं वृत्तिलाभो वृत्तिनिरोधश्च संसार इति, अयुक्तमेतत्। कस्मात्? विभुत्वासिद्धेः। न हि विभुत्वमिन्द्रियाणां कश्चिदभ्युपगच्छति। किं कारणम्? सततोपलब्धिप्रसंगात्। युगपदुपलब्धिप्रसंगाच्च। कार्यकरणपुरुषाणां हि विभुत्वे सततोपलब्धिप्रसंगो विषयाणां प्रतिबन्धाभावात्प्रसज्यते। प्राप्त्यविशेषाच्च सर्वविशेषाणां युगपदुपलब्धिप्रसंगः। व्यवहितविषयग्रहणं च। सर्वत्र सन्निधानात्सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोः प्रत्यक्षानुमानागमानां चाऽविशेषः प्रसज्यते। वृत्तिविशेषात्तद्विशेष इति चेत् न, हेत्वभावात्। विभूनामिहाऽस्ति वृत्तिविशेष इत्यत्र हेतुरनुक्तः। तस्मान्न करणानां विभुत्वमुपपद्यते। तस्मात्—

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा च्छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥ ४१॥

यथा हि चित्रस्य कुड्यमृतेऽवस्थानं नास्ति, स्थाणुपुरुषादिभ्यो वा विना च्छायायाः तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्। तस्मादुपपन्नमेतत् सविशेषः संसारः। आह, यदि सविशेषः संसारः बीजदेशगमने शरीरमुपलभ्येत। न त्वेवम्। तस्मादयुक्तमेतत्। उच्यते—न, विशेषितत्वात्। सूक्ष्म तच्छरीरमिति विशेषितम्। ततो नाऽस्याहेतुकमग्रहणमिति। आह, सूक्ष्मशरीरयोगात्पूर्वेश्वरत्वप्रसंगः। तस्मादयुक्तं तन्निमित्तमस्याग्रहणमिति। उच्यते—न, अनेकान्तात्। तद्यथा क्षुद्रजन्तूनां सूक्ष्मशरीरं लघिमा च, न चैषामीश्वरत्वमेवं सर्वप्राणिनां स्यात्। अथ मतमगृह्यमाणेन सम्बन्धात् स्थूलस्यापि शरीरस्याग्रहणं प्रेताञ्जनसिद्धमाल्यादिवत्। तदप्यनुपपन्नम्। अनेकान्तात्। तद्यथा कारणैरगृह्यमाणैः शरीरस्य सम्बन्धः। न चाऽग्रहणम्, पिशाचादिभिर्वा तथैतदपि स्यात्। किञ्च अन्तःकरणाऽनुविधाने चैश्वर्याभिमानात्। यस्य चाध्यवसायमनुविदधत्यणिमादीनि तस्यैश्वर्यमभिप्रेतम्। न तु यस्य स्वभावसिद्धानि। अन्यथा तु पिपीलिकादीनामप्याकाशगमनादैश्वर्यं स्यात्। आह, न, शरीराऽनुपपत्तिप्रसंगात्। सूक्ष्मशरीरोत्पत्तौ तर्हि चरितार्थयोः शरीरान्तरसामर्थ्यं विरुध्यते। तस्मादयुक्तं सविशेषः संसारः। उच्यते—न, अनभ्युपगमात्। न धर्माधर्मनिमित्तं वैवर्तं शरीरम्, किं तर्हि आधिकारिकमित्यदोषः। न चानेकशरीरत्वमभ्युपगम्यते। तस्मात्पक्षान्तरोपालम्भोऽयम्। किञ्च कृत्स्नाशयपरिणामाऽ-

प्रतिज्ञानात् । कृत्स्नस्याशयस्य परिणामं जानन्नेवमुपालभ्यः स्यादेकदेशस्तु नो विपरिणामी । तस्मान्न किञ्चिदेतत् । निमित्तावशेषादाशयैकदेशाभिव्यक्तिरयुक्तेति चेत्, स्यान्मतत्—इह निमित्तानामल्पबहुत्वविशेषादाशयाभिव्यक्तिविशेषो दृष्टः । तद्यथा वाय्वादिक्रोधादिषु । प्रायणकालश्चायं फलाभिव्यक्तौ निमित्तम् । अविशिष्टश्चासौ । तस्मादाशयैकदेशपरिणामोऽनुपपन्न इति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? नैमित्तिकत्वात् । पूर्वकृतस्य कर्मणः फलभोगपरिसमाप्तिः, साम्प्रतस्य च फलोपभोगार्थं विपरिणामः प्रायणस्य निमित्तम् । न तु प्रायणो विपरिणामस्येति । किञ्च शरीरान्तराभावश्च । कृत्स्नस्याशयस्याभिव्यक्तिमिच्छतः शरीरान्तराभावो निमित्तान्तराभावात्प्राप्नोति । तत्र कृतेनेति चेत् न, कललाद्यवस्थानाशे तदसम्भवात् । तत्र कृताभ्यां हि बीजावेशः करणस्य निष्पादितो यावत्कललाद्यवस्थायामेव तच्छरीरं विनष्टमिति तत्र कृताशयासम्भवाच्छरीरान्तरानुपपत्तिप्रसंगः । किञ्च स्थावराणां च शरीरान्तरासम्भवः । आशयस्य स्थावरशरीरारम्भे चरितार्थत्वात्स्थावरशरीरेण चाशयोपादानासम्भवात्तस्य संसाराभावः प्राप्तः । तस्मादुपपन्नमेतत्पुरुषार्थमादिसर्गोत्पन्नं सूक्ष्मशरीरं संसरति । यावच्च स पुरुषार्थो न परिसमाप्यते तावत्तिष्ठत इति ॥ ४१ ॥

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—पुरुषार्थहेतुकम्, इदम्, लिङ्गम्, निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन, प्रकृतेः, विभुत्वयोगात्, नटवत्, व्यवतिष्ठते ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—पुरुषार्थहेतुकम्=पुरुषार्थ के लिये उत्पन्न, इदम्=यह, लिङ्गम्=सूक्ष्म शरीर, निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन=(धर्म अधर्म आदि) निमित्त और उसके कार्य स्थूल शरीर (नैमित्तिक) के सम्बन्ध के कारण, प्रकृतेः=प्रकृति की, विभुत्वयोगात्=विभुत्व शक्ति के संयोग से, नटवत्=नट के समान, व्यवतिष्ठते=व्यवहार करता है ॥ ४२ ॥

अर्थः—पुरुषार्थ (पुरुष के भोग एवं मोक्ष) के लिये उत्पन्न यह सूक्ष्म शरीर, (धर्म अधर्म आदि) निमित्त और उसके कार्य स्थूल शरीर के सम्बन्ध के कारण प्रकृति की विभुत्व-शक्ति (नानारूप शक्ति) के संयोग से, नट के समान व्यवहार करता है ॥४२॥

त० प्र०—सूक्ष्मशरीरस्याऽस्तित्वमुपपाद्य अधुना तस्य संसरणमुच्यते—पुरुषार्थहेतुकमिदमिति;—भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः हेतुः प्रवर्तकः यस्य लिङ्गस्य तत्तथोक्तम्, इदं प्रसङ्गाद्व्याख्यायमानं लिङ्गं महदादिसूक्ष्मान्ततत्त्वसमुदायात्मकं सूक्ष्मशरीरं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन–निमित्तं धर्मादि नैमित्तिकं निमित्तजन्यं स्थूलशरीरं तस्य प्रसङ्गेन सम्बन्धेन तथा प्रकृतेः प्रधानस्य यत् विभुत्वं वैश्वरूप्यं नानारूपत्वमिति यावत् तस्य योगात् सम्बन्धात् नटवत् व्यवतिष्ठते व्यवहरतीत्यर्थः ।

अयम्भावः—यथा नटः पात्रविशेषवेषादिकं परिगृह्य कदाचित् कृष्णो भवति कदाचित् कंसः एवं तत्तत्स्थूलशरीरपरिग्रहणात् सूक्ष्मशरीरं कदाचित् देवो भवति, कदाचित् मनुष्यो भवति, कदाचित् पशुर्भवतीति ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन—यहाँ 'निमित्त' का अर्थ है—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य (राग), एवं अनैश्वर्य। ये प्रवर्तक कारण हैं। सूक्ष्म शरीर इन्हीं की प्रेरणा से एक शरीर से दूसरी शरीर में आता-जाता है। अतः ये निमित्त कहे गये हैं। 'नैमित्तिक' का यहाँ अर्थ है—स्थूल शरीर। स्थूल शरीर के ग्रहण करने में निमित्त ही कारण हैं। अतः स्थूल शरीर नैमित्तिक कहा जाता है।

नटवत्—जैसे एक नट वेष धारण कर कभी कृष्ण बनता है, कभी कंस बनता है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को धारण कर कभी देव होता है, कभी मानव होता है और कभी राक्षस होता है ॥ ४२ ॥

युक्ति०—आह, यदि पुरुषार्था लिङ्गस्योत्पत्तिरभ्युपगम्यते तत्समनन्तरमेवानेन पुरुषार्थोऽवसाययितव्यो न पुनर्देवमानुषतिर्यग्भावेन पुनः पुनराजवञ्जवीभावो[1]ऽनुष्ठातव्य इति। उच्यते—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

यद्यपि पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं लिङ्गमुत्पद्यते, तथापि सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणामपि प्राधान्याद्रजस्तमोभ्यामभिभूते सत्त्वे तत्प्रेरितं निमित्तनैमित्तिकशरीरेन्द्रियविषयोपभोगनिर्वर्तकं श्रृणोति। तद्यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामो', 'यमराज्यमग्निष्टोमेनाऽभिजयति' इति। तत्र फलेच्छया योनीः प्राणादींश्च सम्मुखीकृत्य क्रियामारभते। गुणवृत्तवैचित्र्याच्च प्रयत्नवानपि मनोवाग्देहैर्मलिनमपि कर्म करोति। ततश्च प्रकृतेर्विभुत्वयोगात्तेन तेन निमित्तेनोपस्थापितं देवमनुष्यतिर्यक्प्रेतादिशरीरमेकस्वभावमपि सन्नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गमाकृतिविशेषोपादानत्यागसाम्यतः। विभुत्वं गुणानां त्रयाणामपि साम्यादितरेतराभिभवो दृष्टः। तस्माद् भावनिमित्तः संसारः। तन्निमित्तानुपादान्मोक्षः ॥ ४२ ॥

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका, वैकृताश्च[2] धर्माद्याः।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—प्राकृतिकाः, सांसिद्धिकाः, च, वैकृताः, च, धर्माद्याः, भावाः, करणाश्रयिणः, च, कललाद्याः, कार्याश्रयिणः, दृष्टाः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थः—प्राकृतिकाः=प्रकृति अर्थात् स्वभाव से ही सिद्ध, सांसिद्धिकाः=सांसिद्धिक,

---

१–'तत्राजवञ्जवीभाव आगमनगमनभावो जन्ममरणपरम्परेत्यर्थः।' मध्यमकवृत्ति, २५।
२–'वैकृतिकाः' इति पाठस्तु छन्दोभङ्गभयादुपेक्षणीयः।

च=तथा, वैकृताः=उपाय से सिद्ध-वैकृत (असांसिद्धिक), धर्माद्याः=धर्म, अधर्म आदि, भावाः=भाव, करणाश्रयिणः=बुद्धि के आश्रय से रहने वाले, च=एवं, कललाद्याः= कलल (जरायु से परिवेष्टित रजोयुक्त वीर्य) आदि (भाव), कार्याश्रयिणः=कार्य अर्थात् शरीर के आश्रय से रहने वाले, दृष्टाः=देखे गये हैं (अर्थात् हैं) ॥ ४३ ॥

अर्थः—प्रकृति अर्थात् स्वभाव से ही सिद्ध 'सांसिद्धिक', तथा (उपाय से सिद्ध) वैकृत अर्थात् 'असांसिद्धिक' धर्म, अधर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि भाव बुद्धि के आश्रय से रहने वाले एवं कलल (जरायु से परिवेष्टित रजोयुक्त वीर्य) आदि भाव कार्य अर्थात् शरीर के आश्रय से रहने वाले हैं ॥ ४३ ॥

त० प्र०—प्राकृतिकाः—प्रकृतिः प्रधानम् आदिकारणं वा तेनैव उत्पादिताः सहदत्ताः स्वभावसिद्धाः इत्यर्थः सांसिद्धिकाः तथा वैकृताः नैमित्तिकाः उपायात्मकनिमित्त-प्रभवाः असांसिद्धिकाः उभयविधाः धर्माद्याः धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यात्मकाः भावाः करणमाश्रयन्ते इति करणाश्रयिणः करणं बुद्धिस्तदाश्रयिणः दृष्टाः सांख्याचार्यैः। एतदुक्तम्—"अध्यवसायो बुद्धिधर्मो ज्ञानम्" (२३) इति कारिकायाम्। अयम्भावः—बुद्धितत्त्वाश्रयिणः धर्माद्याः भावाः द्विविधाः—सांसिद्धिकाः असांसिद्धिकाश्चेति; तत्र ये प्राकृतिकाः ते सांसिद्धिकाः कथ्यन्ते। श्रूयते हि सर्गादौ उत्पन्नस्य महामुनेः कपिलस्य धर्माद्याश्चत्वारो भावाः सहैवोत्पन्नाः आसन्। सांसिद्धिकभावानामुदाहरणमेतत्। वैकृताश्च भावाः असांसिद्धिकाः। एते हि उपायानुष्ठानेन उत्पन्नाः भवन्ति। वैकृतानां भावानामुदाहरणम्–भगवान् वाल्मीकिः याज्ञवल्क्यश्च। एवमेव अधमानामधर्मादि-भावानाञ्चोभयविधानां स्वाभाविकास्वाभाविनामुदाहरणानि ज्ञेयानि।

कललाद्याः कललबुद्बुदाद्याः शुक्रशोणितजन्याः गर्भस्थितस्य कार्याश्रयिणः, कार्यं देहस्तदाश्रयिणः शरीराश्रयिणः इत्यर्थः। अत्र 'कललाद्याः' इत्यस्मिन्नादिपदेन बाल्यकौमारयौवनवार्धक्यान्यपि ज्ञेयानि ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—करणाश्रयिणः—प्रस्तुत कारिका का 'करणाश्रयिणः' पद 'भावाः' के विशेषण रूप में आया है। 'करण' का अर्थ है—बुद्धि। इस प्रकार 'करणाश्रयिणः' का अर्थ हुआ—'बुद्धि के आश्रय से रहने वाले (धर्मादि भाव)। यही बात पीछे २३ वीं कारिका में कही गयी है—ये धर्माधर्म आदि आठ भाव बुद्धि के ही रूप हैं। इनमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य बुद्धि के सात्त्विक रूप, तथा, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य=राग, तथा अनैश्वर्य उसके तामसरूप हैं। बुद्धि के रजोगुण का उसके इन दोनों प्रकार के रूपों—परिणामों—में योग रहता है, उसका अपना पृथक् कोई परिणाम नहीं होता है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि बुद्धि और उसके आठों भावों के बीच कथित आश्रयाश्रयिभाव दुग्ध और दधि अथवा सुवर्ण और उससे निर्मित आभूषणका-सा है। ये भाव बुद्धि के ही परिणाम हैं, उससे बाहर की वस्तु नहीं।

प्राकृतिकाः, वैकृताश्चः—प्राकृतिक भाव को सांसिद्धिक भाव और वैकृत भाव को असांसिद्धिक भाव कहते हैं। 'प्राकृतिक' अर्थात् स्वाभाविक या स्वतःसिद्ध, जैसे यह कहा जाता है कि सृष्टि के आरम्भ में महामुनि कपिल धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए थे। कपिल के ये भाव प्राकृतिक अर्थात् सांसिद्धिक=स्वतः सिद्ध थे। वैकृत भाव वे हैं जो सहज या जन्मसिद्ध न होकर उपायविशेष करने से उत्पन्न होते हैं, जैसे वाल्मीकि आदि महर्षियों के ज्ञान आदि।

विशेष—इस कारिका भाव यह है कि बुद्धि के ज्ञान, अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य—ये आठ भाव एक जन्म से दूसरे जन्म में संसरण के हेतु होने के कारण निमित्त कहलाते हैं। ये प्राकृतिक और वैकृतिक रूप से दो प्रकार के होते हैं। जो धर्म, अधर्म आदि पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप सहज अर्थात् जन्म के साथ ही उत्पन्न होते हैं, वे तो स्वभाव सिद्ध होने से प्राकृतिक हैं, और जो इस जीवन में अपने प्रयत्न से मिलते हैं, वे वैकृतिक हैं। ये दोनों ही प्रकार के धम आदि भाव अगले संसरण के हेतु बनने के कारण 'निमित्त' कहलाते हैं। इन धर्म, अधर्म आदि निमित्तों से रज एवं वीर्य के संयोग के साथ कलल, बुद्बुद, मांस-पिण्ड आदि अवस्थाओं में होता हुआ जो शरीर बनता है, वह इनका नैमित्तिक या कार्य है। ये कलल आदि इस शरीर के गर्भावस्था के भाव हैं। शैशव, कुमारपन, यौवन तथा वृद्धता गर्भ से बाहर निकले हुए शरीर के भाव हैं।४३॥

युक्तिः—आह, भावा इति तत्र भवताऽभिधीयते, न चास्य शब्दस्यार्थं प्रतिपद्यामहे। तस्माद्वक्तव्यमिदं के पुनरमी भावा इति? उच्यते—धर्माद्या भावाः। धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमित्येते भावाः। तत्राचार्याणां विप्रतिपत्तिः। पञ्चाधिकरणस्य तावद् द्विविधं ज्ञानं प्राकृतिकं वैकृतिकं च। प्राकृतिकं त्रिविधं—तत्त्वसमकालं सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च। तत्र तत्त्वसमकालं संहतश्च महांस्तत्त्वात्मना महति प्रत्ययो भवति। उत्पन्नकार्यकारणस्य तु सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च भवति। सांसिद्धिकं यत्संहतव्यूहसमकालं निष्पद्यते, यथा परमर्षेर्ज्ञानम्। आभिष्यन्दिकं च संसिद्धकार्यकरणस्य कारणान्तरेणोत्पद्यते। वैकृतं तु द्विविधं स्ववैकृतं परवैकृतं च। स्ववैकृतं तारकम्। परवैकृतं सिद्धयन्तराणि। आह च—

तत्त्वसमं वैवर्तं तत्राभिष्यन्दिकं द्वितीयं स्यात्।
वैकृतमतस्तृतीयं षाट्कौशिकमेतदाख्यातम्॥

अत्र तु तत्त्वैः सहोत्पत्त्यविशेषात्सांसिद्धिकमभेदेनाह—

वैकृतमपि च द्विविधं स्ववैकृतं तत्र तारकं भवति।
स्यात्सप्तविधं परवैकृतं स्वतारादि निर्दिष्टम्॥ इति

यथा ज्ञानेमेवं धर्मादयोऽपीति। विन्ध्यवासिनस्तु नास्ति तत्त्वसमं सांसिद्धिकञ्च। किं

तर्हि सिद्धिरूपमेव। तत्र परमर्षेरपि सर्गसंघातव्यूहोत्तरकालमेव ज्ञानं निष्पद्यते यस्माद् गुरुमुखाभिप्रतिपत्तेः प्रतिपत्स्यत इत्यपीत्याह—सिद्धं निमित्तं नैमित्तकस्यानुग्रहं कुरुते, नापूर्वमुत्पादयतीति। निमित्तनैमित्तिकभावाच्चैवमुपपद्यते। तत्र परमर्षेः पटुरूहः अन्येषां क्लिष्ट इत्ययं विशेषः। सर्वेषामेव तु तारकाद्यविशिष्टमाचार्य आह—त्रिविधा भावाः सांसिद्धिकाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्चेति। तत्र सांसिद्धिकग्रहणात्तत्त्वसमकालं प्रत्याचष्टे, नैव तदस्तीति। कथम्? यदि हि तथा स्यात्तत्त्वान्तरानुत्पत्तिसंघातो व्यूहश्चानर्थकः स्यात्। महत्युत्पन्नं ज्ञानं तत्रैवोपलब्धमिति कः संघातार्थः? तथा चर्षेरूहो नोपपद्यते, प्रतिबन्धाभावात्। न ह्यस्य कार्यकारणव्यूहसमकालज्ञानोत्पत्तौ कश्चित्प्रतिबन्धोऽस्ति। अपरिवृतखलत्वाद्यतः कालान्तरं प्रतीक्षते। तस्मादस्य सहैव कार्यकारणाभ्यां ज्ञानमभिनिष्पद्यते प्रदीपप्रकाशवदित्यतः सांसिद्धिकम्। अन्येषां तु सत्त्वस्याऽपटुत्वात्कालान्तरेण प्रकृत्यभिष्यन्दाद् द्रागिति भवति। कृष्णसर्पदर्शनवत्। तत्प्राकृतम्। वैकृतं तु द्विविधं पूर्ववत्। यथा च परमर्षेर्ज्ञानं सांसिद्धिकमेवं माहात्म्यशरीरस्यैश्वर्यं, भृग्वादीनां धर्मः, सनकादीनां वैराग्यम्। अधर्मो यक्षरक्षःप्रभृतीनाम्। अनैश्वर्यं षट्सिद्धिक्षयकालोत्पन्नानां मानुषाणां तिरश्चाञ्च। रागोऽज्ञानं परमर्षिवर्ज्यानाम्। प्राकृतास्तु तद्यथा वैराग्यं भगवदासुरेः। तस्य हि परमर्षिसम्भावनादुत्पन्नो धर्मः, अशुद्धिं प्रतिद्वन्द्विभावादपजगाम। तस्यामपहृतायां प्रकृतेः शुद्धिस्रोतः प्रवृत्तं येनाऽनुगृहीतो दुःखत्रयाभिघातादुत्पन्नजिज्ञासः प्रव्रजितः। तथा महेश्वरसम्पर्कान्नन्दिन ऐश्वर्यम्। नहुषस्यागस्त्यसम्पर्काद्धर्म इत्यादि। वैकृतास्तु भावा अस्मदादीनाम्। एवं त्रिविधभावपरिग्रहात्त्वाचार्यस्य न सर्वं स्वतः पतञ्जलिवत्, न सर्वं परतः पञ्चाधिकरणवत्। किन्तर्हि महती स्वभावातिवृत्तिः प्रकृतितोऽल्पा स्वतो विकृतितः। एवम्

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः।

दृष्टाः करणाश्रयिणः

यथा चैते तथा

कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः॥ ४३॥

त्रिविधा एवेति कललादिग्रहणेन शरीराण्याह। तेषामाकृतिवैश्वरूप्यं चतुर्दशविधे संसारे त्रिविधम्। तत्र सांसिद्धिकस्तावत् वैवर्त्तानां ग्रहनक्षत्रतारादीनाम्। जातिकृतश्च विशेषः हंसानां शौक्ल्यम्, तित्तिरिमयूरादीनां चित्रच्छदत्वमिति। प्राकृतं यथामाहात्म्यं शरीराभिमानात् तस्य ह्यभिमानो भवति—हन्ताहं पुत्रान्स्रक्ष्ये ये कर्म करिष्यन्ति। ये मां परं च ज्ञास्यन्ति। स यादृक्सर्गमभिध्यायति तादृक्प्रधानादुत्पद्यते। तद्यथा महेश्वरस्य रुद्रकोटिसृष्टाविति। वैकृतास्तु कललाद्याः। यथा भिषग्वेदेऽभिहितम्—क्षीरं पीत्वा गर्भिणी गौरं पुत्रं जनयतीति। एते भावा व्याख्याताः। एषां वैश्वरूप्याल्लिङ्गस्य गतिविशेषः संसारो भवतीति॥ ४३॥

धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चाऽपवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्धः ।। ४४ ।।

अन्वयः—धर्मेण, ऊर्ध्वम्, गमनम्, (भवति); अधर्मेण, अधस्तात्, गमनम्, भवति; ज्ञानेन, अपवर्गः, विपर्ययात्, बन्धः, इष्यते ।। ४४ ।।

शब्दार्थः—धर्मेण=धर्म से, ऊर्ध्वम्=ऊपर के लोकों में, गमनम्=जाना, (भवति= होता है); अधर्मेण=अधर्म से, अधस्तात्=नीचे के लोकों में, गमनम्=जाना, भवति= होता है; ज्ञानेन=ज्ञान से, अपवर्गः=मोक्ष, विपर्ययात्=उससे विपरीत अर्थात् अज्ञान से, बन्धः=बन्धन, इष्यते=कहा गया है ।। ४४ ।।

अर्थः—धर्म से ऊपर के लोकों में तथा अधर्म से नीचे के लोकों में जाना होता है। ज्ञान से मोक्ष तथा उसके विपरीत अर्थात् अज्ञान से बन्धन कहा गया है ।।४४।।

त० प्र०—धर्मेण सुकृतेन यागादिना इत्यर्थः ऊर्ध्वं द्युप्रभृतिषु लोकेषु गमनं भवति। अधर्मेण दुष्कृतेन हिंसादिना अधस्तात् सुतलादिषु नरकादिषु वा गमनं भवति। धर्माचरणेन मानवाः सूक्ष्मशरीरेण उत्तमेषु लोकेषु व्रजन्ति, ततः पुण्ये क्षीणे उत्तमेष्वेव कुलेषु उत्पद्यन्ते। अधर्माचरणेन निन्दितेषु भुवोऽधस्ताद्वर्तमानेषु सुतलादिषु नरकेषु वा गच्छन्ति; पुनः ततः अधमेषु कुलेषु वा योनिषु जायन्ते इति भावार्थः। ज्ञानेन पञ्चविंशतितत्त्वानां यथार्थतः ज्ञानेन प्रकृतिपुरुषविवेकेन वा अपवर्गः मोक्षः, प्रकृतिकृतभोगराहित्यमित्यर्थः, जायते। अस्यामवस्थायां सूक्ष्मशरीरस्यापि निवृत्तिर्भवति। विपर्ययात् अज्ञानात् यथार्थतः तत्त्वज्ञानाभावादित्यर्थः बन्धः सुखदुःखात्मकः बन्धः इष्यते। एष बन्धस्त्रिविधः – प्राकृतो वैकारिको दाक्षिणकश्च। तत्र प्राकृतः प्रकृतौ लयः, वैकारिकः महदादिषु विकारेषु लयः, दाक्षिणकः दक्षिणादानेन स्वर्गादिलाभो दाक्षिणको बन्धः। एतत्सर्वं 'वैराग्यात्प्रकृतिलयः' इत्यनेनाग्रे वक्ष्यति ।। ४४ ।।

टिप्पणी—बन्धन तीन प्रकार का होता है—(१) प्राकृत (२) वैकारिक और (३) दाक्षिणक। इनमें प्राकृतिक बन्धन उनको प्राप्त होता है, जो प्रकृति को ही आत्मा समझकर उसी की उपासना करते हैं। ऐसे लोग अन्त में प्रकृति में ही लीन होते हैं।

वैकारिक बन्धन उन्हें प्राप्त होता है, जो भूतों (पृथिवी आदि), इन्द्रियों अहङ्कार और बुद्धि इत्यादि प्रकृति के विकारों (कार्यों) की ही पुरुष भाव से उपासना करते हैं। इस प्रकार के लोग अन्त में विकारों में ही लीन होते हैं।

दाक्षिणक बन्धन उन्हें प्राप्त होता है, जो पुरुष को नहीं जानते और स्वर्गादि की कामना से अग्निहोत्र, वापी, कूप आदि का निर्माण तथा यज्ञ में गायों एवं सुवर्ण आदि का दान करते हैं। स्वर्ग में जाने पर ऐसे लोग स्वर्गीय शरीरादि रूप बन्धन को प्राप्त करते हैं ।। ४४ ।।

युक्ति०—आह, कस्य पुनर्भावस्यानुष्ठानात्को गमनविशेषो लिङ्गस्य निष्पद्यत इति ? उच्यते—

धर्मेण गमनमूर्ध्वम्

उक्तो धर्मः । तदनुष्ठानादष्टविकल्पायां देवभूमावुत्पत्तिर्भवति ।

गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।

अधर्मोऽप्युक्तः । तदनुष्ठानात्पञ्चविकल्पायां तिर्यग्भूमावुत्पत्तिर्भवति । आह, एकभूमिविशेषानुपपत्तिः, गतिविशेषात् । यदि भावानां भूमिविशेषनिमित्तत्वं नियम्यते तेनैकस्या भूमौ हीनमध्यमोत्कृष्टत्वं जात्याकृतिस्वभावानुग्रहोपघातानां न प्राप्नोति । उच्यते - न तर्ह्यनेन भूमिविशेषो नियम्यते, किं तर्हि ऊर्ध्वशब्द उत्कृष्टवचनः । धर्मेण देवेषु मानवेषु तिर्यक्षु चोर्ध्वगमनमुत्कृष्टं जन्म भवति । तथाऽधर्मादधोगमनमपकृष्टं जन्म भवति ।

ज्ञानेन चाऽपवर्गः

चशब्दोऽत्रधारणार्थः । ज्ञानेनैवापवर्गः, न भावान्तरेणेति । यदुक्तमन्यैराचार्यैः—वैराग्यात्पुरुषकैवल्यं ज्ञानवैराग्याभ्यां चेति तत्प्रतिषिद्धं भवति ।

आह, यदि पुनर्वैराग्यात्पुरुषकैवल्यमभ्युपगम्यते क एवं सति दोषः स्यात् ? उच्यते—न शक्यमेवं प्रतिपत्तुम् । कस्मात् ? संसारनिमित्ताऽप्रतिपक्षत्वात् । यदि रागादिनिमित्तः प्रधानपुरुषसंयोगः स्यात् प्राप्तमिदं तत्प्रतिपक्षेण वैराग्येण वियोगो भविष्यतीति । न त्वेवम् । कुतः ? संयोगकृते कार्यकरणसर्गे सति निष्पत्तेः । कार्यकरणव्यूहोत्तरकालं हि रागो भवति । तस्मान्नासौ कार्यकरणनिष्पत्तेर्निमित्तमिति शक्यमाश्रयितुम् । यस्य तु ज्ञानान्मोक्ष इति पक्षः, तस्य प्रतिपक्षादज्ञानाद्बन्ध इति प्राप्तमस्ति, न चासौ प्रागपि कार्यकरणनिष्पत्तेः । तस्मान्न वैराग्यान्मोक्षः । अतएव न ज्ञानवैराग्याभ्यां मोक्षोऽस्ति । उभयनिमित्ताऽसम्भवात् । तस्मात्सूक्तं ज्ञानेनैवाऽपवर्गः । ज्ञानविपर्ययोऽज्ञानम् । तस्माद्

विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

बन्धस्त्रिविधो भवति प्रकृतिबन्धो दक्षिणाबन्धो वैकारिकबन्धश्चेति ॥ ४४ ॥

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—वैराग्यात्, प्रकृतिलयः; राजसात्, रागात्, संसारः; ऐश्वर्यात्, अविघातः; विपर्ययात्, तद्विपर्यासः, भवति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः – वैराग्यात्=वैराग्य से, प्रकृतिलयः=प्रकृति में लय; राजसात्=रजोमय, रागात्=राग से, संसारः=एक जन्म से दूसरे जन्म में संसरण; ऐश्वर्यात्=ऐश्वर्य से, अविघातः=(इच्छा की) सफलता; विपर्ययात्=ऐश्वर्य के अभाव से, तद्विपर्यासः=उसका (इच्छा का) हनन, भवति=होता है ॥ ४५ ॥

अर्थः—वैराग्य से प्रकृति में लय, रजोमय राग से एक जन्म से दूसरे जन्म में संसरण, ऐश्वर्य से (इच्छा की) सफलता तथा ऐश्वर्य के अभाव से उसका (इच्छा का) हनन होता है ॥ ४५ ॥

त० प्र०—वैराग्यात् वशीकारसञ्ज्ञाख्यात् वैराग्यमात्रात् प्रकृतिलयः प्रकृतौ प्रधाने लयः लीनता, न मोक्षः, ततो भूयोऽपि संसरति पुरुषतत्त्वानभिज्ञस्य केवलवैराग्ययुक्तस्य जनस्य न मोक्षः, अपि तु प्रकृतिलयो भवति। अत्र प्रकृतिग्रहणेन प्रकृतिमहदहङ्कारभूतेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेष्वात्मबुद्ध्योपास्यमानेषु लयो भवतीत्यर्थः। एतदेव सूत्रेऽपि निर्दिष्टम्— "न कारणलयात् कृतकृत्यता, मग्नवदुत्थापनात्।" तथा च पुराणवचनम्—

"दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं, सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धाः दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते॥"

राजसात् रजःकार्यात् रागात् संसारः लोके संसरणं जन्ममरणानीत्यर्थः, भवति। यागादिरागात् स्वर्गादौ संसरणम्, स्त्र्यादिरागादिह लोके च संसरणं भवति। ऐश्वर्यात् अष्टगुणात् अणिमादियुक्तादैश्वर्यादित्यर्थः अविघातः गतीच्छादेः सर्वत्र सफलता भवति। विपर्ययात् अनैश्वर्यात् तद्विपर्यासः तस्य अविघातस्य विपर्यासः विघातः सर्वत्र गतीच्छादिविच्छेदः इत्यर्थः भवति ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—"वैराग्यात् प्रकृतिलयः"—'वैराग्य से प्रकृति में लय' होने का तात्पर्य है कि वैराग्य से युक्त किन्तु पुरुषतत्त्व के यथार्थज्ञान से हीन व्यक्ति को प्रकृति-लय प्राप्त होता है। यहाँ पर 'प्रकृति' के ग्रहण से प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, पृथिवी आदि भूत और इन्द्रियों का ग्रहण किया गया है। इन्हीं को आत्मा समझ कर इनकी उपासना करने पर मृत्यु के अनन्तर उपासक का इन्हीं में लय हो जाता है और कालान्तर में पुनः उत्पत्ति होती है।

ऐश्वर्यात्—अणिमा, महिमा आदि ऐश्वर्य कहे जाते हैं। इनका वर्णन पीछे कारिका में किया जा चुका है ॥ ४५ ॥

युक्ति०—आह, कस्माद् भावात्प्रकृतिबन्धो भवति ? उच्यते—

वैराग्यात् प्रकृतिलयः

वैराग्यादष्टसु प्रकृतिषु लयं गच्छति, असावुच्यते प्रकृतिबन्ध इति। आह, यदि वैराग्यात्प्रकृतिलयः प्राप्तो यदेतत्प्रकृतौ वैराग्यमाञ्जसम्। अन्या प्रकृतिस्त्रिगुणा, कारणभूता, कार्यभूता, कार्यकारणभूता, अकार्यकारणभूता अचेतना परतन्त्रा चेति। अन्यः पुरुषो निर्गुणो, न कार्यं, न कारणं, न कार्यकारणं, तद्विपरीतः चेतनः स्वतन्त्रश्चेति

ततोऽपि प्रकृतौ लयः ततश्चाऽनिर्मोक्षप्रसंग इति। उच्यते—विपर्ययादिति वर्तते। तदिहाभिसम्भन्त्स्यामः। ततश्च विपरीतं यदेव वैराग्यं तुष्टिकाण्डानुपतितं प्रकृत्यादिषु परत्वाभिमानः तत एव प्रकृतिलयो भवति नान्यस्मात्। अथवाऽत्रापि यत्तत्प्रकृतावन्यत्व-ज्ञानं तत एव मोक्षो न वैराग्यात्। कुतः? भवबीजाप्रतिपक्षत्वादिति ह्युक्तम्। आम्भसिकस्य च मोक्षप्रसंगात्। तुल्या ह्यस्य नानात्वसंविद्, आसंगदोषनिवृत्तेः। न चैतदिष्टम्। तस्माद्युक्तमेतत् वैराग्यात्प्रकृतिलय इति।

आह, अथ दक्षिणाबन्धः कुतः? उच्यते—

संसारो भवति राजसाद् रागात्।

योऽयं दृष्टानुश्रविकविषयाभिलाषः स रागः। तत्र दृष्टविषयरागात्तत्प्राप्तिनिर्वर्तकं कर्म करोति। ततश्च तत्रोपपद्यते। आनुश्रविकविषयाभिलाषादग्निहोत्रादिषु प्रवर्तते। ततश्च स्वर्गादिषूपपत्तिर्भवति। असौ दक्षिणाबन्धः। दृष्टानुश्रविकविषयाभिलाषद्वारेण तन्निर्वर्तके कर्मणि प्रवर्तमानो गुणवृत्तिवैचित्र्यादनिष्टफलनिर्वर्तकमपि कर्म करोति। एवं मानुष्ये गत्यन्तरे योपपत्तिः सर्वाऽसौ रागात्। आह, राजसग्रहणानर्थक्यम्, तत्पूर्वकत्वाद्रागस्य। रजोनिमित्त एव हि रागः। तत्र संसारो रागादित्येव वक्तव्यम्, राजसग्रहणमनर्थकमिति। उच्यते न, विषयविशेषणत्वात्। विषये यो रागः स संसारहेतुरित्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थ-मिदमुच्यते। अन्यथा यो यतेः सात्त्विको यमनियमध्यानाद्यनुष्ठानानुरागः प्रवचनरागो वा सोऽपि संसाराय स्यात्।

ऐश्वर्यादविघातः

यदष्टगुणमैश्वर्यमणिमादि प्रागुपदिष्टं तस्मात्स्वे स्वे विषयेऽविघात उत्पद्यते। तद-भिरतिर्वैकारिको बन्धः।

आह, यदि त्रिभिस्त्रिभिर्निमित्तैर्वैराग्यादिभिस्त्रिविधो बन्धो निर्वर्त्यते युक्तमज्ञानाद् बन्ध इति तदयुक्तम्। भावान्तरं ह्यज्ञानमतः फलान्तरेण भवितव्यमिति। उच्यते—न, मूलकारणत्वात्। ज्ञानवर्जितानां हि भावानां यत्फलं तत्राऽज्ञानं मूलम्। तन्निमित्तत्वात्स-र्वेषाम्। न हि ज्ञानिवैराग्यमलं प्रकृतिलयाय। तथेतराणि परमर्ष्यादावदृष्टत्वाद् विचित्रं कार्यमेकस्मात्कारणादयुक्तमिति वैराग्यादीन्यसाधारणानि पृथक् कल्प्यन्ते, साधारणं त्वज्ञानमतो न कश्चिद्दोषः।

विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

अनैश्वर्यात्तु अणिमादेरष्टविधादविघातविपर्ययो विघातो भवति। तदेवमेतदष्टविधं धर्मादिविधानमुपादायाऽष्टविधं नैमित्तिकमुपपद्यते। एवमेष तत्त्वसर्गो भावसर्गश्च व्याख्यातः। एतच्च व्यक्तस्य रूपं प्रवृत्तिश्च परिकल्प्यते। फलमिदानीं वक्ष्यामः ॥ ४५ ॥

॥ इति युक्तिदीपिकायामष्टममाह्निकं तृतीयं च प्रकरणम् ॥

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च[1] भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः, एषः, प्रत्ययसर्गः, (अस्ति); गुणवैषम्य-विमर्दात्, तस्य, भेदाः, तु, पञ्चाशत्, (सन्ति) ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः = विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), अशक्ति, तुष्टि (सन्तोष), और सिद्धि नामवाला, एषः=यह गण, प्रत्ययसर्गः=बुद्धि का परिणाम, (अस्ति=है); गुणवैषम्यविमर्दात्=गुणों की न्यूनाधिकता से पारस्परिक अभिभव होने के कारण, तस्य=उसके (प्रत्यय सर्ग के), भेदाः=भेद, तु=तो, पञ्चाशत्=पचास, (सन्ति=हैं) ॥ ४६ ॥

अर्थः—विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामवाला यह गण बुद्धि का परिणाम है (अर्थात् विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि—ये चार बुद्धि के परिणाम हैं) । गुणों की न्यूनाधिकता से पारस्परिक अभिभव होने के कारण इस प्रत्यय सर्ग के भेद तो पचास होते हैं ॥ ४६ ॥

त० प्र०—विपर्ययश्च अशक्तिश्च तुष्टिश्च सिद्धिश्च आख्याः नामानि यस्य सः विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः । तत्र विपर्ययः मिथ्याज्ञानम्, अशक्तिः इन्द्रियादीनामसामर्थ्यम्, तुष्टिः मोक्षविरोधी प्राकृतिकः सन्तोषः, सिद्धिः अणिमादिसामर्थ्यम् । एष गणः, प्रत्ययसर्गः प्रतीयते निश्चीयते अनेनेति प्रत्ययः बुद्धिः, तस्य सर्गः परिणामः अस्तीति शेषः । प्रत्ययसर्गस्य चतुर्धा विभागस्तु संक्षिप्तः प्रोक्तः, अधुना तस्य विस्तृतो विभागः प्रस्तूयते—गुणवैषम्यविमर्दादिति—गुणानां सत्त्वरजस्तमसां वैषम्यं न्यूनाधिकबलता मन्दमध्यप्रबलभावेन नानाविधत्वं तेन विमर्दः गुणस्य गुणयोर्वा अभिभवः तस्मादित्यर्थः । तस्य चतुर्धा विभक्तस्य प्रत्ययसर्गस्य भेदाः प्रकारास्तु पञ्चाशत् सन्तीति शेषः । अत्रेदं ध्येयम्—पूर्वोक्तस्य धर्माद्यष्टविधस्य बुद्धिपरिणामस्य विपर्ययादिचतुष्टयेऽन्तर्भावो भवति, तद्यथा—अज्ञानस्याऽधर्मस्य च विपर्यये, अवैराग्यस्याऽनैश्वर्यस्य चाऽशक्तौ, धर्मवैराग्ययोस्तुष्टौ, ज्ञानैश्वर्ययोः सिद्धौ ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—गुणवैषम्यविमर्दात्—गुणों का वैषम्य अर्थात् एक-एक या दो-दो गुणों की अधिकता और एक-एक या दो दो की कमी । गुणों की यह न्यूनाधिकता उनके सुख, दुःख आदि कार्यों के न्यूनाधिकता से समझी जाती है । गुणों की इस विषमता से उत्पन्न विमर्द अर्थात् एक-एक या दो-दो कम बलवालों के अभिभव से पचास भेद हो जाते हैं । विशेष बातें आगे मिलेंगी ॥ ४६ ॥

---

१. 'तस्य भेदास्तु'—यह पाठ माठरवृत्ति आदि में मिलता है । किन्तु एक मात्रा कम होने से यह ठीक नहीं है ॥

युक्तिः—आह, किं पुनस्तत्फलमिति ? उच्यते—यः खलु

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।

तत्फलमिति वाक्यशेषः। एष इति वक्ष्यमाणस्य सम्मुखीकरणार्थमुच्यते। प्रत्ययसर्ग इति प्रत्ययः पदार्थो लक्षणमिति पर्यायाः, प्रत्ययानां सर्गः प्रत्ययसर्गः पदार्थसर्गो लक्षणसर्ग इत्यर्थः। अथवा प्रत्ययो बुद्धिर्निश्चयोऽध्यवसाय इति पर्यायाः। तस्य सर्गोऽयमतः प्रत्ययसर्गः प्रत्ययकार्यं प्रत्ययव्यपार इत्यर्थः। अथवा प्रत्ययपूर्वकः सर्गः प्रत्यसर्गः। बुद्धिपूर्वक इत्युक्तः। कथम् ? एवं हि शास्त्रम्—"महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात्। उत्पन्नकार्यकरणस्तु महात्म्यशरीर एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ हन्ताऽहं पुत्रान्स्रक्ष्ये ये मे कर्म करिष्यन्ति। ये मां परं चापरं च ज्ञास्यन्ति। तस्याऽभिध्यायतः पञ्च मुख्यस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः। तेषूत्पन्नेषु न तुष्टिं लेभे। ततोऽन्ये तिर्यक्स्रोतसोऽष्टाविंशति प्रजज्ञे। तेष्वप्यस्य मतिर्नैव तस्थे। अथाऽपरे नवोर्ध्वस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः। तेष्वप्युत्पन्नेषु नैव कृतार्थमात्मानं मेने। ततोऽन्येऽष्टावर्वाक्स्रोतस उत्पेदुः। एवं तस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नस्तस्मात्प्रत्ययसर्गः। स विपर्ययाख्यः, अशक्त्याख्यः तुष्ट्याख्यः, सिद्ध्याख्यश्चेति।" तत्राऽश्रेयसः श्रेयस्त्वेनाभिधानं विपर्ययः। वैकल्यादसामर्थ्यमशक्तिः। चिकीर्षितादूनेन निर्वृतिस्तुष्टिः। यथेष्टस्य साधनं सिद्धिः। तद्यथा धर्मार्थप्रवृत्तोऽग्निष्टोमादीन्परित्यज्य संकरं कुर्वीत सोऽस्य विपर्ययः। साधनवैकल्यादसामर्थ्यमशक्तिः। आधानमात्रसन्तोषस्तुष्टिः। कृत्स्नस्य क्रियातिशेषस्यानुष्ठानं सिद्धिः। एवमर्थादिषु योज्यम्। यश्चायं चतुर्विधः फलविशेषो विपर्ययादिराख्यातः

गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य भेदास्तु पञ्चाशत्॥ ४६॥

गुणानां वैषम्यं गुणवैषम्यम्। गुणवैषम्यं प्राधान्यगुणभावयोग इत्यर्थः। गुणवैषम्याद्विमर्दो गुणवैषम्यविमर्दः, प्रत्ययपर्यायेण सत्त्वरजस्तमसामितरेतरभावः। तन्निमित्ता एषां प्रत्ययाणां पञ्चाशद्भेदा भवन्ति॥ ४६॥

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च[1] करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः॥ ४७॥

अन्वयः—पञ्च, विपर्ययभेदाः, भवन्ति; करणवैकल्यात्, अशक्तिः, अष्टाविंशतिभेदा; तुष्टिः, नवधा; (तथा), सिद्धिः, अष्टधा, (भवति)॥ ४७॥

शब्दार्थः—पञ्च=पाँच, विपर्ययभेदाः=विपर्यय के भेद, भवन्ति=होते हैं; करणवैकल्यात्=करणों (इन्द्रियों) के दोष के कारण (होनेवाली), अशक्तिः=अशक्ति, अष्टाविंशतिभेदाः=अट्ठाइस प्रकार की, तुष्टिः=तुष्टि, नवधा=नव प्रकार की; (भवति= होती है)॥ ४७॥

१-भवन्त्यशक्तेश्च—माठरवृत्ति। भवन्त्यशक्तेस्तु—गौडपाद।

अर्थः—पाँच 'विपर्यय' के भेद होते हैं। करणों के दोष के कारण (होने वाली) अशक्ति' अट्ठाईस प्रकार की, 'तुष्टि' नव प्रकार की, तथा 'सिद्धि' आठ प्रकार की होती है। (अर्थात् विपर्यय के पाँच भेद, करणों के दोष के कारण होने वाली 'अशक्ति' के अट्ठाईस भेद, 'तुष्टि' के नव भेद और 'सिद्धि' के आठ भेद होते हैं।) ॥ ४७ ॥

त० प्र०—तमो-मोह-महामोह-तामिस्र-अन्धतामिस्राः यथासंख्यम् अविद्या–अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाख्याः एते विपर्ययस्य मिथ्याज्ञानस्य पञ्च भेदाः सन्ति। क्लेशशब्देन एते योगदर्शने उक्ता भगवता पतञ्जलिना—"अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" इति, "क्लेशा इति-पञ्च विपर्यया" इति च तत्र व्यासभाष्यम्। एषां विपर्ययभेदानां नानात्वं वक्ष्यतेऽनन्तरमेव। करणवैकल्यात् करणानां बुद्धितत्त्वैकादशेन्द्रियाणां यद्वैकल्यं वधस्तस्मात् या अशक्तिः सा अष्टाविंशतिविधेत्यर्थः। तत्र करणानामेकादशानामिन्द्रियाणां वैकल्यात् स्वस्वविषयग्रहणे असामर्थ्यादिकादश, बुद्धिगतनवविधतुष्टीनां विपर्यया नव, अणिमाद्यष्टसिद्धीनां विपर्ययाः अष्टौ इति मिलित्वाऽष्टाविंशतिभेदा अशक्तिरिति विवेकः। अशक्तिः ४९ कारिकया वक्ष्यते। तुष्टिसिद्धी ५० कारिकया तथा ५१ कारिकया च वक्ष्येते ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—इस कारिका का भाव आगे की कारिकाओं में स्वयं ही स्फुट होता जायेगा। अतः इनका विवरण आगे की कारिकाओं में ही द्रष्टव्य है ॥ ४७ ॥

युक्ति०—[1]कथमित्युच्यते—

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्ति

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति। तत्राश्रेयसि प्रवृत्तस्य प्रत्ययावरे श्रेयोऽभिमाने आद्यो विपर्ययस्तम इत्यभिधीयते। भौतिकेष्वाकारेषु शिरःपाण्यादिष्वात्मग्रहो योऽयं व्यूढोरस्कः सितदशनस्ताम्राक्षः प्रलम्बबाहुः सोऽहमिति। तथा श्रवणस्पर्शनरसनघ्राणवचनादानविहरणोत्सर्गानन्दसंकल्पाभिमानाध्यवसायलक्षणासु करणवृत्तिष्वहं श्रोता द्रष्टा चेत्येवमादिराद्यकालप्रवृत्तो ग्रहः सर्वस्मादवरो मोह इत्युच्यते। कथं पुनरयमवरः इत्युच्यते पूर्वं शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमुपलब्धुमिच्छन्सौक्ष्म्यात्तदनधिगमे भूताकारमभूतं प्रमाणं परपरिकल्पितं वाऽनुमन्येत, स्वयं वा परिकल्पयेदिति न मार्गाद् दूरापगतमेतत्। अयं तु प्रत्यक्षादिगतोत्पत्तिस्थितिविनाशेष्वनेकरूपकेषु कार्यकरणेष्वहमिति अभिमन्यते, तस्मात्पूर्वस्मादवरः। बाह्ये तु विषये ममेदमित्यभिनिवेशः पूर्वस्मादवर इत्युच्यते। पूर्वः शरीरिणोऽप्रत्यक्षत्वात्करणवृत्त्यविशेषाद् वात्मवृत्तेः कार्यकरणे कुर्यादात्मबुद्धिमिति शक्यमेतद् भिन्ननिमित्ताकारदेशस्वभावप्रयोजनानुग्रहोपघातोत्पत्तिस्थितिविनाशांश्च मातृपितृपुत्रभ्रातृपुत्रदारगोहिरण्यवसनाच्छादनादीनयमकस्मादात्मत्वेन पश्यति, तस्मात्पूर्वस्मादवरः। क्रोधश्चतुर्थो विपर्ययः पूर्वस्मादवरः तामिस्र इत्यभिधीयते। कथं पुनरयं पूर्वस्मादवर इति?

१— कथं प्रत्ययाणां पञ्चाशद्भेदा भवन्तीति प्रश्नाशयः।

उच्यते—पूर्वोऽभिनिवेशप्रतिषेधमभ्यनुजानाति। यदाऽस्य बाह्यद्रव्यवियोगे कश्चित्कुशलसंसृष्ट एवं ब्रवीति संसारस्य.......बुद्धाववस्थाप्य विमृश्यतां यावदयं कालो यदि कश्चित्प्रियेणावियुक्तपूर्वः। तस्मादागमापायिषु बाह्येषु द्रव्येषु विदुषा नाभिनिवेशः कार्य इति, तदा प्रत्याह सत्यमेवमेतदिति। सन्निकृष्टस्तु वियोगकाल इति न बुद्धिरवस्थापयितुं शक्यते। क्रोधाविष्टस्तु स्वविकल्पितग्राहविपरीतबुद्धिरशक्यो दण्डेनापि निवर्तयितुम्। तस्मात्पूर्वस्मादवरः। मरणविषादः पञ्चमो विपर्ययः पूर्वस्मादवरोऽन्धतामिस्र इत्यभिधीयते। कथं पुनरयं पूर्वस्मादवर इत्युच्यते—पूर्वोऽभिनिवेशात्प्रतिषिध्यमानः प्रतीकारमन्ततो जिह्माक्षिनिरीक्षितो (?) नापि तावदारभते। न तु ब्रह्मादौ स्तम्बपर्यन्ते संसारे स्वनिमित्तनियततमपातस्य विनाशस्य केनचित्प्रतीकारः कृतः। तस्मादपरिहार्यं मरणमनुशोचत्पूर्वस्मादवर इति। एते पञ्च विपर्ययभेदा भवन्ति।

अशक्तिश्च करणवैकल्यात्।

अष्टाविंशतिभेदा

भवतीत्यनुवर्तते। तत्र बाह्यकरणवैकल्यं सह मनसैकादशप्रकारम्। सप्तदशविधं बुद्धिवैकल्यम्। एतेऽशक्तिभेदाः।

तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः॥ ४७॥

एवं चतुर्विधस्य प्रत्ययसर्गस्य गुणवैषम्यविमर्देन पञ्चाशद् भेदा भवन्ति॥ ४७॥

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च, दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवन्त्यन्धतामिस्रः॥ ४८॥

अन्वयः– तमसः, मोहस्य, च, भेदः, अष्टविधः; महामोहः, दशविधः; तामिस्रः, तथा, अन्धतामिस्रः, अष्टादशधा, भवन्ति॥ ४८॥

शब्दार्थः— तमसः=तमस् अर्थात् अविद्या का, मोहस्य=मोह का, भेदः=भेद, अष्टविधः=आठ प्रकार; महामोहः=महामोह, दशविधः=दश प्रकार, तामिस्रः=तामिस्र, तथा=और, अन्धतामिस्रः=अन्धतामिस्र, अष्टादशधा=आठारह प्रकार, भवन्ति=होते हैं॥ ४८॥

अर्थः– तमस् (अर्थात् अविधा) और मोह का भेद आठ-आठ प्रकार, महामोह दस प्रकार, तामिस्र और अन्धतामिस्र अठारह-अठारह प्रकार होते हैं॥ ४८॥

त० प्र०– विपर्ययभेदाः उच्यन्ते—तमसः अविद्यायाः भेदः प्रकारः अष्टविधः अष्टधा– प्रकृतिमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेषु अष्टसु प्रकृतिषु, 'आत्मा प्रकृत्यभिन्न' 'आत्मा महत्तत्त्वाभिन्नः' इत्यादिरूपा, आत्मबुद्धिरविद्या। योगसूत्रेऽपि अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' इत्युक्तम्। तस्याः अविद्यायाः एव तमः इति संज्ञा, अष्टविधविषयकत्वात् तस्याः अष्टविधत्वम्। 'मोहस्य च' अस्याप्यष्टविधत्वं चकारेणानुषज्यते। मोहस्य अस्मितायाः अपि अष्टविधो भेदो भवति। देवाः अष्टविधमैश्वर्यं प्राप्य 'अणिमावानस्मि' 'महिमावानस्मि' इति अभिमन्यन्ते, अयमेव अस्मिताऽपरपर्यायो मोहः।

अणिमाद्यष्टैश्वर्यविषयकत्वात् मोहस्य अष्टविधत्वमिति ज्ञेयम्। ऐश्वर्यविनाशे भूयः संसरन्तीति। दशविधो महामोहः'— महामोहः रागः इति। शब्दादिषु पञ्चसु दिव्यादिव्यतया दशविधेषु विषयेषु 'मे शब्दसुखं जायताम्' 'मे स्पर्शसुखं जायतामिति' रूपः रागः आसक्तिर्महामोहः, स च दशविधविषयत्वाद्दशविधः।

'तामिस्रोऽष्टादशधा'—तामिस्रो द्वेषः। 'अणिमा मा नङ्क्षीत्' 'महिमा मा नङ्क्षीत्' इत्यादिः ऐश्वर्यस्वरूपनाशे द्वेषोऽष्टधा; 'मद्भोग्यः शब्दो मा नङ्क्षीत्' 'स्पर्शो मा नङ्क्षीत्' इत्यादिः दशधा दिव्यादिव्यविषयकः शब्दादिभोग्यस्वरूपनाशे द्वेषः दशधा,—मिलित्वा अष्टादशधा। एतदेवाभिप्रेत्य योगसूत्रे 'दुःखानुशयी द्वेषः' इत्युक्तम्। 'तथा भवन्त्यन्धतामिस्रः'– अभिनिवेशो भयोऽन्धतामिस्रः। 'तथा' इत्यनेनाष्टादशधेत्यनुषज्यते। अन्धतामिस्रोऽपि अष्टादशधा भवतीत्यर्थः। प्राप्तैश्वर्याणाम् अवाप्तशब्दादिभोगानां जनानां देवानां वा 'असुरैरणिमा मा उपघानिषत्।' महिमा मा उपघानिषत्' इत्याद्यष्टधा त्रासः, 'शब्दो मा उपघानिषत्' इत्यादिः दिव्यादिव्यविषयकः दशधा त्रासो महामोहः, मिलित्वाऽष्टादशधा। तदेवं पञ्चप्रकारो विपर्ययोऽवान्तरभेदाद् द्वयधिकषष्ठिरिति ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—भेदस्तमसोऽष्टविधः—तमस् कहते हैं अविद्या को। अनित्य, अपवित्र, दुःखरूप तथा अनात्म वस्तुओं में नित्य, पवित्र, सुखरूप आत्मा की भावना करना अविद्या है। यह आठ प्रकार की होती है। साधक कभी प्रकृति को आत्मा मान बैठता है तो कभी बुद्धि, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राओं को। यही उसकी अविद्या है। उक्त आठ तत्त्वों में आत्मा की भावना करने से इसके आठ भेद हो जाते हैं।

मोहस्य च—मोह का दूसरा नाम है अस्मिता। देवता लोग अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों को पाकर 'मैं अणिमान् हूँ' 'मैं महिमावान् हूँ' ऐसा अभिमान करते हैं। वे अणिमा आदि को शाश्वतिक मान बैठते हैं। यही उनका मोह है। ऐश्वर्यों के विनष्ट हो जाने पर वे पुनः जन्म-मरण के चक्कर में फँसते हैं। अणिमा आदि विषयों के आठ प्रकार के होने के कारण मोह आठ प्रकार का कहा गया है।

दशविधो महामोहः—किसी वस्तु में दृढ़ आसक्ति यानी राग को महामोह कहते हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श दो तरह के होते हैं—दिव्य (सूक्ष्म) तथा अदिव्य (स्थूल)। दिव्य का भोग देवता आदि करते हैं तथा अदिव्य का भोग मनुष्य। 'मुझे शब्द-सुख प्राप्त हो' 'मुझे स्पर्श-सुख प्राप्त हो' इत्यादि प्रकार का राग दशप्रकार के शब्द आदि के विषय में होता है। अतः राग अर्थात् महामोह के दश भेद होते हैं।

तामिस्रोऽष्टादशधा—तामिस्र को द्वेष भी कहते हैं। 'मेरे अणिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य न नष्ट हों' 'मेरे दिव्य तथा अदिव्य भेद से दश प्रकार के शब्द आदि न नष्ट हों' ऐसी भावना का नाम ही तामिस्र है।

तथा भवन्त्यन्धतामिस्रः—अन्धतामिस्र को अभिनिवेश या भय भी कहते हैं। देवता अणिमादि आठों ऐश्वर्यों तथा दिव्य एवं अदिव्य शब्दादि विषयों का भोग करते हुए

डरते रहते हैं कि 'हमारे अणिमा आदि ऐश्वर्य तथा शब्द इत्यादि भोग असुरों द्वारा विनष्ट न कर दिये जाँय।' यही अभिनिवेश है, जो अन्धतामिस्र कहलाता है और अपने विषय के अट्ठारह प्रकार के होने से स्वयं भी अट्ठारह प्रकार का होता है ॥ ४८ ॥

युक्ति०—विस्तरेण तु पदार्थशतसाहस्रमानन्त्यं वा लक्षणानाम्। कथमित्युच्यते यस्मात्—

भेदस्तमसोऽष्टविधः

य एते पञ्च विपर्ययभेदा व्याख्याताः तेषु तमसोऽष्टविधो भेदः। कथम्? परविज्ञानमाश्रित्य प्रवृत्तस्याऽष्टासु प्रकृतिष्वपरासु पराभिमानग्रहात्।

मोहस्य च

किम्? अष्टविधो भेद इति। चशब्दात्कार्यकरणसामर्थ्येऽष्टविधेऽणिमादावहमिति प्रत्ययः।

दशविधो महामोहः।

मातृपितृ-भ्रातृ-स्वसृ-पत्नीपुत्रदुहितृगुरुमित्रोपकारिलक्षणे दशविधे कुटुम्बे योऽयं ममेत्यभिनिवेशः। दृष्टानुश्रविकेषु वा शब्दादिष्वित्यपरे। स दशविधो महामोहः परिसंख्यायते।

तामिस्रोऽष्टादशधा

अष्टविधे कार्यकरणसामर्थ्ये दशविधे च कुटुम्बे विषयेषु वा यः प्रतिहन्यमानस्यावेशः।

तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥

तथेति सामान्यातिदेशार्थः। अन्धतामिस्रोऽष्टादशधैवेति। कथम्? असावप्यष्टविधात्कार्यकरणसामर्थ्याद्दशविधाच्च कुटुम्बात्प्रत्यवसानस्य विषादः। एवमेते पञ्च विपर्ययभेदाः स्वलक्षणतो विषयविशेषा लक्षिताः। तत्रापि चाष्टासु प्रकृतिषु सत्त्वरजस्तमसां संहतविविक्तपरिणतव्यस्तसमस्तानां परत्वाभिमानभेदादेकैका प्रकृतिः पञ्चदशभेदा। अत एव तेऽष्टौ पञ्चदश विंशं शतञ्च भवन्ति। यथा मोक्षे प्रवृत्तस्य एवं धर्मकामेष्वपि। एकः पदार्थो विस्तरेण परिसंख्यायमानोऽनन्तभेदः सम्पद्यते। निदर्शनमात्रमेतदाचार्येण कृतम्। एवमशक्त्यादिष्वपि लक्षणान्तरेषु योज्यम्। सेयमविद्या पञ्चपर्वा सप्रपञ्चा व्याख्याता। तदनन्तरोद्दिष्टानशक्तिभेदान्वक्ष्यामः ॥ ४८ ॥

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदशवधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥

अन्वयः– बुद्धिवधैः, सह, एकादशेन्द्रियवधाः, अशक्तिः, उद्दिष्टा; तुष्टिसिद्धीनाम्, विपर्ययात्, बुद्धेः, सप्तदशवधाः, (भवन्ति) ॥ ४९ ॥

शब्दार्थः—बुद्धिवधैः=बुद्धि के (स्वरूप-गत) उपघातों के, सह=साथ, एकादशेन्द्रियवधाः=ग्यारह इन्द्रियों के उपघात, अशक्तिः=अशक्ति, उद्दिष्टाः=कहे गये हैं; तुष्टिसिद्धीनाम्=(नव) तुष्टि तथा (अष्ट) सिद्धि के, विपर्ययात्=विपर्यय (विपरीत रूप) से, बुद्धेः=बद्धि के, सप्तदशवधाः=सत्रह उपघात, (भवन्ति=होते हैं) ॥ ४९ ॥

अर्थः—बुद्धि के (अपने अर्थात् स्वरूप-गत) उपघातों के साथ ग्यारह इन्द्रियों के उपघात अशक्ति कहलाते हैं। नव 'तुष्टि' तथा अष्ट 'सिद्धि' के विपर्यय से बुद्धि के (अपने) सत्रह उपघात होते हैं ॥ ४९ ॥

त० प्र०—विपर्ययस्य स्वरूपमुक्त्वा तत्कारणस्याशक्तेरपि स्वरूपमुच्यते—बुद्धिवधैः बुद्धेः स्वरूपगतैः वधैः उपघातैः सह एकादशेन्द्रियवधाः एकादशानामिन्द्रियाणां श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनसां वधाः वैगुण्यानि अशक्तिरुद्दिष्टा कथिता। तत्रेन्द्रियाणां वधाः यथासंख्यम्—

बाधिर्यं कुष्ठितान्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा।
मूकता कौण्यपङ्गुत्वे क्लैब्योदावर्तमुग्धताः ॥

इन्द्रियाणां वधाः परतश्च बुद्धेः अशक्तयः, तस्याः अशक्तौ तद्धेतुत्वादिति ज्ञेयम्। बुद्धेः स्वतश्चाशक्तयः कति ? इति जिज्ञासमानायाह—'सप्तदशवधा बुद्धेः'। वक्ष्यमाणानां नव तुष्टीनां विपर्ययाः विघाताः नव तथा वक्ष्यमाणानामष्टसिद्धीनाञ्च विघाता अष्टाविति मिलित्वा चेमाः स्वतः सप्तदश बुद्धेरशक्तयः। एवमष्टाविंशतिविकल्पा अशक्तिरिति ॥४९॥

टिप्पणी—वधाः—'वध' का अर्थ होता है 'उपघात' 'अपने विषय को ग्रहण करने की अशक्ति' आदि। श्रोत्र इन्द्रिय का 'वध' है—'बहरापन'। त्वक् इन्द्रिय का 'वध' है—कोढ़ (कुष्ठ) होना। अक्षि इन्द्रिय का 'वध' है—अन्धापन। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के 'वध' को भी जानना चाहिए। इन्द्रियों के ये 'वध' बुद्धि के ही 'वध' कहे जाते हैं, क्योंकि इन्द्रियों के वध होने पर बुद्धि का भी वध होता है—वह किसी भी पदार्थ के विषय में कुछ भी निश्चय नहीं कर पाती। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों के ही विषय में बुद्धि किसी भी प्रकार का निश्चय करती है। अतः इन्द्रियों का भी 'वध' बुद्धि का ही वध है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि इस प्रकार का वध बुद्धि का साक्षात् वध नहीं अपितु परम्परया वध है। उसका साक्षात् वध तो नव तुष्टियों एवं अष्ट सिद्धियों का उपघात अर्थात् नव अतुष्टियाँ तथा अष्ट असिद्धियाँ हैं। तुष्टियों एवं सिद्धियों को आगे बतलाया गया है ॥ ४९ ॥

युक्ति०—आह, अतिव्यासाभिहितमिदमिति नास्माकं बुद्धाववतिष्ठते। तस्माद्विपर्ययोक्तं भेदाभिधानं परित्यज्य वक्तव्यं कथमशक्तिरष्टाविंशतिभेदेति ? उच्यते—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।

इन्द्रियाणां वधा इन्द्रियवधाः। स्वसंस्कारविषययोगात्प्रकर्षापन्नेन तमसा ग्रहणरूपस्य सत्त्वस्याभिभवात्स्वविषयेष्वप्रवृत्तयः। तद्यथा

बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं मूकता जडता च या।
उन्मादकौष्ठ्यकौण्यानि क्लैब्योदावर्तपङ्गुताः ॥

तत्र बाधिर्यं श्रोत्रस्य, आन्ध्यं चक्षुषः, अघ्रत्वं नासिकायाः, मूकता वाचः, जडता रसनस्य,

उन्मादो मनसः, कौष्ठ्यं त्वचः, कौण्यं पाणेः, क्लैब्यमुपस्थस्य, उदावर्तः पायोः, पङ्गुता पादयोरित्येवमिन्द्रियवधा एकादश । अन्ये तु

सप्तदशवधा बुद्धिर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥

तत्र तुष्टयः प्रकृत्याद्या वक्ष्यमाणाः, तासां द्विविधो विपर्ययः । अव्युत्पन्नस्य योगधर्मेण तस्यां भूमावप्रवृत्तिः, व्युत्पन्नस्य चोत्तरभूम्यपरिज्ञानात्पूर्वस्यां भूमावक्षेमरूपेण ग्रहणम् । आत्मविदो वा सर्वासु भूमिषु । तेषु यत्पूर्वं तदशक्तिभावाभिप्रेतम्, यन्मध्यमं तदापेक्षिकम् । कथम् ? तन्मात्रभूम्यवस्थो हि योग्यस्मितादिभूम्यनवजयात्तुष्टो महाभूतातिक्रमात्सिद्धः । तथा विजिताऽस्मितारूपो महदाद्यवस्थापेक्षया तुष्टः, पूर्वभूम्यपेक्षया सिद्धः । एवं महदवस्थः प्रधानापेक्षया पूर्वापेक्षया च । प्रधानावस्थः पुरुषापेक्षया पूर्वापेक्षया च । गुणपुरुषान्तरज्ञस्तु सिद्ध एव । तस्मादव्युत्पन्नस्याम्भःप्रभृतिषु नवाऽनम्भःप्रभृतयो बुद्धिवधाः । तारकादिविपर्ययेणाष्टाऽवतारकादयः । एषा खल्वशक्तिरष्टाविंशतिभेदा । तुष्टिस्तु सन्निहितविषयसन्तोषाच्चिकीर्षितादर्थादूनेन निवृत्तिः सामान्यत एकैव प्रत्यर्थमनन्ता, शतेन तुष्टः सहस्रेणेति । शास्त्रे तु बाह्याध्यात्मिकानां सुखदुःखमोहानां प्राप्तिष्वपगमेषु वाचाऽव्यवस्थालक्षणा उपायनवत्वान्नव तुष्टयो भवन्ति ॥ ४९ ॥

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च[1] नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥

अन्वयः—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः, चतस्रः, आध्यात्मिक्यः; विषयोपरमात्, पञ्च, बाह्याः, (इत्थम्), नव, तुष्टयः, अभिमताः ॥ ५० ॥

शब्दार्थः—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः=प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक, चतस्रः=चार, आध्यात्मिक्यः=आध्यात्मिक (भीतरी, आत्मा के सम्बन्ध में होने वाली); विषयोपरमात्=विषयों से वैराग्य होने के कारण, पञ्च=पाँच, बाह्याः=बाहरी; (इत्थम्=इस प्रकार), नव=नौ, तुष्टयः=तुष्टियाँ, अभिमताः=मानी गयी हैं ॥ ५० ॥

अर्थः—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक चार 'आध्यात्मिक' तथा विषयों से वैराग्य होने के कारण पाँच 'बाह्य'—इस प्रकार नव तुष्टियाँ मानी गयी हैं ॥ ५० ॥

त० प्र०—अत्रेदं बोध्यम्—तुष्टयस्तावद्द्वेधा भवन्ति—आध्यात्मिक्यः बाह्याश्च । तत्र प्रकृतिव्यतिरिक्तमात्मानं स्वीकृत्यापि याः खलु प्रवृत्ताः, तास्तुष्टयः आध्यात्मिक्यः उच्यन्ते । ताश्च प्रकृति-उपादान-काल-भाग्यनामभिः प्रसिद्धाः चतस्रः सन्ति । तासु प्रथमा प्रकृतितुष्टिः यथा—प्रकृतिविविक्ते आत्मनि ज्ञाने विवेकसाक्षात्कारो नाम प्रकृतिपरिणामः, तच्च प्रकृतिरेव विधास्यति इति तदर्थं ध्यानाभ्यासः व्यर्थः, इति विचार्य सञ्जाता साधकस्य तुष्टिः प्रकृत्युच्यते; अस्याः एव नामान्तरं संसारमज्जनहेतुत्वात् 'अम्भः' इत्युच्यते । द्वितीया उपादानतुष्टिः यथा—प्राकृत्यपि विवेकख्यातिः न प्रकृतिमात्रात् जायते, तस्याः

१. पञ्च नव च—माठर० । क्वचित्—पञ्च च नव ॥

सर्वान् प्रति अविशेषात् सर्वदा सर्वस्य विवेकख्यातिप्रसङ्गात् । अतः प्रव्रज्याहेतुकैव विवेकख्यातिरिति प्रव्रजितो भूत्वा ध्यानाभ्यासादिकं परित्यज्य आलस्यादिना तुष्टया तिष्ठति । उप वृद्धावस्थायाः समीपे आदानात् प्रव्रज्या उपादानमिति गीयते । सैव 'सलिलम्' परिव्रज्याख्या तुष्टिश्च कथ्यते । तृतीयां तुष्टिमाह कालेति—प्रव्रज्याऽपि साक्षात् मुक्तिदा न भवति; किन्तु कालमपेक्ष्यैवेति कालादेव विवेकख्यातिरूपा सिद्धिः भविष्यत्यलं प्रयासेनेति विचार्य साधकस्य या तुष्टिः सा तृतीया कालतुष्टिः, अस्याः एव नामान्तरम् 'ओघः' इति । चतुर्थीं तुष्टिमाह भाग्येति—कालादपि न सर्वेषां मुक्तिः, अपि तु भाग्यादेव कदाचित् कस्यचिन्मुक्तिः । मदालसापत्यानाम् अतिबाल्येऽपि स्वमातुरुपदेशमात्रादेव विवेकख्यातिप्राप्त्या निराबाधं कैवल्यमभूदिति श्रूयते, तस्मात् भाग्यमेव विवेकख्यातौ हेतुः, नान्यत् किमपि, इति विचार्य साधकस्य या तुष्टिः सा चतुर्थी तुष्टिः भाग्याख्या, तस्याः वृष्टिरिति नामान्तरम् । एताश्चतस्रः अध्यात्मनि भवा आध्यात्मिक्यः तुष्टयः । आत्मानं प्रकृत्यादिभिन्नं ज्ञात्वाऽपि असच्चिन्तनोपदेशादिना यो नात्मश्रवणादौ प्रयतते तस्यात्मविषयिण्यश्चतस्रः उक्तास्तुष्टयो भवन्तीत्यतस्ताः आध्यात्मिक्यः उच्यन्ते इत्यर्थः ।

इदानीं पञ्च बाह्याः तुष्टयो निरूप्यन्ते—पञ्चशब्दादिविषयोपरमो वैराग्यम्, तस्मात् तुष्टयः पञ्च बाह्याः । बाह्यान् आत्मभिन्नान् प्रकृतिमहदहङ्कारादीन् आत्मेत्यभिमन्यमानस्यैव विषयोपरमे सति याः तुष्टयः जायन्ते, ताः एव बाह्याः इत्युच्यन्ते । तथा हि--शब्दादिषु पञ्चस्वपि विषयेषु अर्जन-रक्षण-क्षय-भोग—हिंसादोषदर्शनजन्मानः पञ्च उपरमाः भवन्ति; तद्धेतुकत्वात् तुष्टयोऽपि पञ्च भवन्ति । तत्र स्रक्चन्दनाद्यर्जने क्लेशपरम्परां भावयतः विद्यया उपरमे या तुष्टिः, सा प्रथमा बाह्या तुष्टिः,सा धनाद्यर्जनदुःखस्य पारं प्रापयित्री, अतः तस्याः पारमिति नामान्तरम् । तथा कथञ्चिदर्जितस्य चौरादिभिः रक्षणमपि कष्टदायकमिति कृत्वा विषयोपरमे या तुष्टिः सा अतितरां दुःखपारं प्रापयितृत्वात् 'सुपारा' इत्युच्यते ।

तृतीया बाह्यतुष्टिरुच्यते-विशिष्टायासेन उपार्जितं रक्षितञ्चापि धनं भुज्यमानं क्षीयते एवेति तद्विनाशं भावयतः विषयोपरमे या तुष्टिः, सेयं तृतीया तुष्टिरित्युच्यते । विषयेषु प्रवृत्त्यप्रवृत्त्योः क्रमशः दुःखस्य पारापारौ, अतः अस्याः एव तुष्टेर्नामान्तरं पारापारमिति । चतुर्थी बाह्यतुष्टिरुच्यते—भोगाभ्यासात् कामाः वृद्धिं गच्छन्ति । ते पुनः अभीप्सितविषयालाभे कामिनं जनं नितरां पीडयन्तीति भोगदोषं भावयतः विषयोपरमे या तुष्टिः सा चतुर्थी, अनुत्तमाम्भः इति तस्याः नामान्तरम् । "विषयेभ्यः पुरुषं जलवद् द्रवन्त्यपि उत्तमतया न द्रवन्ती इति 'न उत्तमा द्राविका' इति 'अनुत्तमाम्भः' इत्युच्यते" इति विदुषां मतम् । पञ्चमी तुष्टिः कथ्यते—भोगेऽवश्यं प्राणिहिंसा जायते एवेति दोषदर्शनात् विषयोपरमे या तुष्टिः सैव पञ्चमी बाह्यतुष्टिरित्यर्थः अस्याः 'उत्तमाम्भः'

इति नामान्तरम् । "हिंसादोषस्य कारुण्योत्पादकत्वात् उत्तमस्य आर्द्रीभावस्य लाभात् 'उत्तमाम्भः' इत्युच्यते" इति विदुषां व्याख्यानम् । तदित्थमाध्यात्मिकीभिश्चतसृभिः बाह्याभिः पञ्चभिः नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥

टिप्पणी—तुष्टियाँ दो प्रकार की होती हैं—आध्यात्मिक (अर्थात् आत्मा से सम्बद्ध) तुष्टियाँ तथा बाहरी तुष्टियाँ । आध्यात्मिक तुष्टियों में साधक को यह ज्ञान रहता है कि आत्मा प्रकृति से भिन्न है, किन्तु बाह्य तुष्टियों में वह प्रकृति, बुद्धि आदि को ही आत्मा मान बैठता है । आध्यात्मिक तुष्टियाँ चार हैं—

१—प्रकृतितुष्टि—'आत्मा के साक्षात्कार में विवेकज्ञान आवश्यक है । किन्तु यह विवेकज्ञान प्रकृति का ही परिणाम है । उसे प्रकृति ही उत्पन्न करती है । इस लिए आत्मा के ध्यान आदि का अभ्यास व्यर्थ है' ऐसा विचार कर साधक को प्रकृति-विषयक जो तुष्टि होती है, वही प्रकृति नामक तुष्टि है; जो अम्भः भी कहलाती है ।

२—उपादानतुष्टि—'प्रकृति का परिणाम होने पर भी विवेक ज्ञान केवल प्रकृति से ही नहीं होता है । यदि ऐसा होता तो सबके प्रति प्रकृति के समान रूप से होने के कारण सभी को सर्वदा विवेकज्ञान होने लगता । इसके विपरीत वह संन्यास से उत्पन्न होता है । अतः संन्यास ही ग्रहण करना चाहिए, ध्यान आदि का अभ्यास व्यर्थ है ।' ऐसा सोचकर साधक संन्यासी होकर तुष्ट हो जाता है । इसीको 'उपादानतुष्टि' कहते हैं । इसे 'सलिल' भी कहते हैं ।

३—कालतुष्टि—'संन्यास भी साक्षात् मुक्ति देनेवाला नहीं है । वह समयानुसार ही विवेक ज्ञान देता है । अतः उसके लिये (विवेक-ज्ञान के लिये) प्रयास करना व्यर्थ है । समय आने पर अपने आप विवेक ज्ञान हो जायेगा ।' ऐसा सोच कर साधक तुष्ट हो जाता है । यही कालतुष्टि है । इसे 'ओघ' भी कहते हैं ।

४—भाग्यतुष्टि—'विवेक-ज्ञान न प्रकृति से, न काल से और न संन्यास से ही, अपि तु भाग्य से होता है । अतः भाग्य ही विवेक-ज्ञान में हेतु है, अन्य कुछ नहीं । ऐसा सोचकर साधक तुष्ट हो जाता है । यही 'कालतुष्टि' है इसे 'वृष्टि' भी कहते हैं ।

बाह्य तुष्टियाँ—'विषय' अर्थात् भोग्य शब्द आदि के उत्पादन में कष्ट, संरक्षण में दुःख, विनाश से दुःख, भोग के कारण दुःख और उनके कारण होने वाली हिंसा को देखकर व्यक्ति को वैराग्य होता है । वह उनका परित्याग करके तुष्ट हो जाता है । उक्त पांच प्रकार के वैराग्य से होने वाली तुष्टियाँ भी पाँच हैं । इस प्रकार मिला कर तुष्टियाँ नौ हैं । विशेष के लिए देखिये टीका ॥ ५० ॥

युक्ति०—तासाम्

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।

आध्यात्मिकी इति शरीरशरीरिणोर्विशेषमुपलिप्समानेन योगिना यदनात्मन्यात्मबुद्धिर-

वस्थाप्यते सा खल्वाध्यात्मिकी सिद्धिः तुष्टिः सन्तोषः क्षेम इत्यर्थः । तासां प्रकृत्याख्या । यदा वीतावीतैः प्रधानमधिगम्य तत्पूर्वकत्वं च महदादीनां विकाराणामानन्त्याच्च प्रधानात्मनः कृत्स्नस्य महदादिभावेन विपरिणामाऽसम्भवादेकदेशस्याऽप्रकृतिविकारभूतस्य भोक्तृत्वमकर्तृत्वं चाऽध्यवस्य सङ्गद्वेषनिवृत्तिं लभते, साऽऽद्या तुष्टिरम्भ इत्यभिधीयते । कस्मात् ? अमितं हि प्रधानतत्त्वं भाति जगद्बीजभूतत्वान्महदादिभावपरिणामेन न्यूनस्यैक देशस्यात्मन एवाऽऽपूरात् । तद्व्यतिरेकेण चान्यस्यैकदेशस्योभयधर्मिणो भोक्तृभूतस्य सद्भावात्संप्रक्षालनेऽपि चापसंहृतम्, वैश्वरूप्यस्याऽनुच्छेदात् । तथा च शास्त्रमाह— अम्भ इति गुणलिङ्गसन्निचयमेवाऽधिकुरुते । गुणाश्च सत्त्वरजस्तमांसि लिङ्गं च महदादि अत्र सन्निहितं भवति । तदिदं प्रधानममितं भात्यमितमुपलभ्यत इत्यम्भः । स खल्वयं योगी प्रधानलक्षणां भूमिमवजित्य तन्महिम्ना च तदशून्यं दृष्ट्वा व्यतिरिक्तस्य पदार्थान्तरस्याभावं मन्यमानस्तामेव भूमिं कैवल्यमिति गृह्णाति । भिन्ने च देहे प्रकृतौ लयं गच्छति, ततश्च पुनरावर्तते । तस्यां च तुष्टावन्ये सप्त महदादिकारणिनोऽवरुद्धा द्रष्टव्याः । तत्र यथा प्राधानिकस्य पुरुषे नास्ति विज्ञानमेवमितरेषामुत्तरेषु तत्त्वेषु । महत्कारणिनः प्रधानेऽस्मिताकारणिनो महति, तन्मात्रकारणिनोऽहंकारे । तदेकदेशाश्चैषां भोक्तारः पूर्ववत् । अत्रापि च सत्त्वादीनां संहृतविविक्तपरिणतव्यस्तसमस्तानां भेदादविद्याऽवच्छेदानन्त्यमवसेयम् ।

आह, तुष्ट्यविद्ययोरभेदः लक्षणैकत्वात् । अष्टासु प्रकृतिष्वात्मबुद्धिस्तुष्टिः । तदेव च तम इत्यविद्याकाण्डे निर्दिष्टम् । तस्मात्पदार्थसंकर इति । उच्यते—न, प्रत्ययविशेषात् । तमःप्रधानपुरुषोपदेशे सति प्रत्ययनिर्दिधारयिषया तयोः प्रधानमेव ज्यायो न पुरुष इत्यभिनिविशेत । तुष्टिस्तु किं परमित्याश्रित्य प्रवृत्तः प्रधानज्ञानमात्रे सन्तोषात्पदार्थान्तरं विज्ञातुनेव नाद्रियते । किञ्च प्रहाणविशेषात् । निरूढमूलो ह्यनात्मनि आत्मग्रहो ज्ञानोत्तरकालभावनया प्रहातव्यः । तमोबहुलत्वात्तम इत्यभिधीयते । पेलवस्तु सत्त्वबहुलो दर्शनप्रणयस्तुष्टिः । किञ्च तत्त्वाभिजयात् । विजितभूमिकस्य हि योगिनस्तन्माहात्म्यवशीकृतत्वाद् भूम्यन्तरे प्रवृत्तिस्तुष्टिः । इतरस्य त्वभिनिवेशमात्रमेवेत्यनयोर्विशेषः । तस्मान्न पदार्थसंकर इति व्याख्याता प्रकृत्याख्या तुष्टिः ।

यदा तु सत्यपि प्रकृतिसामर्थ्ये नाऽनपेक्ष्य यथास्वमुपादानं भावानामुत्पत्तिः सम्भवति प्रकृत्यविशेषे सर्वकालमुत्पत्तिप्रसंगात्, प्रकृतिकृत्यमेवेदं विश्वमित्यभ्युपगच्छतस्तदविशेषाद् गोः पुरुषादुत्पत्तिप्रसंगः; पुरुषस्य वा महिषात् । किञ्च जात्यभेदप्रसंगात् । प्रकृतिकृत्यमिदं विश्वमित्यभ्युपगच्छतो जातिभेदो न स्यात्, तदविशेषात् । दृष्टं तूपादानाज्जात्यनुविधानं भावानाम् । तस्मात्तदेव कारणत्वेन परिकल्पयितुं न्याय्यम् । उपादानैकदेश एव च कार्यकारणविधात्मा भोक्तेत्येतस्माद् दर्शनात्सङ्गद्वेषनिवृत्तिं लभते, सा द्वितीया तुष्टिः सलिलमित्यभिधीयते । कथं पुनरेतत्सलिलम् ? सत्युपादाने विकारो लीयत इति ।

तथा च कृत्वा शास्त्रमाह "सलिलं सलिलमिति वैकारिकोपनिपातमेवाधिकुरुते, सति तस्मिल्लीयते जगदिति"। स खल्वयं योगी पार्थिवानवजित्य तन्महिम्ना जगदशून्यं दृष्ट्वा पदार्थान्तरस्याऽभावं मन्यमानस्तामेव भूमिं कैवल्यमिति गृह्णाति। भिन्ने च देहे पृथिव्यादिषु लीयते। ततश्च पुनरावर्तते। यदा च सत्युपादानसामर्थ्ये न तावत्तैव भावानां प्रादुर्भावः किं तर्हि सन्निहितसाधनानामपि कालं प्रत्यपेक्षा भवति—कालविशेषा-द्वीजादङ्कुरो जायते, अङ्कुरान्नालं, नालात्काण्डम्, काण्डात्प्रसव इत्यादि। अन्यथा तूपादानानां सन्निधानमात्रात्क्षणेनैवाऽमीषामवस्थाविशेषाणामभिव्यक्तिः स्यात्। किञ्च कालविपर्ययेणोत्पत्तिप्रसंगात्। उपादानपूर्वकं विश्वमित्यभ्युपगच्छतः शरदि यवानां, वसन्ते व्रीहीणामुत्पत्तिः प्राप्नोति। न चैतदिष्टम्। किञ्च तदनभिधानात्। दृश्यन्ते च प्राणिनां कालानुरूपाः स्वभावाहारविहारव्यवस्थाः। तस्मादसावेव कारणम्। तदेक-देशश्चाप्रकृतिविकारभूतो भोक्तेत्येतस्माद्दर्शनात्संगद्वेषनिवृत्तिं लभते, सा तृतीया तुष्टिरोघ इत्यभिधीयते। कथं पुनरयं काल ओघ इत्युच्यते? सलिलौघवत्सर्वाभ्यावहनात्। तद्यथा सलिलौघस्तृणं काष्ठमश्मानं प्राणिनं वा स्वमूर्तिसंसृष्टं सर्वमेवाभ्यावहति, एवमयं कालो गर्भाद्बाल्यं, बाल्यात्कौमारं, कौमाराद्यौवनं, यौवनात्स्थाविर्यम्, स्थाविर्यान्मरणं, तथा बीजान्मूलं मूलादङ्कुरमिति वहति। तथा चाह—

यामेव प्रथमां रात्रिं गर्भे भवति पूरुषः।
सं‹स्थितस्तां भवति स गच्छन्न निवर्तते॥

तस्मादोघसामान्यादोघः कालः। स खल्वयं योगी कालमवजित्य पदार्थान्तराभावं मन्यमानस्तामेव भूमिं कैवल्यमिति मन्यते। देहभेदे च कालमनुप्रविशति। ततश्च पुनरावर्तते। यदा तु सत्यपि कालसामर्थ्ये भावानामुत्पत्तिः भाग्यान्यपेक्षते। कस्मात्? तत्सन्निधानेऽप्यप्रादुर्भावात्। सत्यपि साधनसामर्थ्ये कालविशेषे च कस्यचिदुत्पत्तिर्भवति कस्यचिन्नेति। तस्मादस्ति कारणान्तरं यदपेक्ष्य भावानामुत्पत्तिरनुत्पत्तिश्च। किं चाभ्युत्थानानुपपत्तिप्रसंगात्। कालमात्रात्फलं भवतीत्येतदिच्छतः शास्त्रोक्तेषु क्रियाविशेषे-ष्वभिषेचनव्रतोपवासाग्निहोत्रादिष्वभ्युत्थानं न स्यात्। कस्मात्? आनर्थक्यात्। अस्ति च, तस्मान्न कालनिमित्ता भावानामुत्पत्तिः। किञ्च तदनुविधानात्। दृश्यन्ते खल्वपि प्रकृत्युपादानकालविशेषेऽपि भाग्यविशेषात्फलविशेषाः। तस्मात्तत्संस्कार एव करणम्। तदेकदेशश्चाप्रकृतिविकारभूतो भोक्तेत्येतस्माद्दर्शनात्संगद्वेषनिवृत्तिं लभते। सा चतुर्थी तुष्टिर्वृष्टिरित्यभिधीयते। कथं पुनर्वृष्टिरित्युच्यते? सर्वसत्त्वाप्यायनात्। यथा हि शीर्णानामपि तृणलतादीनां वृष्टिं प्राप्य पुनराप्यायनं भवति, एवमेव सर्वेषां प्राणिनां भाग्यविपरिणामात्पुनराप्यायनं भवति। तस्माद्वृष्टिसाम्याद् भाग्याख्या तुष्टिर्वृष्टिरित्य-भिधीयते। शास्त्रमप्याह—"वृष्टिर्वृष्टिरिति श्रिय एवोपनिपातमधिकुरुते। सा हि वृष्टिवत्सर्वमाप्याययतीति।" स खल्वयं योगी भाग्यान्यवजित्य तन्महिम्ना जगदशून्यं

दृष्ट्वा पदार्थान्तरस्याभावं मन्यमानस्तामेव भूमिं कैवल्यमिति गृह्णाति। स तस्यामेव देहभेदे लीयते। ततश्च पुनरावर्तत इति।

आह, कालभाग्ययोरप्रतिपत्तिः, समाख्यापरिज्ञानात्। प्रकृत्यात्मकस्य तावद्योगिनोऽष्टौ प्रकृतयो विषय इत्युक्तं पुरस्तात्। उपादानात्मकस्य च पृथिव्यादीनि महाभूतानि। कालभाग्ययोस्तु न तथोक्तम्। तस्माद्वक्तव्यं कस्य तत्त्वस्यैषा समाख्येति? उच्यते—न, उक्तत्वात्। प्रागेवैतदपदिष्टं न कालो नाम कश्चित्पदार्थोऽस्ति। किं तर्हि क्रियासु कालसंज्ञा। ताश्च करणवृत्तिरिति प्रतिपादितम्। न चान्या वृत्तिर्वृत्तिमतः। तस्मात्कारणचैतन्यप्रतिज्ञः कालात्मक इति। भाग्यसंज्ञा तु धर्माधर्मयोः। तौ च बुद्धिधर्माविति प्रागपदिष्टम्। तस्माद् भाग्यवादी बुद्धिचैतनिक इति। आह, न, तुष्ट्यन्तरत्वात्। प्रकृतित्वान्महान्पूर्वं प्रकृत्याख्यायां तुष्टाववरुद्धः। तस्येदानीं तुष्ट्यन्तरत्वेन परिकल्पनं नातिसमञ्जसमिति। उच्यने—महांस्तर्हि पूर्वतुष्टिविषयभावादपकृष्यत इति। अथवा कार्यकरणवृत्तिक्रियारूपां वृत्तिमद्द्योत्यां परिकल्प्य तस्यां कालत्वमयमाह। महतश्च रूपं धर्मादिकं महतोऽर्थान्तरं भाग्यमिति भाग्यवान्। अथवा बाह्य एवायं कालः कर्मकारणं निर्दिश्यते। तत्र चान्येऽपि स्वमतिपरिकल्पितपदार्थान्तरात्मभावग्राह्या एवातिसाङ्ख्याः प्रवादिनः प्रतिक्षिप्ता बोद्धव्या इति।

अपर आह, प्रकृतिचैतनिकः प्रधानभावाशाद्युपादानकालभाग्यवादिनो महदहङ्कारतन्मात्रवादिन इति। तदेतदप्रसिद्धत्वादयुक्तम्। न हि महदहङ्कारतन्मात्रलक्षणाः प्रकृतय उपादानकालभाग्यभावेन प्रसिद्धाः। तस्मादिदमप्ययुक्तम्। एवमेता आध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः।

बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव तुष्टयोऽभिहिताः ॥५०॥

चशब्दोऽवधारणार्थः। अव्युत्पन्नात्मविचारस्य योगिनो विषयदोषदर्शनमात्रात्संगदोषनिवृत्तिर्बाह्या तुष्टिः। तत्र यदाऽर्जनदोषमवगच्छति न तावत्सर्वस्याभिजातिरस्तीति अर्थिनाऽवश्यं विषयार्जने वर्तितव्यम्। तेषामस्वाभाविकत्वात्क्वचिदेवावस्थितिरित्युक्तं प्राक्। किञ्च सप्रत्यनीकत्वात्। स्वाभाविकमवस्थानं विषयाणामपरिकल्प्याऽपि यदा प्रतिग्रहादिभिरर्जनं प्रत्याद्रियते तदप्ययुक्तम्। कुतः? सप्रत्यनीकत्वात्। एवमपि नास्ति कश्चिदप्रत्यनीको विषयार्जनोपाय इति तद्विघातेऽवश्यं प्रयतितव्यम्। स च यदि प्रतियतमानः प्रत्यनीकिविघातं कुर्यात्परोपघातेनात्माऽनुग्रहानुष्ठानाच्छास्त्रविरोधः। यस्मादाह—

न तत्परस्य सन्दध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

पुनरप्याह—

प्राणिनामुपघातेन योऽर्थः समुपजायते।
सोऽनपेक्ष्यैः प्रहातव्यो लोकान्तरविघातकृत्॥

तस्मात्संघातमात्रत्वात्सत्त्वादीनां घटादिवत् ।
आब्रह्मणः परिज्ञाय देहानामनवस्थितिम् ॥
इतस्त्यं सद्भिरादीप्तं तृणोल्काचपलं सुखम् ।
सुदृढ़ैर्न निपातव्यं दुःखैर्देहान्तरोद्भवैः ॥

अथ पुनरयं प्रत्यनीकैर्विहन्यते, ततोऽस्य विषयाभावः । सुखार्थं च प्रवृत्तस्य भूयिष्ठं दुःखमेवेत्येतस्माद्दर्शनान्माध्यस्थ्यं लभते, सा पञ्चमी तुष्टिः सुतारमित्यभिधीयते । कथं पुनः सुतारमित्युच्यते ? सुखमनेनोपायेन तरन्ति विषयसंकटमिति सुतारम् । यदा तु योगी पूर्वदोषाधिगमेऽभिजात्या वा यत्नार्जितविषयत्वे सति रक्षादोषमुपन्यस्यति । कथम् ? भोक्तृभोग्यभावाऽव्यतिरेकात् सर्वप्राणिसाधारणा विषयाः, तस्मात्तेषां रक्षा विधेया । तस्यां च प्रवर्तमानो यदि परमुपरुन्ध्यात् तदा पूर्वोक्तदोषः, अथात्मानं, विषयाभावः । रात्रिन्दिवं च तदेकाग्रमनसः सुखार्थं प्रवृत्तस्य भूयिष्ठं दुःखमेवेत्येतस्माद्दर्शनान्माध्यस्थ्यं लभते । सा षष्ठी तुष्टिः सुपारमित्यभिधीयते । कथं पुनः सुपारमित्युच्यते ? सुखमनेन पारं विषयार्णवस्य प्रयान्तीति । यदा तु सति पूर्वदोषे, सति वा ग्रामनगरनिगमसन्निवेशाद्युपायानुष्ठानाद्वा कृतविषयरक्षो योगी क्षयदोषमुपन्यस्यति । कथम् ?

येन द्रव्येण मोहाद्वा रन्तुमिच्छन्ति देहिनः ।
तदेवैषां विनाशित्वाद् भवत्यरतिकारणम् ॥
यत्नोपात्ताः सुगुप्ताश्च विषया विषयैषिणाम् ।
पश्यतामेव नश्यन्ति बुद्बुदाः सलिले यथा ॥
न तदस्ति जगत्यस्मिन्भूतं स्थावरजङ्गमम् ।
प्रत्यक्षतोऽनुमानाद् वा विनाशो यस्य नेक्ष्यते ॥
तस्माद्विनाशिष्वासक्तानां पुत्रदारगृहादिषु ।
ममेति बुद्धिं यत्नेन बुद्धिमान्विनिवर्तयेत् ॥

इति एतस्माद्दर्शनान्माध्यस्थ्यं लभते, सा सप्तमी तुष्टिः सुनेत्रमित्युच्यते । कथं पुनः सुनेत्रमित्युच्यते ? सुखमनेनात्मानं कैवल्याऽवस्थां नयन्तीति सुनेत्रम् । यदा तु सत्सु पूर्वदोषेषु प्रसङ्गदोषमुपन्यस्यति । कथम् ? प्राप्तविषयाणामिन्द्रियाणां तदभिलाषान्निवृत्तिस्तत्सुखम् । विषयजिघृक्षया च दुःखम् । प्राप्तिरप्येषामनुपशान्तये तदुपभोगकौशलाय च । यस्मादाह—

यदा प्रबन्धाद्विषयी विषयानुपसेवते ।
तदास्येतस्त्वभिप्रायः सुतरां संप्रवर्तते ॥
अतोऽपि येन पुरुषः शमयेद् बडवानलम् ।
नेन्द्रियाण्युपभोगेन विषयेभ्यो निवर्तयेत् ॥
तस्माद्विषयसम्पर्कमसमर्थं निवर्तते ।

इन्द्रियाणां परिज्ञाय निरासङ्गमतिश्चरेत् ॥

इत्येतस्माद् दर्शनान्माध्यस्थ्यं लभते साऽष्टमी तुष्टिः सुमारीचमित्युच्यते । कथं सुमारीचमित्युच्यते ? अर्चतेः पूजार्थस्य शोभनमर्चितं विषयसंगनिवृत्तस्य योगिनोऽवस्थानं भवति । यदा तु पूर्वदोषेषु हिंसादोषमुपन्यस्यति । कथम् ? अनुपहत्याऽन्यभूतानि विषयभोगाऽनुपपत्तेः । उपभोगो हि नाम मनोज्ञाभ्यवहारः, स्त्रीसेवा, हयगजनरादिभिर्यानमित्येवमादि । तत्र मनोज्ञाऽभ्यवहारचिकीर्षुणा तदङ्गानां गोऽजाऽविबलीवर्दस्त्रीपुरुषादीनामवश्यमुपघातः कार्यः । अनुपघाते वा विषयाऽनुपपत्तिप्रसंगः । स्त्रियमासेवमानेनाऽन्यासां स्त्रीणां मातृपितृभ्रातृप्रभृतीनां च. अन्यथा तदभावो हयादीनाम् । तस्मादुपभोगार्थिनाऽवश्यमन्योपघातः कार्यो निहितदण्डेन वा विषयोपभोगस्त्याज्य इति । आह च

यथा यथा हि विषयो वृद्धिं गृह्णाति देहिनाम् ।
अपघातस्तदङ्गानां तथैवास्य विवर्धते ॥
तस्मादनिच्छन्नन्येषां प्राणिनां देहपीडनम् ।
सन्तोषेणैव वर्तेत त्यक्तसर्वपरिच्छदः ॥
सत्यवाचः प्रशान्तस्य सर्वभूतान्यनिच्छतः ।
भावान्धकारान्तज्ञानमचिरेण प्रवर्तते ॥

इत्येतस्माद्दर्शनान्माध्यस्थ्यं लभते, सा नवमी तुष्टिरुत्तमाऽभयमित्यपदिश्यते । कथम् ? उत्तमं हि प्राणिनां सर्वेभ्यो भयेभ्यो हिंसाभयमिति तदपगमादुत्तमाऽभयमिति । आह, अर्जनरक्षणलक्षणयोरपि तुष्ट्योः परोपघातदोषाः, अपदिष्टोऽस्यामपि च । तत्र कथमनयोर्विशेषः प्रतिपत्तव्य इति ? उच्यते न, विषयभेदात् । तत्र येषामर्जनरक्षणे प्रत्याद्रियते विषयी तदर्थिना प्रत्यनीकानामवश्यमभिघातोऽनुष्ठातव्य इत्यादावुक्तम् । इह तु येषामेवार्जनरक्षणे तदनुपघातेनाऽशक्यो विषयोपभोग इत्येतद्विवक्षितम् । तस्मादसंकीर्णमेतदित्येवमम्भःप्रभृतयो नव विषयेभ्यः संगद्वेषनिवृत्तिहेतवो व्याख्याताः । ते ज्ञानविरहितानां योगिनां तुष्टिशब्दवाच्यतां लभ्यन्ते । ज्ञानिनां तु वैराग्यपर्वसंज्ञिता स्वासु स्वासु तत्त्वभूमिषु सिद्धा एवेति ॥ ५० ॥

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः¹ सुहृत्प्राप्तिः ।
दानञ्च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अध्ययनम्, शब्दः, ऊहः, सुहृत्प्राप्तिः, दानम्, त्रयः, दुःखविघाताः, (इति), अष्टौ, सिद्धयः; पूर्वः, त्रिविधः, सिद्धेः, अङ्कुशः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—अध्ययनम्=गुरु से पढ़ना, शब्द = शब्द (अर्थात् शब्द से होनेवाला अर्थ-ज्ञान), ऊहः=मनन, सुहृत्प्राप्तिः मित्रों की प्राप्ति (अर्थात् गुरु, शिष्य तथा सहपाठियों के साथ सूक्ष्म विचार), दानम्=दान (अर्थात् धनादि दान से प्रसन्न हुए आचार्य

१. दुःखविघातत्रयम्—माठर० ।

से ज्ञानलाभ), त्रयः=त्रिविध, दुःखविघाताः=दुःखविनाश, (इति=इस प्रकार), अष्टौ=आठ, सिद्धयः=सिद्धियाँ, हैं। पूर्वः=पूर्वागत, त्रिविधः=तीनों (विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि), सिद्धेः=सिद्धि की, अङ्कुशः=विरोधिनी, हैं ॥ ५१ ॥

अर्थः—गुरु से सविधि पढ़ना, शब्द (अर्थात् शब्द से होने वाला अर्थ-ज्ञान), मनन (अर्थात् अपने आप तर्क-वितर्क करना), सुहृत्प्राप्ति (अर्थात् गुरु शिष्य तथा सहपाठियों के साथ सूक्ष्म विचार), दान (अर्थात् धनादि दान से प्रसन्न हुए आचार्य से ज्ञानलाभ) त्रिविध दुःखों का विनाश—ये आठ सिद्धियाँ हैं। पूर्वागत तीनों विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि—'सिद्धि की विरोधिनी कही गयीं हैं ॥ ५१ ॥

त० प्र०—अत्र आध्यात्मिकादिदुःखत्रयप्रतियोगिकत्वात् त्रयो दुःखविघाता=प्रधानसिद्धयः। इतरास्तु तत्साधनत्वात् अप्रधानसिद्धयः। 'पाठक्रमात् पदार्थक्रमः बलीयान्, इत्यभिप्रेत्य सिद्धयः क्रमान्तरेण व्याख्यायन्ते तत्र अध्ययनं नाम गुरुमुखात् सविधि वेदादिशास्त्राद्यध्ययनम्। तेन तत्त्वज्ञानान्मुक्तिः। प्रथमा सिद्धिः अध्ययनं संसारतरणस्य प्रथमहेतुत्वात् तारमित्युच्यते। द्वितीया सिद्धिः शब्दः, शब्दपदेन शब्दजनितार्थज्ञानं लभ्यते, तेन मोक्षः लभ्यते।। सैषा शब्दसिद्धिः ससुख संसारतारकत्वात् सुतारमप्युच्यते। तृतीया सिद्धिः ऊहः इत्युच्यते। ऊहो नाम गृहीतार्थस्य स्वेनैव युक्तायुक्तविचारणं मननमिति। इत्थं सति विवेकज्ञाने मुक्तिः। एषा तृतीया सिद्धिः पूर्वापेक्षया अधिकं तारकत्वात् 'तारतार' मिति निगद्यते। चतुर्थी सिद्धिः सुहृत्प्राप्तिर्नाम। परीक्षितमप्यर्थं न तावल्लोकः श्रद्दधाति यावत् गुरुशिष्यसहपाठिभिः न संवाद्यते। इत्थं ज्ञानाधिगमे मुक्तिः। अर्थविचारणस्य रमणीयत्वात् 'रम्यकम्' इति अस्याः नामान्तरम्। दानं नाम पञ्चमी सिद्धिः, धनादिदानेन परितोषिताज्ज्ञानलाभः इति। अनेनापि रूपेण ज्ञानाधिगमान्मुक्तिः। सेयं पञ्चमी सिद्धिः 'सदामुदितम्' उच्यते। इमाश्च पञ्च गौण्यः सिद्धयः हेतुत्वात्; तिस्रः पुनः दुःखविघातसिद्धयः फलत्वान्मुख्याः, इत्याचार्याणामभिप्रायः। काश्चताः ? इति जिज्ञायामुच्यन्ते—'दुःखविघातास्त्रयः' इति; आध्यात्मिकदुःखविघातः, आधिभौतिकदुःखविघातः, आधिदैविकदुःखविघातश्चेति तिस्रः मोक्षाः सिद्धयः क्रमेण प्रमोद-मुदित-मोदमाननामभिः व्यपदिश्यन्ते। तदेवं पञ्च विपर्ययभेदाः, अशक्तिरष्टाविंशतिधा, तुष्टिर्नवधा, सिद्धिरष्टधा, इति पञ्चाशत् पदार्थाः।

आसामुपादेयत्वं विपर्ययाशक्तितुष्टीनां तु हेयत्वं सूचयन्नाह—'सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः' इति। पूर्वः क्रमे पूर्वनिगदितः विपर्ययाशक्तितुष्टिरूपस्त्रिविधः सिद्धेः अङ्कुशः निरोधकः, अत सिद्धिमभिप्सुभिः विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेयाः एवेति भावः। विज्ञानभिक्षवस्तु सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः' इति कारिकांशमेवं व्याख्यातवन्तः—'एषु च पूर्वस्त्रिविध ऊहशब्दाध्ययनरूपो मुख्यसिद्धेरङ्कुश आकर्षकः।' तन्न समीचीनं, सुहृत्प्राप्तौ दाने चाप्याकर्षकत्वात् अङ्कुशशब्दस्यावरोधने एव रूढित्वाच्चेत्यलम् ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—विशेष बातों के लिये टीका द्रष्टव्य है ॥ ५१ ॥

युक्ति०—आह, प्रागपदिष्टमष्टधा सिद्धिरिति तदिदानीमभिधीयतामिति। उच्यते—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ

तत्रोहो नाम यदा प्रत्यक्षाऽनुमानागमव्यतिरेकेणाऽभिप्रेतमर्थं विचारणाबलेनैव प्रतिपद्यते, साद्या सिद्धिः तारकमित्यपदिश्यते। तारयति संसारार्णवादिति तारकम्। यदा तु स्वयं प्रतिपत्तौ प्रतिहन्यमानो गुरूपदेशात्प्रतिपद्यते सा द्वितीया सिद्धिः, सुतारमित्यपदिश्यते। कथम्? सुखमनेनाद्यत्वेऽपि भवसंकटात्तरन्तीति। यदा त्वन्योपदेशादप्यसमर्थः प्रतिपत्तुमध्ययनेन साधयति सा तृतीया सिद्धिः, तारयन्तमित्यपदिष्यते। तदेतत्तारणक्रियाया अद्यत्वेऽपि अव्यावृत्तत्वान्महाविषयत्वात्तारयन्तमित्यपदिष्टम्। त एते त्रयः साधनोपायैराब्रह्मणः प्राणिनोऽभिप्रेतमर्थं प्राप्नुवन्ति। आह, च—"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽपरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मंत्रान्सम्प्राहुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽपरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि चेति।" (निरुक्त, नै० का०) बिल्मं भासनं सम्यक्प्रतिभासाय विशिष्टः संकेत उक्त। एषां तु साधनोपायानां प्रत्यनीकप्रतिषेधाय दुःखविघातत्रयम्। दुःखानि त्रीण्याध्यात्मिकादीनि। तत्र चाध्यात्मिकानां वातादीनां सिद्धिप्रत्यनीकानामायुर्वेदक्रियानुष्ठानेन विघातं कृत्वा पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयति, सा चतुर्थी सिद्धिः प्रमोदमित्यभिधीयते। कथम्? निवृत्तरोगा हि प्राणिनः प्रमोदन्त इति कृत्वा। यदा त्वाधिभौतिकानां मानुषादिनिमित्तानां सिद्धिप्रत्यनीकानां सामादिना यतिधर्मानुगुणेन वोपायेन पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयति, सा पञ्चमी सिद्धिः प्रमुदितमित्यभिधीयते। कथम्? अनुद्विग्नो हि प्रमुदित इति कृत्वा। यदा तु शीतादीन्याधिदैविकानि द्वन्द्वानि सिद्धिप्रत्यनीकानि स्वधर्मानुरोधेन प्रतिहत्य पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयति सा षष्ठी सिद्धिर्मोदमानमित्यभिधीयते। कथम्? द्वन्द्वाऽनुपहता हि प्राणिनो मोदन्त इति कृत्वा। सुहृत्प्राप्तिः। यदा तु कुशलसंस्पृष्टं सन्मित्रमाश्रित्य सन्देहनिवृत्तिं लभते, सा रम्यकमिति सप्तमी सिद्धिरपदिश्यते। रम्यो हि लोके सन्मित्रसम्पर्कः। तस्य संज्ञायां रम्यमेव रम्यकम्। दानम्। यदा तु दौर्भाग्यं दानेनातीत्य पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयति साऽष्टमी सिद्धिः सदाप्रमुदितमित्यभिधीयते। सुभगो हि सदा प्रमुदितो भवति। तस्माद्दौर्भाग्यनिवृत्तिः सदाप्रमुदितम्। इत्येवमेताः सिद्धयोऽष्टौ व्याख्याताः। एतासां संश्रयेणाऽभिप्रेतमर्थं यतः संसाधयन्तीत्यतः पूर्वाचार्यगतं मार्गमारुरुक्षुस्तत्प्रवण स्यादिति।

आह, कः पुनरत्र हेतुर्येन पुरुषार्थत्वाविशेषे सति गुणानां सर्वसिद्धिनिमित्तं त्वनुभवतीति? उच्यते—यस्मात्

सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

साध्यप्रतिपत्तिसामर्थ्यसामान्यमङ्गीकृत्याह सिद्धेरिति। पूर्वो विपर्ययाशक्तितुष्टिलक्षणः अंकुशः इवांकुशः, निवर्तनसामान्यात्। नित्यप्रवृत्तस्यापि प्रधानात्सिद्धिस्रोतसो विपर्यया-ऽशक्तितुष्टिप्रतिबन्धात्सर्वप्राणिष्वप्रवृत्तिर्भवति। विपर्ययात्तावत्स्थावरेषु। ते हि मुख्याः स्रोतसो विपर्ययात्मानः। अशक्तेस्तिर्यक्षु। ते हि तिर्यक्स्रोतसोऽशक्त्यात्मानः। तुष्टिर्देवेषु। ते ह्यूर्ध्वस्रोतसस्तुष्ट्यात्मानः। मानुषास्त्वर्वाक्स्रोतसः संसिद्ध्यात्मानः। तस्मात्त एव तारकादिषु प्रवर्तन्ते। सत्त्वरजस्तमसां चाङ्गाङ्गिभावनियमाद्विपर्ययाशक्तितुष्टिभिः प्रतिहन्यन्त इति न सर्वेषां सर्वदा सिद्धिर्भवति। अत एतदुक्तं सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविध इति। यथा च सिद्धेः विपर्ययाऽशक्तितुष्टयः प्रतिपक्षाः, एवं सिद्धिरपि विपर्ययादीनाम्। सा ह्युत्पन्ना सर्वानेतान्निवर्तयति। कथम्? अविपरीतज्ञानं विपर्ययमतीतानागतवर्तमानेषु सन्निकृष्टेषु विप्रकृष्टेषु इन्द्रियग्राह्येष्वतीन्द्रियेषु चाऽप्रतिघातादशक्ति पुरुषस्य प्रकृति-तिविकारव्यतिरिक्तस्य दर्शनात्सर्वासु भूमिषु तुष्टिम्। एवमेतानि स्रोतांसि प्राणादयः कर्मयोनयश्च व्याख्याताः। एतेषां मार्गेऽवस्थापनात्परां सिद्धि कैवल्यलक्षणमचिरेण प्राप्नोति। आह च—

योनीनां सप्रमाणानां सम्यङ् मार्गे नियोजनात्।
स्रोतसाञ्च विशुद्धत्वान्निरासङ्गमतिश्चरेत्॥ इति॥ ५१॥

॥ इति युक्तिदीपिकायां नवममाह्निकम्॥

न विना भावैर्लिङ्गं, न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः[1]।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः[2] प्रवर्तते सर्गः॥ ५२॥

अन्वयः—भावैः, विना, लिङ्गम्, न; लिङ्गेन, विना, भावनिर्वृत्तिः, न; तस्मात्, लिङ्गाख्यः, (तथा), भावाख्यः, द्विविधः, सर्गः, प्रवर्तते॥ ५२॥

शब्दार्थः—भावैः=बौद्धिक परिणामों के, विना=बिना, लिङ्गम्=तन्मात्र-परिणाम, न=नहीं (सम्भव है); लिङ्गेन=तन्मात्र-परिणाम के, विना=विना, भावनिर्वृत्तिः=बौद्धिक परिणामों की चरितार्थता, न=नहीं (है); तस्मात्=इसलिए, लिङ्गाख्यः=तन्मात्र-परिणाम, (तथा=और), भावाख्यः=बौद्धिक-परिणाम, द्विविधः=दो प्रकार की, सर्गः=सृष्टि, प्रवर्तते=होती है॥ ५२॥

अर्थः—बौद्धिक परिणामों के विना तन्मात्र परिणाम नहीं सम्भव है और तन्मात्र-परिणाम के विना बौद्धिक परिणामों की चरितार्थता भी नहीं है। इसलिए तन्मात्र-परिणाम और बौद्धिक परिणाम-दोनों ही प्रकार—की सृष्टि होती है॥ ५२॥

त० प्र०—अत्र तावत् प्रथममित्थं ज्ञेयम्—लोकेऽपि व्यक्तिकर्तृके भोगे भोग्यं=

१. भावसंसिद्धिः—युक्तिदीपिका। भावनिष्पत्तिः—जयमङ्गला।

२. भवति द्विधा सर्गः—माठर०।

वनितादि, भोगाधिकरणं=शय्यादि, भोग्यसाधनानि च पानानुलेपनादीन्यपेक्ष्यन्ते; इत्थं पुरुषार्थरूपाय भोगायाऽपि वस्तुत्रयम् अपेक्षितम् - भोग्यम्, भोगाधिकरणम्, भोगसाधनञ्च। पुरुषार्थविषये चैतत्त्रयं किंरूपमित्याकाङ्क्षायां भोग्यम्=शब्दादिकम्, भोगाधिकरणम्= स्थूलसूक्ष्मरूपेण द्विविधं शरीरम्, भोगसाधनानि=बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधानि करणानि च। तत्र शब्दादिरूपस्य भोगस्य शरीरादिरूपस्य भोगाधिकरणस्य च सम्पादनाय तन्मात्र-सर्गो, करणरूपस्योभयविधस्य भोगसाधनस्य सम्पादनाय च प्रत्ययसर्गोऽपेक्षितः, इति सर्गद्वयमपेक्षितमेव। तत्र एकतरस्याप्यभावे पुरुषार्थहानिरिति कारिकावतरणम्।

भावैः बुद्धिसर्गः बाह्यान्तःकरणैरिति यावत् विना लिङ्गं तन्मात्रसर्गः न सम्भवति। लिङ्गेन तन्मात्रसर्गेण विना भावानां प्रत्ययसर्गाणां निर्वृत्तिः चरितार्थताऽपि न सम्भवति। तस्मात् लिङ्गाख्यः तन्मात्रसर्गस्तथा भावाख्यः प्रत्ययसर्गः द्विविधः सर्गः प्रवर्तते। भाव-लिङ्गयोरियं सृष्टिः अनादित्वाच्च बीजाङ्कुरवन्नान्योन्याश्रयदोषमावहतीति दिक्॥ ५२॥

टिप्पणी—'भावैः' का अर्थ है—बुद्धिसर्ग=बाहरी और भीतरी करण। 'लिङ्गेन' का अर्थ है—तन्मात्राओं के परिणाम शब्द आदि तथा स्थूल और सूक्ष्म शरीर। बुद्धि-सर्ग=बाहरी और भीतरी करण यदि न हों तो तन्मात्रसर्ग=शब्द तथा शरीर का क्या प्रयोजन होगा? इसी प्रकार यदि तन्मात्रसर्ग न हो तो प्रत्ययसर्ग का क्या प्रयोजन होगा। किसी एक सर्ग से भोग रूप पुरुषार्थ की सिद्धि न होगी। अतः दोनों प्रकार के सर्ग को माना गया है। एक सर्ग दूसरे का पूरक है॥ ५२॥

युक्ति०—एवं यत्पूर्वमपदिष्टं संयोगकृतः सर्गः (का० २१) इति तद्व्याख्यातम्। अत्रे-दानीमाचार्याणां विप्रतिपत्तिः। धर्मादीनां शरीरमन्तरेणानुत्पत्तेः। शरीरस्य च धर्माद्यभावे निमित्तान्तरासम्भवादुभयमिदमनादि। तस्मादेकरूप एवायं यथैवाद्यत्वे तथैवातिक्रान्ता-स्वनागतासु कालकोटिषु सर्ग इति। आचार्य आह—नैतदेवम्, किं तर्हि प्राक्प्रधानप्रवृत्ते-र्धर्माधर्मयोरसम्भवो बुद्धिधर्मत्वात्तस्याश्च प्रधानविकारत्वात्। ततस्तद्व्यतिरिक्तं शब्दाद्यु-पलब्धिगुणलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं चार्थमुद्दिश्य सत्त्वादयो महदहङ्कारतन्मात्रे-न्द्रियभूतत्वेनावस्थाय परमर्षिहिरण्यगर्भादीनां शरीरमुत्पादयन्ति। षट्सिद्धिक्षयकालोत्तरं तु गुणविमर्दवैचित्र्याद्रजस्तमोवृत्त्यनुपाति संसारचक्रं प्रवृत्तम्।

न विना भावैर्लिङ्गम्

देवमनुष्यतिर्यग्भावेन व्यवतिष्ठत इति वाक्यशेषः।

न विना लिङ्गेन भावसंसिद्धिः।

संसिद्धिरत्र निष्पत्तिरभिप्रेता।

लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः॥५२॥

सोऽयं लिङ्गाख्यो भावाख्यश्च षट्सिद्धिक्षयकालादूर्ध्वं भवति। गुणसमनन्तरं तु अधिकार-लक्षणः। तस्माद् द्विधा सर्गः अधिकारलक्षणो भावाख्यश्च। येषां तु धर्माधर्मशरीरयोः

पर्यायेण हेतुहेतुमद्भावस्तेषां कारणमस्त्यव्यक्तमित्यत्र (का० १६) प्रतिविहितम् । येऽपि च सांख्या एवमाहुः—"धर्माधर्माधिकारवशात्प्रधानस्य प्रवृत्तिरिति" तेषामन्यतरपरिकल्पनानर्थक्यमिति । कथम् ? यदि तावदधिकार एवायं प्रधानप्रवृत्तयेऽलम्, किं धर्माधर्माभ्याम् ? अथ तावदन्तरेणाऽधिकारस्य प्रधानप्रवृत्तावसामर्थ्यम्, एवमपि किमधिकारेण ? तयोरेव प्रवृत्तिसामर्थ्यात् । तस्मादधिकारभावनिमित्तो द्विधा सर्गः । तत्र तथेदं शरीरमविभक्तं धर्मार्थकाममोक्षलक्षणासु क्रियासु विभक्तं भवेदित्यतः पाण्यादिविकल्पोऽस्य भवति, एवं सत्त्वसर्गोऽप्यविभक्तो धर्मार्थकाममोक्षलक्षणासु क्रियासु समर्थो भवेदिति ॥५२॥

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुषश्चैकविधः, समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—दैवः, अष्टविकल्पः, तैर्यग्योनः च, पञ्चधा, मानुषः, एकविधः; भवति; समासतः, (अयम्), भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थः—दैवः=देव-सृष्टि, अष्टविकल्पः=आठ प्रकार की, तैर्यग्योनः=तिर्यक्-सृष्टि, पञ्चधा=पाँच प्रकार की, मानुषः=मनुष्य सृष्टि, एकविधः=एक प्रकार की, भवति= होती है; समासतः=संक्षेप से (में), (अयम्=यही) भौतिकः=भौतिक, सर्गः= सृष्टि (है) ॥ ५३ ॥

अर्थः—देव-सृष्टि आठ प्रकार की, तिर्यक्-सृष्टि पाँच प्रकार की, तथा मनुष्य सृष्टि एक प्रकार की होती है । संक्षेप में (यही) भौतिक सृष्टि है ॥ ५३ ॥

त० प्र०—अष्टविकल्प इति—दैवः देवसर्गः, ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पैत्रः, गान्धर्वः, याक्षः, राक्षसः, पैशाच इत्यष्टविधः भवति । 'तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति' पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरभेदादिति । 'मानुषश्चैकविधः' इति । इत्थं समासतः संक्षेपतः भौतिकः भूतोत्पन्नः सर्गः ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच—यह आठ प्रकार की देवों की सृष्टि है । पशु, मृग, पक्षी, सर्पादि यथा तरु गुल्म आदि स्थावर—यह पाँच प्रकार की तिर्यक्-सृष्टि है ।

भौतिकः—महाभूतों से उत्पन्न सर्ग को भौतिक सर्ग (सृष्टि) कहते हैं ॥ ५३ ॥

युक्ति०—अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः

अष्टौ विकल्पा अस्य सोऽयमष्टविकल्पः । अष्टप्रकाराऽष्टभेद इत्यर्थः । तद्यथा ब्रह्मप्रजापतीन्द्रपितृगन्धर्वनागरक्षःपिशाचाः । तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराः । मानुष्यश्चैकविधः, जात्यन्तरानुपपत्तेः । आह, किमेतावानेव भूतसर्गविकल्पः, आहोस्विदन्योऽस्तीति ? उच्यते—विकल्पान्तरमस्त्येतेषामेव स्थानानामन्तर्गणभेदात् । अयं तु

समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

किम् ? उपदिष्ट इति वाक्यशेषः। तत्र देवानां साध्यमरुद्रुद्रादिभेदात्। तिरश्चां ग्राम्यारण्यादिभेदात्। मानुषाणां च ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रभेदात्। उद्भिद्भेदश्च विस्तरेणापदिश्यमान आनन्त्यमापादयेत्। तस्मात्समासतो भूतसर्गोऽपदिश्यते ॥ ५३ ॥

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—ऊर्ध्वम्, सत्त्वविशालः, मूलतः, तमोविशालः, मध्ये, रजोविशालः, सर्गः, (भवति); (अयमेव), ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः, (सर्गः, अस्ति) ॥ ५४ ॥

शब्दार्थः—ऊर्ध्वम्=ऊपर के लोकों में, सत्त्वविशालः=सत्त्वप्रधान, मूलतः=नीचे के लोकों में, तमोविशालः=तमःप्रधान, मध्ये=मध्य लोक में, रजोविशालः=रजःप्रधान, सर्गः= सृष्टि, (भवति=होती है); (अयमेव=यही), ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः=ब्रह्मा से लेकर तृणादि पर्यन्त, (सर्गः=सृष्टि, अस्ति=है) ॥ ५४ ॥

अर्थः—ऊपर के लोकों में सत्त्व-प्रधान, नीचे के लोकों में तमःप्रधान तथा मध्य-लोक में रजः-प्रधान सृष्टि होती है। यही ब्रह्मा से लेकर तृणादि-पर्यन्त (सृष्टि है) ॥ ५४ ॥

त० प्र०—भौतिकसर्गविभागः उच्यते—ऊर्ध्वं भूलोकादुपरितनेषु लोकेषु सत्त्व-विशालः सत्त्वोत्कटः, तत्रेत्येषु रजस्तमसोः वर्तमानत्वेऽपि सत्त्वबाहुल्यं वर्तते इति भावः। मूलतः भूर्लोकादधः पातालाद्यधस्तनेषु लोकेषु इत्यर्थः ;तमोविशालः तमोबहुलः, तत्र सत्त्व-रजसोः सत्त्वेऽपि तमसः प्राबल्यं विद्यते। यद्यपि भूलोके पश्वादयोऽपि तमोबहुलाः दृश्यन्ते, परञ्च तत्र मानवप्राधान्यमेव गृह्यते। मध्ये भूलोके रजोविशालः रजसा उद्रिक्तः रजःप्रबलः सर्गः भवति; सत्त्वतमसोः सत्त्वेऽपि तत्र रजसः आधिक्यं विद्यते। रजसः आधिक्यादेव मानवाः दुःखप्रायाः सन्ति। अयमेव ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ब्रह्मादिस्थावरान्तः सर्गोऽस्तीति स्तम्बः वृक्षादिः स्थावरः ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—इस कारिका में समस्त भौतिक सर्ग को तीन भागों में विभक्त किया गया है। एक भाग में सत्त्वगुण अधिक रहता है तथा रजोगुण एवं तमोगुण न्यून रहते हैं। यह भाग ऊपर के लोकों में रहने वाले देवताओं का है। दूसरे भाग में तमोगुण अधिक रहता है और सत्त्वगुण एवं रजोगुण न्यून रहते हैं। यह भाग पाताल आदि नीचे के लोकों में रहनेवाले जीवों का है। तीसरे भाग में रजोगुण अधिक रहता है और सत्त्वगुण तथा तमोगुण न्यून रहते हैं। यह भाग भूतल के निवासी मनुष्यों का है ॥५४॥

युक्ति०—आह, विकल्पान्तरवचनम्, स्रोतोभेदात्। दैवमानुषतैर्यग्योना इति त्रिविधो भूतानां विकल्प उपदिश्यते। स्रोतांसि तु चत्वार्युक्तानि। तस्माद्विकल्पान्तरं वक्तव्यमिति। उच्यते—न, गुणधर्मसंग्रहसामर्थ्यात्। सत्त्वबहुला ऊर्ध्वस्रोतसः। रजोबहुला अर्वाक्स्रोतसः। तमोबहुलास्तिर्यक्स्रोतसो मुख्यस्रोतसश्च। तस्मादनयोरभेदेनोपदेशः। आह, असुराद्युप-

-संख्यानं कर्तव्यम् । इतरेष्वनन्तर्भावादभेदेन वोपदेशः कार्यो न तु दैवमानुषतिरश्च इति । उच्यते—न, उक्तेष्वेव तत्संग्रहात् । असुराणां तावदैन्द्र एव स्थानेऽन्तर्भावः, पूर्वदेवत्वात् । पूर्वदेवा ह्यसुराः । किञ्च पर्यायेणेन्द्रत्वात् । धन्विप्रभृतीनां पर्यायेणेन्द्रत्वं श्रूयते । तथा यक्षाणां रक्षस्स्वेकरूपत्वात् । किन्नरविद्याधराणां गन्धर्वेषु समानशीलत्वात् । प्रेतानां पितृष्वधिपतिसामान्यात् । तस्मात्त्रिविकल्प एव भूतसर्गः । स चायम्

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः

ऊर्ध्वमित्यनेनाष्टौ देवस्थानान्याह । तत्रायं सर्गः सत्त्वविशालः पिशाचेभ्यो रक्षसाम्, रक्षोभ्यो नागानाम्, नागेभ्यो गन्धर्वाणाम्, गन्धर्वेभ्यः पितॄणाम्, पितृभ्यस्त्रिदशानाम्, तेभ्यः प्रजापतीनाम्, तेभ्योऽपि ब्रह्मणः । एवं विशालग्रहणं समर्थितं भवति ।

तमोविशालस्तु मूलतः सर्गः ।

मूलतस्तु सर्गस्तमोविशालः । पशुभ्यो हि मृगाणां प्रकृष्टतरं तमः । मृगेभ्यः पक्षिणाम्, पक्षिभ्यः सरीसृपाणाम्, सरीसृपेभ्यः स्थावराणाम् ।

मध्ये रजोविशालः

देवेभ्यस्तिर्यग्भ्यश्चावकृष्टासु भूमिषु यथा यथा सत्त्वतमसोर्निह्रासः तथा तथा रजसो वृद्धिः । मनुष्यास्तूभयोर्मध्यमिति तत्र परमः प्रकर्षो रजसः । अर्वाक्स्रोतसः सिद्धिरूपत्वादत्यन्तं क्रियाप्रवृत्तत्वात् । यथा च मानुषेषु रजःप्रकर्ष एवं ब्रह्मणः स्थाने सत्त्वस्य, स्थावरेषु तमसः ।

स खल्वयम्

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

चतुर्दशभेदस्त्रिविकल्पः सत्त्वाद्यतिशयनिर्ह्रासविषयभावेन यः सर्गो व्याख्यातः ॥ ५४ ॥

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन[1] ॥ ५५ ॥

अन्वयः—चेतनः, पुरुषः, लिङ्गस्य, आविनिवृत्तेः, तत्र, जरामरणकृतम्, दुःखम्, प्राप्नोति, तस्मात्, दुःखम्, स्वभावेन, (वर्तते) ॥ ५५ ॥

शब्दार्थः—चेतनः=चेतन, पुरुषः=पुरुष, लिङ्गस्य=लिङ्गशरीर के, आ विनिवृत्ते= विनाश होने तक, तत्र=ऊपर, नीचे तथा मध्य के लोको में, जरामरणकृतम्-जरा मरण से उत्पन्न, दुःखम्=दुःख को, प्राप्नोति=भोगता है; तस्मात्=अतः, दुःखम् = दुःख, स्वभावेन= स्वभाव से, (वर्तते=है) ॥ ५५ ॥

अर्थः—चेतन पुरुष लिङ्ग शरीर के विनाश होने तक, ऊपर, नीचे तथा मध्य के लोकों में, जरा-मरण से उत्पन्न दुःख को भोगता है । अतः दुःख स्वभाव से ही (इस सृष्टि में हैं) ॥ ५५ ॥

---

१. समासेन–युक्ति०, माठरवृत्ति ।

त० प्र०—चेतनः पुरुषः लिङ्गस्य लिङ्गशरीरस्य आ विनिवृत्तेः नाशं यावत् विनाश-पर्यन्तमित्यर्थः तत्र उर्ध्वाधोमध्यगतेषु लोकेषु जरामरणकृतं जन्मवार्धक्यमृत्युजनितं दुःखं प्राप्नोति भुङ्क्ते। अनेनैतत् सूचितं यत् लिङ्गशरीरस्यैव वस्तुतः सर्वं दुखम्, तथापि पुरुषेण तस्याभेदग्रहात् सोऽपि दुःखवान् जायते, यदा तु दुःखाधारस्य लिङ्गशरीरस्य नाशः, तदा तु दुःखनिवृत्तिरिति। तस्माद् दुःखं स्वभावेनैव सृष्टाविति, सृष्टिरेव दुःखस्वभावात्मिकेति भावः। लिङ्गशरीरविनिवृत्तिस्तु पञ्चविंशतितत्त्वविवेकेन भवतीति दिक्॥ ५५॥

टिप्पणी – लिङ्गस्याविनिवृत्तेः—वस्तुतः सारे दुःख लिङ्ग-शरीर को ही होते हैं। पुरुष तो दुःख से परे है। किन्तु पुरुष लिङ्गशरीर से अपना अभेद मान बैठता है, अतः वह उसके दुःख से दुःखी होता है। जब भ्रमात्मक अभेद-ज्ञान का नाश होता है तब लिङ्गशरीर विनष्ट हो जाता है और पुरुष दुःख से मुक्त हो जाता है।

दुःखं स्वभावेन—समग्र भौतिक सृष्टि दुःखमय है। इसमें रह कर कोई भी पुरुष दुःख-मुक्त नहीं हो सकता। दुःख से मुक्ति प्राप्त करने के लिए सृष्टि से ऊपर उठना होगा। यह ऊपर उठना—अपने यथार्थ स्वरूप को पहचाना ही है॥ ५५॥

युक्ति०—अत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।

जराकृतं मरणकृतं जरामरणकृतम्। तत्र जराकृतं तावद्यथा बलीतरंगितगात्रत्वम्, दण्डमन्तरेण चङ्क्रमणादिष्वप्रवृत्तिः, सर्वेन्द्रियाणां विषयोपभोगेष्वसामर्थ्यम्, प्रबलकासश्वासता, सास्राविलेक्षणता, दशनानामस्थिरत्वम्, वर्णविकृतिः, शैथिल्यमभिव्याहारसंगो मन्दा स्मृतिरित्येवमादि। मरणकृतमपि पृथिव्यादीनां शरीरभावेनावस्थितौ सहभावप्रतिपक्षता स्वभावभेदवृत्तिसंग्रहपङ्क्तिव्यूहावकाशदानादेरुपकारस्य प्रच्युतिः। इन्द्रियाधिष्ठानविकाराच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सतामग्रहणमसतां च गहणमभूताकारं सम्भवविपरीतं वा सर्वार्थानां ग्रहणम्। तद्यथा पौर्णमास्यां दक्षिणतः खण्डस्येन्दुमण्डलस्य पिशाचादीनां पाण्डरस्य च नभस इत्यादि। तथा वातादिवैषम्यात्समुपजनिताऽनेकप्रकारव्याधिः प्रभ्रश्यमानसकलेन्द्रियवृत्तिः स्रस्ताङ्गः ताम्रपीतास्राविलेक्षणो भ्रमदाहश्वासादिपरिगमान्तर्मर्मसन्धिर्जलार्थं दिशोऽवलोकयन् सब्रह्मलोकेष्वपि लोकेषु त्रातारमविन्दन् रागाद्यनेककालात्पक्वेनात्मग्रहेणात्मकार्यकरणोपक्रियमाणबुद्धिर्मन्दमन्देष्वपि स्मृतिप्रलम्भेषु दयितजनस्यात्मनश्चानुस्मरन्दशविधात्कुटुम्बाद्यः प्रभ्रश्यते सोऽयमवश्यम्भावी सर्वसत्त्वानां प्रकृष्टोद्वेगकारी चाभ्युत्पन्नश्चापरिहार्यश्चानियतकालश्च महात्मभिः परमर्ष्यादिभिरन्धतामिस्रशब्देनापदिष्टो मरणकृतं दुःखम्। यच्चेदं दुःखं प्रधानमहदहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतविशेषलक्षणस्य तत्त्वपर्गणश्चैतन्यासम्भवात्पुरुष एव चैतन्यशक्तियोगादुपलभ्यते। तदपि समीक्ष्योक्तमाचार्येण अत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुष इति। आह, जन्मकृतस्योपसंख्यानम्। यथैव हि जरामरणं चात्मनः प्रकृष्टोद्वेगकारकमेवं जन्माऽपि। तथा ह्ययं मातुरुदरे जरायुपरिवेष्टितशरीरोऽमेध्यपरिस्नुतो व्रणमात्रायां गर्भधान्यां यथासुखमसम्भवा-

त्परिपीडितगात्रो मातुरशनादिभिः पीड्यमानो गर्भावासे दुःखमनुभूय पश्चात्संवृतेनास्थिद्वयविवरेण निस्सृतो मूत्ररुधिरकलिलैः परिषिक्तगात्रो बाह्येन वायुना करैश्च संस्पर्शादसिभिरिव तुद्यमानः स्वसंवेद्यं दुःखमात्मनि वर्तमानमाख्यातुमसमर्थः स्वसुखदुःखसामान्यात्परत्र परिकल्पितसुखदुःखबुद्धिभिर्दृढगात्रैरुपचितक्लेशैश्च यात्यमानो जन्मदुःखमनुभवति। तस्मात्तदपि वक्तव्यमिति। उच्यते—न, अव्यापित्वात्। मानुषतिरश्चामेव जन्मकृतं दुःखं भवति न देवानाम्। कथम्? तडिद्विलसितवत्क्षणमात्रेण शरीरप्रादुर्भावात्। जरामरणकृतं तु तेष्वपि न निवर्तते। तस्मात्प्राधान्यादेतदेवोपदिष्टं नेतरदिति। आह, इतरग्रहणाप्रसंगः, तुल्यत्वात्। न हि दैवस्थानेषु जरामरणं वा श्रूयते, तस्मादव्यापित्वात्तयोरप्यग्रहणप्रसंगः। उच्यते—न, स्मृतिवचनात्। जीर्यतेऽनयेति जरा क्षय इत्युक्तं भवति। स च देवभूमावपि भवति। कस्मात्? एवं ह्याह

रजोविषक्तिरङ्गेषु वैवर्ण्यं म्लानपुष्पता।
पतिष्यतां देवलोकात्प्राणिनामुपजायते॥

शक्रादीनां व्याधिश्रवणाच्छरीरक्षयः। एवं ह्याह—"त्वाष्ट्रीयं साम भवति इन्द्रं क्षाममपि न सर्वभूतानि प्रस्वापयितुं नाशक्नुवं स्तमेतेन साम्ना त्वाष्ट्रीयेणास्वापयदिति।" तथा प्रजापतेर्वायुरक्षयीत्। दक्षाभिशापाच्च सोमस्य क्षयः। तथा "प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितॄरदान्नक्षत्राणि, स रोहिण्यामेवावसत्। तान्यनपेक्ष्यमाणानि पुनरगच्छन्। तस्मात् स्वाननुपेयमाना पुनर्गच्छति। तान्यन्वागच्छत्तानि पुनरयाचत। तान्यस्मै न पुनरददात्। साऽब्रवीत्सर्वेष्वेव समासत् वसाथ ते पुनर्दास्यामीति। स रोहिण्यामेवावसत्तस्मिन्ननृते यक्ष्मोऽगृह्णात्। चन्द्रमा वै सोमो राजा यद्राजानं यक्ष्मोऽगृह्णात्तद्राजयक्ष्मस्य जन्म। स तृणमिवाशुष्यत्। स प्रजापता अत्राथत। सोऽब्रवीत्सर्वेष्वेव समावद्वसाथ त्वाऽता मोक्ष्यामीति। तस्माच्चन्द्रमाः सर्वेषु नक्षत्रेषु समावद्वसति। तं वैश्वदेवेन चरुणाऽमावस्यां रात्रीमया यजन्ते नैनं यक्ष्मोदमुञ्चदित्यादि।" तस्माद्देवभूमावपि जराकृतं दुःखमस्ति। तथा मरणकृतं भूम्यन्तरगमनात्तत्रोत्पन्नानां ययातिरुदाहरणम्। तथा गोपथब्राह्मणम्—"देवानां ह वा पञ्चदशशतानि आसंस्तानि ब्रह्मकिल्विषादक्षीयन्त। ततस्त्रयस्त्रिंशदेवासत। तदेतदृचाप्युक्तम्। सोदर्याणां पञ्चदशानां शतानां त्रयस्त्रिंशदुदशिष्यन्त देवाः। शेषाः प्रासीयन्तेति।" श्वेतारण्ये चाऽन्तकस्य रुद्रेणकृतं दुःखमस्तीति। उदाहरणमात्राद्वा। अथवोदाहरणमात्रमेत्र दुःखानाम्। आदिशब्दलोपो वा वक्तव्यः। जरामरणकृतमेवोदाहरणत्वेनाभिप्रेतम्। न पुनर्दुःखान्तरम्। कस्मात्? तत्रापि ह्यादिशब्दलोप उदाहरणमात्रत्वात् शक्त्या परिकल्पयितुमिदमित्युच्यते। न सर्वदुःखास्पदत्वात्। सर्वेषां हि दुःखानामास्पदं जरामरणकृतं साधारणम्। कथम्? तद्बन्धुमित्राणामप्युद्वेगहेतुत्वात्। न तु जन्मकृतम्, सम्बन्धिनां प्रहर्षनिमित्तत्वात्। यतश्च ब्रह्मादौ स्तम्बपर्यन्ते जगति जरामरणकृतं दुःखं न कश्चिदतिवर्तते।

लिङ्गस्याऽविनिवृत्तस्तस्माद् दुःखं समासेन ॥५५॥

सुखलेशस्य तद्व्याप्तत्वात् । यावदिदं लिंगं न निवर्तते तावदवश्यं दुःखेन भवितव्यम् । पर्यायेण संस्कारस्य सामर्थ्याल्लोकान्तरोपपत्तेः । तथा चाह—

सुखं च दुःखं च हि संशयं च वारेणायं सेवते तत्र तत्र ।

कथं पुनर्दुःखेन व्याप्तं सुखमिति चेत्, आब्रह्मणोऽशुद्धिक्षयातिशयोपपत्तेः । तस्याश्च दुःखमूलत्वात् । प्रजापतेरक्षिरोगश्रवणात्, इन्द्रस्य कामोपतापात् । गौतमपरिभवाद् रम्भायाश्चाऽभिशापात्पाषाणभावोपपत्तेः, नागानां सर्पसत्रायासात्, वैश्रवणस्य यस्काभिशापाद्धस्तिभावोपपत्तिः । जरत्कारोः पितॄणां च गर्तेऽवलम्बनात्, पिशाचानां मन्त्रौषधिमङ्गलप्रयोगैरुद्वासनान्मानुषतिरश्चां प्रत्यक्षत एव प्रायेण दुःखास्पदत्वात् । तस्मान्नास्ति संसारे कश्चित्प्रदेशो यत्र सह लिङ्गेनात्मानं दुःखं नावाऽऽप्नुयादित्यत एवं प्रयतितव्यं येन लिङ्गस्यैवात्यन्तोच्छेदः । ततो हि सर्वदुःखानामत्यन्तोपशमः । समासग्रहणं तु सुखमोहयोरवकाशदानार्थम् । अन्यथा संसारे तयोरभाव एवाऽभ्युपगतः स्यात् ॥ ५५ ॥

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः[1] ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—इति, एषः, महदादिविशेषभूतपर्यन्तः, प्रकृतिकृतः, स्वार्थः, इव, परार्थः, आरम्भः, प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्, (वर्तते), ॥ ५६ ॥

शब्दार्थः इति=इस प्रकार, एषः=यह, महदादिविशेषभूतपर्यन्तः=महत्तत्त्व से लेकर आकाशादि महाभूतों तक की, प्रकृतिकृतः=प्रकृति के द्वारा की गयी, स्वार्थः=अपने प्रयोजन के, इव=समान, परार्थः=दूसरे (अर्थात् पुरुष) के लिए, आरम्भः=सृष्टि, प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्=प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिये, (वर्तते=है) ॥ ५६ ॥

अर्थः—इस प्रकार यह महत्तत्त्व से लेकर आकाशादि महाभूतों तक की प्रकृति के द्वारा की गयी, अपने प्रयोजन के समान (प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः) दूसरे (अर्थात् पुरुष) के लिए, सृष्टि प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए है ॥ ५६ ॥

त० प्र०—अत्र तत्त्वनिरूपणसमाप्तिबोधकः इति शब्दः । एषश्च प्रक्रान्तनिर्देशे । महदादिविशेषभूतपर्यन्तः महतः आरभ्य स्थूलभूतपर्यन्तः प्रकृतिकृतः—प्रकृत्यैव विहितः नान्येनेत्यर्थः; स्वार्थः इव प्रतीयमानोऽपि वस्तुतः परार्थः केवलं पुरुषार्थः; आरभ्यते इति आरम्भः महदादिभूतान्तः सर्गः 'प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्'—प्रत्येकपुरुषस्य अपवर्गार्थं दुःखनाशार्थमित्यर्थः वर्तते प्रचलतीति भावः । पुरुषान् मोचयितुं प्रवृत्ता प्रकृतिः यं पुरुषं मोचयति तं प्रति पुनर्न प्रवर्तते इत्यपि ज्ञेयमिति ॥ ५६ ॥

टिप्पणी— स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः—'आरम्भः' का अर्थ है—सृष्टि । प्रकृति का

१—क—इत्येष प्रकृतिकृतः महदादिविषयभूतपर्यन्तः—माठर० ।
ख—इत्येष प्रकृतिकृतः प्रवर्तते तत्त्वभूतभावाख्यः—युक्ति० ।

सृष्टि-कार्य अपने लिये किया गया सा प्रतीत होता है। किन्तु यह वस्तुतः पुरुष के लिए ही होता है। प्रकृति जड़ है। अतः उसका कोई भी कार्य अपने लिये नहीं हो सकता ॥ ५६ ॥

युक्ति०—एवं यथावत्सर्गमुपाख्यायोपसंहरन्नाह—

इत्येष प्रकृतिकृतः प्रवर्तते तत्त्वभूतभावाख्यः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

इतिकरणेन सर्गसमाप्तिं द्योतयति। एष इत्युक्तमपि प्रत्याम्नायार्थं पुनरपेक्षते। प्रकृत्या कृतः प्रकृतिकृतः। अनेन वाक्यपरिसमाप्त्यर्थं वीतावीताभ्यां सिद्धं प्रधानास्तित्वम्। अण्वादि-प्रतिषेधं चापेक्षते। प्रकृतिकृत एव नाऽण्वादिकृतः। प्रवर्तत इति क्रियाप्रबन्धमाह। प्रवृत्तो न प्रवर्त्स्यति किं तर्हि प्रवर्तत एवानन्तानां शरीरादिभावेन परस्परानुग्रहेण च। नेयं क्रिया कदाचिदपि भूतभविष्यद्रूपा भवति। किन्तर्हि वर्तमानरूपा। यथा वहन्ति नद्यः, तिष्ठन्ति पर्वता इति। तत्त्वभूतभावाख्य इत्युक्तानां निगमार्थं प्रत्याम्नायं करोति। तत्त्वाख्यो महदादिर्भावाख्यो धर्मादिर्भूताख्यो व्योमादिः। पुरुषं पुरुषं प्रति विमोक्षः प्रतिपुरुषविमोक्षः। तदर्थं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्। सर्वपुरुषाधिकारनिबद्धायाः सर्वशक्तेर्निराकांक्षीकरणार्थमित्यर्थः। स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः। कार्यकारणभावेन। तत्र कार्यस्य तावच्छब्दादेः स्वार्थ इवेन्द्रियाणां विषयभावः। इन्द्रियाणामप्राप्त-विषयाणां लौल्यमधिष्ठानविकारानुमेयं स्वार्थमिव। करणानां च संकल्पाभिमाना-ध्यवसायानां विषयद्वारिभावोपगमनं मनःप्रभृतीनां च स्वप्रवृत्तिविषयत्वम्। मनोऽहं-कारयोश्च बुद्धौ स्वप्रवृत्त्युपसंहारो बुद्धेश्च शान्तघोरमूढत्वं व्यवसायकर्तृत्वं च सत्त्वर-रजस्तमसां च प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणैर्धर्मैः परस्परोपकारित्वम्। न चैष स्वार्थः, सर्वस्या-चैतन्यात्। किं तर्हि परार्थ एवायमारम्भः संघातत्वादिति।

आह, यदुक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थमयमारम्भ इति तदयुक्तम्। आचार्यविप्रतिपत्तेः। प्रतिपुरुषमन्यत्प्रधानं शरीराद्यर्थं करोति। तेषां च माहात्म्यशरीरप्रधानं यदा प्रवर्तते तदेतराण्यपि। तन्निवृत्तौ च तेषामपि निवृत्तिरिति पौरिकः सांख्याचार्यो मन्यते। तत्कथम-प्रतिषिध्यैका प्रकृतिरभ्युपगम्यते इति? उच्यते—न, प्रमाणाभावात्। न तावत्प्रत्यक्षत एव तच्छक्यं निश्चेतुम्। प्रधानानामतीन्द्रियत्वात्। लिङ्गं चाऽसन्दिग्धं नास्ति। आप्ताश्च नो नाऽभिदधुरतो मन्यामहे नैतदेवमिति। किञ्च एकेनार्थपरिसमाप्तेः। अपरिमितत्वादेतदेकं प्रधानमलं सर्वपुरुषशरीरोत्पादनाय। तस्मादन्यपरिकल्पनानर्थक्यम्। परिमितमिति चेदथ मतम्, परिमितं प्रधानमिति न, उच्छेदप्रसंगात्। एवमपि तस्योच्छेदः प्राप्तः क्षीरवत्। तथा च संसारोच्छेदप्रसंगः। किञ्च अनवस्थाप्रसंगात्। एकस्येश्वरस्य योगिनो वेच्छायोगा-दनेकशरीरत्वम्। तत्परिमितादयुक्तम्। प्रतिशरीरं वा प्रधानपरिकल्पने प्रधानाऽनवस्था भवति। परिमितशरीरकारणत्वाभ्युपगमादन्यपरिकल्पनानर्थक्यम्। ततश्च प्रधानैकत्वमेव।

तस्मादयुक्तं प्रतिपुरुषं प्रधानानीति। यत्तूक्तं माहात्म्यशरीरप्रधानप्रवृत्तावितरेषां प्रवृत्तिस्तन्निवृत्तौ निवृत्तिरित्यत्र ब्रूमः—न, अतिशयाभावात्। यथा क्षेत्रज्ञानां निरतिशयत्वादितरेतराऽप्रवर्तकत्वमेवमेषामपि सातिशयत्वे वा प्रधानानुपपत्तिप्रसंगः, वैषम्यात्। तस्माद्युक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थमेका प्रकृतिः प्रवर्तत इति ॥ ५६ ॥

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

अन्वयः—यथा, वत्सविवृद्धिनिमित्तम्, अज्ञस्य, क्षीरस्य, (स्वयम्), प्रवृत्तिः, तथा, पुरुषविमोक्षनिमित्तम्, प्रधानस्य, (स्वयम्), प्रवृत्तिः, (भवति) ॥ ५७ ॥

शब्दार्थः यथा=जैसे, वत्सविवृद्धिनिमित्तम्=बछड़े के बढ़ने के लिए, अज्ञस्य=अचेतन, क्षीरस्य दुग्ध का, (स्वयम्=स्वतः), प्रवृत्तिः=बहना प्रारम्भ होता है, तथा=वैसे ही, पुरुषविमोक्षनिमित्तम्=पुरुष के मोक्ष के लिए, प्रधानस्य=प्रकृति की, (स्वयम्=स्वतः) प्रवृत्तिः=सृष्टि की ओर उन्मुखता, (भवति=होती है) ॥ ५७ ॥

अर्थः—जैसे बछड़े के बढ़ने के लिए अचेतन दुग्ध का (स्वयं) बहना प्रारम्भ होता है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति की (स्वतः) सृष्टि की ओर उन्मुखता होती है। (अतः जड प्रकृति को सृष्टि-कार्य में लगाने के लिए किसी अन्य प्रेरक की आवश्यकता नहीं है) ॥ ५७ ॥

त० प्र०—अचेतना प्रकृतिः कथमीश्वराधिष्ठानं विना सृष्टिकार्ये प्रवर्तते इति जिज्ञासायामाह—वत्सविवृद्धिनिमित्तमिति;—यथा येन प्रकारेण वत्सविवृद्धिनिमित्तम्,—वत्सस्य किञ्चित्कर्तुमसमर्थप्रायस्य संसारानभिज्ञस्य अन्यावलम्बिनः शिशोः विवृद्धिनिमित्तं पोषणार्थमित्यर्थः, अज्ञस्य=अचेतनस्य परप्रेरकविरहितस्य क्षीरस्य दुग्धस्य परप्रेरणाविरहितं स्वयमेव प्रवृत्तिः प्रवर्तनं प्रवाहो वा भवति, तथैव पुरुषविमोक्षनिमित्तम्—पुरुषस्य विमोक्षनिमित्तं विमोक्षणाय वस्तुतः पुरुषविवृद्ध्यर्थमित्याशयः, प्रधानस्य संसारैककारणस्य जडायाः प्रकृतेरित्यर्थः स्वयमेव प्रवृत्तिः तत्त्वपरिणामोन्मुखता भवति। अयम्भावः—यथा गवा भक्षितं तृणोदकं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं विदधाति, एवमेव पुरुषविमोक्षनिमित्तम् अज्ञमपि प्रधानं सृष्टिकार्ये प्रवर्तते। अतः प्रधानपरिणामार्थम् अधिष्ठातुरन्यस्य कल्पनमसमीचीनमिति ॥ ५७ ॥

टिप्पणी गाय घास खाती है। यह घास ही दूध के रूप में परिणमित होती है। अवसर आने पर बछड़े के पोषण के हेतु गाय के थन से जड भी दूध स्वयं बहने लगता है। उसके लिए किसी दूसरे प्रेरक की आवश्यकता नहीं होती। ठीक इसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिये प्रकृति, बिना किसी दूसरे की प्रेरणा से ही, स्वयं सृष्टि-कार्य में उन्मुख हो जाती है। सृष्टि के भोगों में नाना दुःखों को भोगता हुआ पुरुष अन्त में अपने सही रूप को पहचान कर मुक्त होता है ॥ ५७ ॥

युक्तिः—आह, तदनुपपत्तिराचैतन्यात् । इहाऽचेतनानां घटादीनामुद्दिश्य प्रवृत्तिरदृष्टा । सा चेदियमचेतना प्रकृतिरस्या अप्युद्दिश्य पुरुषार्थं प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । भवति चेच्चैतन्यं तर्हि प्राप्तमस्याः । तत्र यदुक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं प्रकृतेः प्रवृत्तिरिति एतदयुक्तमिति । उच्यते—न, दृष्टान्तोपपत्तेः ।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

यथा क्षीरमचेतनं वत्सविवृद्धिमुदिश्य प्रवर्तते, एवं प्रधानमपि पुरुषविमोक्षमुद्दिश्य प्रवर्तते । न चास्य चैतन्यं स्यात् । साध्यत्वादयुक्तमिति चेत् स्यान्मतम्, साध्यमेतत् किं क्षीरस्योद्दिश्य वत्सविवृद्धिं प्रवृत्तिः, अथ नेति ? तस्मादुदाहरणं साध्यत्वादयुक्तमिति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात् । यत्र नास्ति वत्सविवृद्धिस्तत्र न क्षीरस्य प्रवृत्तिरुपलब्धा । यत्राऽस्ति तत्रोपलब्धा । यद्यस्मिन् सति भवति तस्य तदर्था प्रवृत्तिर्दृष्टा । तद्यथा घटे कुम्भकारस्य । स चाऽयस्मीदृशोऽस्माकमुद्देशोऽभिप्रेतः यदुत तादर्थ्यम् । तस्मान्नास्त्युदाहरणसाध्यत्वमिति । असद्भावाऽभिधानात्सत्कार्यविरोध इति चेन्न, व्यक्तिपर्यायत्वात् । व्यक्तिपर्यायो हि तदिति शास्त्रलोकप्रामाण्यात् । शास्त्रं तावत् सत्तामात्रो महान् व्यक्तिमात्र इत्यर्थः । लोकेऽपि नास्त्यस्मिन्कूपे सलिलमित्युच्यते । न क्वचिदपि कूपे सलिलं नास्त्यभिव्यक्तं न तद् भवति । तस्मान्न सत्कार्यविरोधः । अदृष्टप्रेरणत्वादसिद्धिरिति चेदथ मतं धर्माधर्मप्रेरितं क्षीरं प्रवर्तते न वत्सविवृद्ध्यर्थमिति, तदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? दोषसाम्यात् । धर्माधर्मावचेतनौ विवृद्धिकाले क्षीरं प्रवर्तयतस्तदवसाने च निवर्तयतः । तस्मादित्थमपि परिकल्प्यमाने समानो दोषः । ईश्वरप्रेरणादिति चेत् स्यान्मतम् ईश्वरस्तत्र क्षीरं प्रवर्तयते वत्सार्थं, न स्वयमिति । तदयुक्तम् । कस्मात् ? प्रतिषेधात् । प्राक्प्रतिषिद्धमीश्वरकर्म । तस्मादिदमप्ययुक्तम् । एवं चेदवस्थितो दृष्टान्तः । वार्षगणानां तु यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः । आह, कथमवगम्यते तादर्थ्यादुत्पन्नेन व्यक्तेन पुरुषस्य सम्बन्धो न पुनः सान्निध्यमात्रात्, भिक्षुवदिति ? उच्यते—न, अनपवर्गप्रसंगात् । सान्निध्यमात्रात्पुरुषोपभोगमभ्युपगच्छतो नापवर्गप्रसंगः स्यान्नित्यसान्निध्यात् । तस्मादयुक्तमेतत् । अप्रवर्तयितारं प्रति कार्यकारणाना प्रवृत्तिरयुक्तेति चेत् स्यान्मतम्—अप्रवर्तयिता कृष्यादीनां भिक्षुरतो न तेषामपि तं प्रति प्रवृत्तिः । एवमप्रवर्तयिता कार्यकरणानां पुरुषः । तस्मात्तेषामपि तं प्रति प्रवृत्तिरयुक्तेत्येतदप्यत एवाऽनैकान्तिकम् । वत्सो हि क्षीरस्याऽप्रवर्तयिताऽथ च तं प्रति तस्य प्रवृत्तिः । तस्माद्युक्तमेतत्पुरुषविमोक्षार्था प्रकृतेः प्रवृत्तिर्न चैतन्यप्रसंग इति ॥ ५७ ॥

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—यथा, लोकः, औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्, क्रियासु, प्रवर्तते; तद्वत् अव्यक्तम्,

पुरुषस्य, विमोक्षार्थम्, प्रवर्तते ॥ ५८ ॥

शब्दार्थः—यथा=जैसे, लोकः=व्यक्ति, औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम् स्वेच्छा की पूर्ति के लिये, क्रियासु=कार्यों में, प्रवर्तते=प्रवृत्त होता है, तद्वत् उसी प्रकार, अव्यक्तम्=प्रकृति, पुरुषस्य=पुरुष के, विमोक्षार्थम्=मोक्ष के लिए, प्रवर्तते=प्रवृत्त होती है ॥ ५८ ॥

अर्थः—जैसे व्यक्ति अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये कार्यों में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रकृति (भी) पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होती है (परिणामोन्मुख होती है) ॥ ५८ ॥

त० प्र०—संसारे यथा येन प्रकारेण लोकः जनः औत्सुक्यस्य इच्छायाः निवृत्यर्थं फलप्राप्त्या पूर्त्यर्थं क्रियासु स्वाभीष्टप्रदेषु कार्येषु प्रवर्तते प्रवृत्तो जायते, अनिवृत्तायाः इच्छायाः दुःखप्रदत्वात् । तद्वत् तथैव अव्यक्तं प्रधानमपि पुरुषस्य विमोक्षार्थं कैवल्यार्थं प्रवर्तते परिणमते । पुरुषो भोगानन्तरं मुच्यतामिति यः अभीप्सितो मोक्षस्तत्रैव प्रकृति-प्रवृत्तिः सङ्गतेति ज्ञेयमिति ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्—कारिका का आशय इतना ही है कि—जैसे किसी व्यक्ति की किसी कार्य में प्रवृत्ति एक प्रयोजन से सम्बद्ध होती है, उसी प्रकार प्रकृति की सृष्टि-प्रवृत्ति भी पुरुष के मोक्ष से, अन्तिमरूप में, सम्बद्ध है । यहाँ दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक (जिसके लिये दृष्टान्त दिया जाता है) में अन्तर इतना ही है कि—दृष्टान्त-स्थल में व्यक्ति की कार्य-प्रवृत्ति इच्छापूर्वक होती है और दार्ष्टान्तिक स्थल में प्रकृति की कार्य-प्रवृत्ति स्वभावतः होती है । प्रकृति के जड होने के कारण उसमें इच्छा आदि का उदय मानना सम्भव नहीं है ॥ ५८ ॥

युक्ति०—आह, न, अप्रवृत्तिप्रसंगात् । यदि प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्था प्रवृत्तिस्तेन तदभावे कैवल्यं सिद्धमेवेत्यप्रवृत्तिप्रसंगः । अथ केवले पुरुषे प्रधानं प्रवर्तते न तर्ह्यस्य तदर्था प्रवृत्तिरिति । उच्यते—

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

प्रागेवैतदपदिष्टम्—यथा दृश्यदर्शनशक्तियुक्तत्वादन्यतराभावे च तयोरानर्थक्यात्प्रधान-पुरुषयोरितरेतरसम्बन्धं प्रत्यौत्सुक्यम् । दृष्टा चोपरमार्थाऽपि लोकस्यौत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्याऽप्युपरमार्था प्रवृत्तिः । अथ दृश्यदर्शनशक्त्योरौत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं प्रवर्तत इत्येकत्र कृतार्थत्वादितरेष्वप्रवृत्तिप्रसंग इति चेत् स्यादेतत् । प्रधानमेकस्य पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्योपरमेदेवं दृश्यदर्शनशक्त्योरौत्सुक्यनिवृत्तिर्भविष्यति ॥ ५८ ॥

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्[1] ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५९॥

---

१. नृत्तात्—जयमङ्गला ।

अन्वयः— यथा, नर्तकी, रङ्गस्य, दर्शयित्वा, नृत्यात्, निवर्तते, तथा, प्रकृतिः, पुरुषस्य, (समक्षम्), आत्मानम्, प्रकाश्य, विनिवर्तते ॥ ५९ ॥

शब्दार्थः—यथा=जैसे, नर्तकी=नर्तकी, रङ्गस्य=रङ्गस्थ दर्शकों को, दर्शयित्वा=दिखलाकर, नृत्यात्=नृत्य से, निवर्तते=निवृत्त हो जाती है; तथा=उसी प्रकार, प्रकृतिः=प्रकृति, पुरुषस्य=पुरुष के, (समक्षम् = समक्ष), आत्मानम्=अपने को, प्रकाश्य=प्रकट कर, विनिवर्तते=सर्वदा के लिये सृष्टि कार्य से विरत हो जाती है ॥ ५९ ॥

अर्थः— जैसे नर्तकी रङ्गस्थ दर्शकों को दिखला कर नृत्य से निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट कर (फिर उसके विषय में) सर्वदा के लिये सृष्टि कार्य से विरत हो जाती है ॥ ५९ ॥

त० प्र०—प्रधानार्थस्य स्थानस्य दर्शनान्वयानुपपत्तेः लक्षणयाऽत्र रङ्गशब्देन पारिषदाः उच्यन्ते । यथा येन प्रकारेण नर्तकी नर्तनशीला सर्वसाधारणी स्त्री रङ्गस्य रङ्गस्थस्य सभ्यवृन्दस्य समक्षमिति शेषः; वा रङ्गस्य पुरुषस्य चेत्यत्र कर्मणि षठ्यौ; दर्शयित्वा आत्मनः नृत्यादिकौशलमात्मानञ्चापि प्रदर्श्य कृतप्रयोजना सती नृत्यात् स्वव्यापारभूतात् नर्तनात् निवर्तते विरमति; तथैव प्रकृतिः प्रधानं पुरुषस्य समक्षमात्मानं सर्गद्वारा भोगदां विविक्तां स्वां प्रकाश्य भेदेन प्रदर्श्येत्यर्थः निवर्तते कार्यैर्लीना भवति कैवल्यं प्रदातीति ॥५९॥

टिप्पणी— प्रस्तुत कारिका में कहा गया है कि प्रकृति अपने आप को पुरुष के सामने प्रकट करके (आत्मानं प्रकाश्य) पुनः, उसके विषय में, प्रवृत्त नहीं होती । किन्तु प्रकृति अव्यक्त है । अतः वह प्रत्यक्ष होती ही नहीं । शब्दादि कार्यों से प्रकृति का केवल अनुमान ही किया जाता है । अतः अव्यक्त प्रकृति का प्रत्यक्षात्मक आत्म-प्रकाश किसी भी हालत में सम्भव नहीं है । और यदि यहाँ 'प्रकृति' से उसके अव्यक्त रूप का ग्रहण न करके व्यक्त रूप शब्दादि का ग्रहण करें तो शङ्का यह होती है कि इस रूप का तो पहले से ही प्रत्यक्ष होता रहा है, इस प्रकार प्रकृति की कार्य-निवृत्ति तथा पुरुष का मोक्ष पहले ही हो जाना चाहिए था । इस शङ्का का उत्तर यह है कि-विवेक-ज्ञान के पूर्व शब्द आदि का प्रत्यक्ष 'ये हमारे हैं' या 'ये हमारे भोग के विषय हैं'—इसी रूप में होता है, 'सूक्ष्म तथा अव्यक्त प्रकृति के ही ये स्थूल तथा व्यक्त रूप हैं'— इस रूप में नहीं । सामान्यतः जब ये प्रकृति के रूप में गृहीत ही नहीं होते, तब फिर 'स्वरूप-भूत पुरुष से यह शब्दादि-रूप प्रकृति सर्वदा भिन्न है'—इस रूप में उनके गृहीत होने की बात ही कहाँ उठती है ? ऐसी हालत में प्रकृति का पुरुष से भिन्न रूप में ग्रहण हुए बिना— अर्थात् विवेक ज्ञान के विना—उसकी (प्रकृति की) प्रवृत्ति कैसे रुक सकती है तथा पुरुष मोक्ष का भागी कैसे बन सकता है ? इसके विपरीत शब्दादि रूप जड प्रकृति चेतनरूप मुझ पुरुष से भिन्न है' इस रूप में प्रत्यक्ष की जाने पर तो प्रकृति पुरुष से निवृत्त हो ही जायगी । अतः पूर्वोक्त शङ्का निर्मूल है ॥ ५९ ॥

युक्ति०—अप्रवृत्तिश्चेत्येतदपि नोपपन्नम् । कस्मात् ? दृष्टान्तान्तरसामर्थ्यात् । तद्यथा किम् ? उच्यते—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

तत्र नानावर्णस्वभावविज्ञानानां प्रेक्षार्थिनां पुरुषाणां संघातो रङ्ग इत्युच्यते । नर्तक्याश्च तदाराधना नृतिक्रियाऽनेकपुरुषार्था । यदि वाऽत्र कश्चिद् ब्रूयात् नृत्ताचार्येण कुशीलवैर्वा दृष्टैवेयं कस्मान्न निवर्तते ? कथम् ? अकृतार्थत्वात् । एवं सर्वपुरुषाणां कार्यकारणसम्बन्धेनौत्सुक्यवतां निराकांक्षीकरणार्थं प्रवृत्ता प्रकृतिः कथमेकस्य पुरुषस्यौत्सुक्यनिवृत्तौ कृतार्था स्यात् ? तस्मान्नैकस्य पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य प्रकृतेर्निवृत्तिर्युक्तेति । अत्र च[1]........

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥६०॥

अन्वयः- गुणवती, उपकारिणी, (प्रकृतिः), अपार्थकम्, अगुणस्य, अनुपकारिणः, सतः, तस्य, पुंसः, नानाविधैः, उपायैः चरति ॥ ६० ॥

शब्दार्थ—गुणवती=गुणमयी, उपकारिणी=उपकार करनेवाली, (प्रकृतिः=प्रकृति), अपार्थकम्=निःस्वार्थपूर्वक, अगुणस्य= निर्गुण, अनुपकारिणः=प्रत्युपकार-विहीन, सतः= कभी भी विनष्ट न होने वाले (अविनाशी), तस्य=उस, पुंसः=पुरुष का, नानाविधैः= अनेक प्रकार के, उपायैः=उपायों द्वारा, चरति=कार्य-साधन करती है ॥ ६० ॥

अर्थः–गुणमयी एवं उपकारिणी प्रकृति बिना किसी स्वार्थ के ही निर्गुण तथा प्रत्युपकार-विहीन अविनाशी उस पुरुष का अनेक उपायों द्वारा कार्य साधन करती है ॥ ६० ॥

त० प्र०—यथा गुणवान् कश्चिज्जनः निःस्वार्थं गुणविरहितस्य अतः प्रत्युपकर्तुमशक्तस्य कस्यचिदुपकारं करोति तथैव गुणवती त्रिगुणमयी अतः उपकारिणी सृष्टिकार्येणोपकर्त्री प्रकृतिः अपार्थकम् अपगतोऽर्थः प्रत्युपकारो यस्मात् तत्, निस्स्वार्थमित्यर्थः अगुणस्य गुणविरहितस्य अतः अनुपकारिणः अशक्त्या प्रत्युपकर्तुमसमर्थस्य सतः नित्यस्य तस्य पूर्वकारिकासु वर्णितस्वभावस्य पुंसः पुरुषस्य स्वोपभोक्तुरित्यर्थः नानाविधैः महदहङ्कारेन्द्रियमनःप्रभृतिभिः उपायैः स्वपरिणामविशेषैः चरति आचरति कार्यं साधयतीति यावत् । इत्थं प्रकृतिपरिणामे केवलं पुरुषार्थसाधनमेव न किमपि स्वार्थसम्पादनमिति भावः ॥ ६० ॥

टिप्पणी—गुणमयी प्रकृति का प्रत्येक कार्य पुरुष के लिए ही होता है । उसका कोई भी कार्य अपने लिये नहीं है । किन्तु पुरुष का उपकार करने पर भी वह उससे कुछ भी बदले में नहीं प्राप्त करती । भला काठ की कुर्सी अपने ऊपर बैठने वाले से बदले में कुछ पा भी कैसे सकती है ? ॥ ६० ॥

1–After this the rest of the folia and the next one is the manuscript are left blank. Therefore discussions on four Kārikās are left out.

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

अन्वयः—मे, इति, मतिः, भवति, (यत्), प्रकृतेः, सुकुमारतरम्, किञ्चित्, न, अस्ति, या, दृष्टा, अस्मि, इति, पुनः, पुरुषस्य, दर्शनम्, न, उपैति ॥ ६१ ॥

शब्दार्थः—मे=मेरी, इति=ऐसी, मतिः=धारणा, भवति=होती है, (यत्=कि), प्रकृतेः=प्रकृति से, सुकुमारतरम्=अधिक लज्जालु, किञ्चित्=कुछ (कोई), न=नहीं, अस्ति=है, या=जो, दृष्टा=देख ली गयी, अस्मि=हूँ, इति = ऐसा सोच कर, पुनः= फिर, पुरुषस्य पुरुष के, दर्शनम्=दृष्टि को, न=नहीं, उपैति=प्राप्त होती ॥ ६१ ॥

अर्थः—मेरी ऐसी धारणा है कि प्रकृति से अधिक लज्जालु कोई भी नहीं है, जो '(पुरुष के द्वारा मैं) देख ली गयी हूँ' ऐसा सोच कर फिर उस पुरुष की दृष्टि में कभी नहीं आती ॥ ६१ ॥

त० प्र०—नर्तकीवत् पुनः कदाचित् प्रवर्तिष्यते ? इत्याशङ्कासमाधानाय कारिकामवतारयति—प्रकृतेरिति । मे ईश्वरकृष्णाचार्यस्य इति इत्थं मतिः धारणा निश्चयो वा भवति वर्तते, यत् प्रकृतेः प्रधानात् सुकुमारतरं सलज्जं किञ्चिन्नास्ति, प्रकृत्यपेक्षयाऽधिकं न कोऽपि लज्जाशीलः इति भावः । नपुंसकनिर्देशस्त्वत्र सामान्ये, इति ज्ञेयम् । या प्रकृतिः अनेन पुरुषेण दृष्टा विवेकतः अवलोकिता अस्मीति कृत्वा पुनः मुहुः तस्य विवेकिनः पुरुषस्य स्वरूपेणावबुद्धस्यात्मनः दर्शनं दृष्टिं भोग्यविषयतामित्यर्थः न उपैति न गच्छतीत्यर्थः । यथा काचित् कुलवधूः परपुरुषेण दृष्टा सती 'न पुनः तद्दर्शनं मे भविष्यति' इति विचार्य आकारगुप्तिं करोति, तथैव पुरुषेण ज्ञानपूर्वकं दृष्टा प्रकृतिः तस्य दूरादेव चरति, न पुनः तस्य भोग्यतां गच्छति । यथेन्द्रजालं तज्ज्ञातुः स्वप्रभावं न दर्शयति, निःसारमिव प्रतिभाति, तथैव विवेकिनः प्रकृतिकृतः परिणामोऽपि निःसारमाकर्षणशून्यं प्रतिभाति; इदमेव प्रकृतेः सुकुमारतरत्वं पुरुषाद्दूरापसरणञ्चेति दिक् ॥६१॥

टिप्पणी—इन्द्रजाल को जानने वाला व्यक्ति उससे प्रभावित नहीं होता । इन्द्रजाल का सारा प्रभाव उस व्यक्ति के ऊपर से हट कर दूर चला जाता है । ठीक इसी प्रकार, प्रकृति तथा अपने को तत्त्वतः जानने वाला पुरुष प्रकृति के परिणामों में रमता नहीं है, आनन्द नहीं लेता है । प्रकृति उससे दूर पड़ जाती है । यही प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ लज्जा है । यही उसका पुरुष से दूर हटना है ॥ ६१ ॥

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते [1]नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

१—क–तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते—तत्त्वकौमुदी
ख–तस्मान्न बध्यतेऽसौ न मुच्यते—युक्ति०

अन्वयः—तस्मात्, कश्चित्, (पुरुषः), न, बध्यते, नापि, मुच्यते, नापि, संसरति, नानाश्रया, प्रकृतिः, (एव), संसरति, बध्यते, मुच्यते, च ॥ ६२ ॥

शब्दार्थः—तस्मात्=इसलिए, कश्चित्=कोई, (पुरुषः=पुरुष), न=नहीं, बध्यते=बन्धन में पड़ता है, नाऽपि=न तो, मुच्यते=मुक्त ही होता है, नाऽपि=न तो, संसरति=संसरण ही करता है; नानाश्रया अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली, प्रकृतिः=प्रकृति, (एव=ही), संसरति=संसरण करती है, बध्यते=बन्धन में पड़ती है, मुच्यते=मुक्त होती है ॥ ६२ ॥

अर्थः—इसलिए कोई पुरुष न तो बन्धन में पड़ता है, न मुक्त ही होता है और न संसरण ही करता है। अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली, प्रकृति ही संसरण करती है, बन्धन में पड़ती है, और मुक्त भी होती है ॥ ६२ ॥

त० प्र०—बन्धमोक्षौ पुरुषस्य अविवेकादेव, न तु स्वाभाविकौ इति प्रदर्शयितुमुच्यते - तस्मान्नेति। यस्मात् पुरुषो मुक्तः, पुरुषः तटस्थः, पुरुषोऽकर्त्तेत्यादिः तस्मात् कारणात् कश्चित् पुरुषः वस्तुतो न बध्यते, यतः न बध्यतेऽतो मोक्षापेक्षाऽपि तस्य नास्ति, अतः आह नापि मुच्यते मुक्तो जायते, नापि संसरति संसरणं करोति। दृश्यते हि बद्धस्य लोके संसरणम्। स्वभावात् मुक्तः सर्वगतः पुरुषोऽतः नैव संसरतीति भाव। कस्तर्हि बध्यते, मुच्यते तथा संसरतीति जिज्ञासायामुच्यते—संसरतीति;—नानाश्रया कृतनानापुरुषाश्रया प्रकृतिरेव संसरति, बध्यते तथा मुच्यते च। प्रकृतिगतौ भोगापवर्गौ संसर्गात् पुरुषेषूपचर्येते, दृश्यते हि लोके सैनिकगतौ जयपराजयावपि अन्यस्मिन् संसर्गशालिनि स्वामिनि सेनानायके वोपचर्येते। विवेकाग्रहात् प्रकृतगतभावाः पुरुषेषु ज्ञायन्ते: सति विवेके पुरुषाः कैवल्यभाजो भवन्ति। अनेन निश्चीयते पुरुषाणां संसारित्वमौपाधिकमिति दिक् ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—पुरुष सर्वदा शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त है। ऐसी अवस्था में उसका वास्तविक बन्धन और उसके बाद मुक्त होना यह सब ठीक नहीं बैठता। अतः सांख्य का कहना है कि—प्रकृति का ही बन्धन, मोक्ष तथा संसरण होता है। संसर्ग के कारण ये प्रकृति के बन्धन आदि पुरुष में उपचरित (व्यवहृत) होते हैं, जैसे सेना का जय-पराजय स्वामी का जय-पराजय कहा जाता है। पुरुष के बन्धन आदि औपाधिक हैं, नकि तात्त्विक ॥ ६२ ॥

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥६३॥

अन्वयः—प्रकृतिः, आत्मना, सप्तभिः, रूपैः, आत्मानम्, एव, बध्नाति; च, सा, एव, एकरूपेण, पुरुषार्थम्, प्रति, (आत्मानम्, एव), विमोचयति ॥ ६३ ॥

शब्दार्थः—प्रकृतिः=प्रकृति, आत्मना—स्वयं, सप्तभिः=सात, रूपैः=रूपों द्वारा, आत्मानम्=अपने को, एव=ही, बध्नाति=बाँधती है; च=और, सा=वह, एव=ही, एक-

रूपेण=(अपने) एक रूप द्वारा, पुरुषार्थम्=पुरुषार्थ, प्रति=के लिये, (आत्मानम्=अपने को, एव=ही), विमोचयति=मुक्त करती है ॥ ६३ ॥

अर्थः—प्रकृति स्वयं धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, एवं अनैश्वर्य इन) सात रूपों द्वारा अपने को ही बाँधती है, और वही (अपने) एक रूप द्वारा (अर्थात् ज्ञान के द्वारा) पुरुषार्थ के लिये अपने आप को ही मुक्त करती है (अर्थात् फिर उसी पुरुष के प्रति भोग और मोक्ष नहीं उत्पन्न करती है) ॥ ६३ ॥

त० प्र० प्रकृतिः त्रिगुणात्मकं प्रधानम् आत्मना स्वेनैव सप्तभिः धर्मवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यादिभिः सप्तसंख्याकैः रूपैः भावै आत्मानमेव स्वमेव न तु पुरुषं बन्धाति कर्माशयरूपं बन्धनं विदधाति । तथा पुनरन्ते सा प्रकृतिरेव स्वकीयेनैकरूपेण विवेकख्यात्येत्यर्थः पुरुषार्थं प्रति पुरुषस्य भोगापवर्गौ प्रति आत्मनमेव विमोचयति विमुक्तां करोति पुनर्भोगापवर्गौ न विदधातीत्यर्थः । पुरुषोऽज्ञानेन प्रकृतिगतौ बन्धमोक्षौ स्वस्मिन्नभिभावयति, न तु तस्य वास्तविकौ बन्धमोक्षाविति भावः ॥ ६३ ॥

टिप्पणी विमोचयति–'विमोचयति' का भाव यह है कि फिर उसी पुरुष के प्रति भोग और मोक्ष नही उत्पन्न करती है ॥ ६३ ॥

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६४॥

अन्वयः—एवम्, तत्त्वाभ्यासात्, न, (अहम्, शरीरम्), अस्मि, न, मे, (भोक्तृत्वम्, अस्ति), न, अहम्, (कर्त्ता, अस्मि), इति, अपरिशेषम्, अविपर्ययात्, विशुद्धम्, केवलम्, ज्ञानम्, उत्पद्यते ॥ ६४ ॥

शब्दार्थः–एवम्=इस प्रकार, तत्त्वाभ्यासात्=तत्त्व के अभ्यास से, न=न, (अहम्=मैं, शरीरम्=शरीर), अस्मि=हूँ; न=न, मे=मेरा, (भोक्तृत्वम्=भोक्तृत्व–भोक्तापन, अस्ति=है); न=न, अहम्=मैं, (कर्त्ता=कर्त्ता, अस्मि=हूँ), इति=इस तरह, अपरिशेषम्=सम्पूर्ण, अविपर्ययात्=भ्रमादि से रहित होने के कारण, विशुद्धम्=विशुद्ध, केवलम्=वास्तविक, ज्ञानम्=ज्ञान, उत्पद्यते=उत्पन्न होता है ॥ ६४ ॥

अर्थः—इस प्रकार तत्त्व के अभ्यास से 'न (मैं शरीर) हूँ', 'न मेरा (भोक्तृत्व=भोक्तापन है)' और 'न मैं (कर्त्ता ही हूँ)'—इस तरह सम्पूर्ण, भ्रमादि से रहित होने के कारण विशुद्ध, तथा वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ६४ ॥

त० प्र०—एवमेतत् शास्त्रोक्तेन विधिना तत्त्वाभ्यासात् तत्त्वानां सांख्यशास्त्रे वर्णितानां प्रकृतिपुरुषादीनां पञ्चविंशतितत्त्वानाम् अभ्यासात् आलोचनाभ्यासात्—'नाऽस्मि' अहं शरीरादिकं नाऽस्मि, अनेन पुरुषातिरिक्ते स्थूलसूक्ष्मवस्तुनि आत्मता प्रतिषिद्धा । 'न मे' न मम वस्तुतः भोक्तृत्वमस्ति, अनेनाऽऽत्मनि भोग्यविषयिणीच्छा निषिद्धा । 'नाऽहम्' अहं कर्त्ता नाऽस्मि, अनेनात्मनि अहंकर्तृता निषिद्धा । इति इत्थम् अपरिशेषं यावज्ज्ञातव्य-

मखण्डं समग्रं वेत्यर्थः अविपर्ययात् विपर्ययशून्यत्वात्, विपर्ययादिकं तु ज्ञानस्य अविशुद्धिकारकमिति, विशुद्धं संशयाद्यमिश्रं केवलं मोक्षदायकं ज्ञानमुत्पद्यते पुरुषस्येति शेषः ॥६४॥

युक्ति०—कार्यकरणक्रियासाक्षी पुरुषः। तस्माद्ये भौतिकाः शिरपाण्यादयो ये चाहंकारिकाः श्रवणादयो वचनादयः संकल्पाभिमानाध्यवसायाश्च ते लक्षणविपर्ययात्—नाहं नाष्टौ प्रकृतयः। तदेतदेवं तत्त्वानामभ्यासैकाग्रमनसो यतेः पुनः पुनरभ्यासात् एकस्याप्यस्मितारूपस्य परिकल्पितविषयभेदप्रतिषेधमुखेन

नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।

आप्रकृतेः प्रतिपक्षग्रहणात्

अविपर्ययात्

पञ्चस्रोतसोऽस्याऽविद्यापर्वणो निवृत्तेः शान्तं ध्रुवं सकलभावानुबन्धप्रतिपक्षभूतं धर्माद्याप्यायितस्य बुद्धितत्त्वस्याऽसन्दिग्धमविपरीतं

विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

आह, विशुद्धं केवलम्। अन्यतराऽनभिधानमर्थाभेदात्। यदेव विशुद्धं तदेव केवलमित्यर्थाभेदादन्यतरच्छक्यमवक्तुमिति। उच्यते—गुणान्तररूपनिवृत्तिहेतुत्वात्। रजस्तमोधर्माणां तावद् ग्रहणाच्छुद्धं संशयविपर्ययव्यतिरिक्तं च केवलं क्षेत्रज्ञपरिज्ञानेऽपूर्वमेव इति ॥ ६४ ॥

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः[1] ॥६५॥

अन्वयः—तेन, प्रेक्षकवत्, अवस्थितः, स्वस्थः, पुरुषः, निवृत्तप्रसवाम्, अर्थवशात्, सप्तरूपविनिवृत्ताम्, प्रकृतिम्, पश्यति ॥ ६५ ॥

शब्दार्थः—तेन=इससे, प्रेक्षकवत्= द्रष्टा के समान, अवस्थितः=स्थित (निष्क्रिय), स्वस्थ=अपने स्वरूप भाव को प्राप्त, पुरुषः=पुरुष, निवृत्तप्रसवाम्=(अपने प्रति भोग और विवेक-ज्ञान इत्यादि) परिणाम न उत्पन्न करने वाली, अर्थवशात्=विवेक ज्ञान के सामर्थ्य से, सप्तरूपविनिवृत्ताम्=धर्म, अधर्म इत्यादि सात रूपों से रहित, प्रकृतिम्=प्रकृति को, पश्यति=देखता है ॥ ६५ ॥

अर्थः—विवेकख्याति के कारण, द्रष्टा के समान स्थित (निष्क्रिय) तथा अपने स्वरूपभाव को प्राप्त पुरुष (अपने प्रति भोग और विवेक ज्ञान इत्यादि) परिणाम न उत्पन्न करने वाली, विवेक ज्ञान के सामर्थ्य से, धर्म, अधर्म आदि सात रूपों से रहित प्रकृति को देखता है ॥ ६५ ॥

त० प्र०—तेन विवेकज्ञानेन, विवेकख्यातौ सत्यामित्यर्थः, प्रेक्षकवत् प्रेक्षकेन तुल्यः, अवस्थितः स्थितः निष्क्रियः इति भावः, स्वस्थः स्वस्मिन् भावे स्थितः स्वरूपापन्नः न तु

१—स्वच्छः—तत्त्वकौमुदी।

प्रकृतिभावापन्नः, ततः प्रकृतेर्निवृत्तत्वात् इति यावत्, पुरुषः निवृत्तप्रसवां निवृत्तभोगापवर्ग-व्यापाराम् अर्थवशात् विवेकज्ञानरूपो यो अर्थः पुरुषार्थः तस्य वशः सामर्थ्यं तस्मात् सप्त-रूपविनिवृत्तां यैः सप्तभिः धर्मादिभिः रूपैः आत्मानं बध्नाति, भोगरूपाय पुरुषार्थाय आत्मानं समर्पयति वा, तेभ्यः सप्तभ्यो रूपेभ्यः संसारकारणेभ्यः विनिवृत्तां निर्वर्तितां विरहितां वा प्रकृतिं प्रधानं पश्यति अवलोकयति। एतस्यामवस्थायां ज्ञानबलेनाभि-भूतत्वात् प्रकृतिः तथैव न प्रसूते यथा सजलक्षेत्रे निपतितमपि निस्तुषं धान्यं न प्ररोह-तीति। अत्रेदं ध्येयं सत्यां विवेकख्यातौ पुरुषः निवृत्तप्रसवां प्रकृतिं पश्यतीत्युक्तम्, तेनेदं प्रतीयते यत् विवेकख्यात्यात्मकसात्त्विकप्रकाशयुक्तया, बुद्धया तदाप्यस्य मनाक् संसर्गोऽस्त्येव, अन्यथा प्रकृतिदर्शनाऽनुपपत्तिरिति ॥ ६५ ॥

टिप्पणी— प्रकृतिं पश्यति - इससे प्रतीत होता है कि चेतन पुरुष का सात्त्विक बुद्धि से थोड़ा थोड़ा सम्पर्क तो मुक्ति प्राप्त की अवस्था में भी बना रहता है, अन्यथा इस रूप में प्रकृति को उसके द्वारा देखना ही असम्भव हो जायगा ॥ ६५ ॥[1]

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥६६॥

अन्वयः—एकः, मया, (सा), दृष्टा, इति, उपेक्षकः, (भवति), अन्या, (तेन), अहम्, दृष्टा, इति, उपरमति; (इत्थम्), तयोः, संयोगे, सति, अपि, सर्गस्य, प्रयोजनम्, नास्ति ॥ ६६ ॥

शब्दार्थः—एकः=एक (अर्थात् चेतन पुरुष), मया=मेरे द्वारा, (सा वह), दृष्टा देख ली गयी, इति=यह विचार करके, उपेक्षकः=उदासीन, (भवति=हो जाता है); अन्या=दूसरी (अर्थात् प्रकृति), (तेन=उस पुरुष के द्वारा), अहम्=मैं, दृष्टा=देख ली गयी, इति-इस कारण से, उपरमति=व्यापार-शून्य हो जाती है; (इत्थम्=इस प्रकार), तयोः=उन दोनों के, संयोगे-संयोग, सति=होने पर, अपि=भी, सर्गस्य= सृष्टि–प्रकृति-व्यापार का, प्रयोजनम्=प्रयोजन, नास्ति=नहीं रहता है ॥ ६६ ॥

अर्थः—एक (अर्थात् चेतन पुरुष) 'मेरे द्वारा वह देख ली गयी' – यह विचार करके उदासीन हो जाता है। दूसरी (अर्थात् प्रकृति) 'उस पुरुष के द्वारा मैं देख ली गयी' -इस कारण से व्यापार-शून्य हो जाती है। इस प्रकार उन दोनों के संयोग होने पर भी सृष्टि-व्यापार का कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥ ६६ ॥

त० प्र०—एकः केवलः विशुद्धः पुरुषः मया सा संसारकारणीभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः दृष्टा तत्त्वतः भिन्नत्वेन ज्ञाता इति विचार्य उपेक्षकः भवति उपरमते, तद्भोगा-द्यावेशविहीनो जायते इत्यर्थः, अन्या संसारस्य मूलकारणीभूता प्रकृतिः तेन पुरुषेण अहं दृष्टा यथार्थतः ज्ञाता, विवेकेनावलोकिता इत्यर्थः, इति अनेन प्रकारेण उपरमति

1. Commentar on 65-66 and a part of the 67 KāriKā is lost.

व्यापाराद्विरमते, तं पुरुषं प्रति पुनर्न भोगापवर्गौ जनयतीत्यर्थः । ननु प्रकृतिपुरुषौ सर्वगतौ, अतः सर्वदा संयुक्तौ, कथं तर्हि प्रकृतिव्यापारनिरोधः स्यादित्याशङ्कायामुच्यते—सति संयोगेऽपीति; - इत्थं तयोः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगे संसर्गे सत्यपि जातेऽपि सर्गस्य प्रकृतिव्यापारस्य प्रकृतिपरिणामस्य वा प्रयोजनं भोगापवर्गरूपहेतुः नास्ति । प्रयुज्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या तदानीं भोगापवर्गरूपप्रयोजककारणाभावे प्रकृतिः परिणामं न जनयतीति भावः । इत्थं विवेकख्यातिमन्तं पुरुषं प्रति प्रकृतिः परिणामं न जनयतीति दिक् ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—उपेक्षकः, उपरमति —लोक में भी देखा जाता है कि व्यक्ति नर्तकी का नृत्य देख चुकने पर उसके प्रति उदासीन हो जाता है । उसके नृत्य को पुनः आगे देखने के लिये उसमें अभिरुचि नहीं रह जाती है । ठीक यही अवस्था पुरुष की भी है । प्रकृति के परिणामों को भोग लेने के अनन्तर ज्ञान होने पर वह प्रकृति के प्रति एकदम उदासीन हो जाता है ।

दूसरी ओर जब नर्तकी यह जान लेती है कि हमारे नृत्य को परिषद् ने देख लिया तो वह नृत्य से विरत हो जाती है । इसी प्रकार पुरुष के द्वारा पहले भोगी गयी और बाद में तत्त्वतः देखी गयी प्रकृति भी परिणाम उत्पन्न करने से विरत हो जाती है ॥६६॥

सम्यक् ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्र[1]मिवद्धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—सम्यक्, ज्ञानाधिगमात्, धर्मादीनाम्, अकारणप्राप्तौ, संस्कारवशात्, चक्रभ्रमिवत्, धृतशरीरः, तिष्ठति ॥ ६७ ॥

शब्दार्थः—सम्यक्=भली प्रकार (अर्थात् आत्मसम्बन्धी), ज्ञानाधिगमात्=ज्ञान की प्राप्ति से, धर्मादीनाम्=धर्म, अधर्म आदि के, अकारणप्राप्तौ=बीजभाव (उत्पादकत्व) के नष्ट हो जाने पर, संस्कारवशात्=(प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट) संस्कारों के सामर्थ्य से; चक्रभ्रमिवत्=(कुँम्हार की) चाक के घूमने के समान, धृतशरीरः=शरीर धारण करने वाला (साधक), तिष्ठति रहता है ॥ ६७ ॥

अर्थः – आत्म-ज्ञान की प्राप्ति से (सञ्चित) धर्म, अधर्म आदि कर्मों के बीजभाव (उत्पादकत्व) के विनष्ट हो जानेपर (भी, प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट) संस्कारों के सामर्थ्य से; कुम्हार की चाक के घूमने के समान; शरीर धारण करके साधक रहता है (अर्थात् साधक उसी प्रकार शरीर धारण किये रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गयी कुम्हार की चाक, पुनः दण्ड से न चलाये जाने पर भी, पूर्व उत्पन्न वेग से घूमती रहती है) ॥ ६७ ॥

त० प्र०—सति ज्ञाने पुरुषो विमुच्यते तर्हि कथन्न सद्यः तस्य शरीरपातो जायते इत्याशंकायामुच्यते—सम्यगिति;—सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञानोच्छेदक्षममात्मज्ञानम्, तस्य

१—चक्रभ्रमवत्—गौडपाद; माठर; जय०, युक्तिदीपिका ।

अधिगमात् प्राप्तेरित्यर्थः; धर्मादीनां देहारम्भकारणीभूतानां सञ्चितानां धर्माधर्मादीनाम् अकारणप्राप्तौ दग्धबीजभावात् स्वफलोत्पादनासमर्थे सति संस्कारवशात् देहारम्भकादृष्ट-बलात् प्रारब्धभोगस्यापूर्णत्वादित्यर्थः धृतशरीरः आत्मज्ञानी तथैव तिष्ठति यथा कुलाल-व्यापारशान्तावपि वेगवशात् चक्रभ्रमिस्तिष्ठति। पुनः क्षीणे प्रारब्धभोगे शरीरं परित्य-जतात्यलम् ॥ ६७ ॥

युक्ति०—आह, तत्समकालमेव शरीरस्य पातः प्राप्नोति। सति ध....

वस्थानेनाज्ञानहेतुकं शरीरमिति। उच्यते—अज्ञानहेतुकं शरीरम्। अथ चायं नानात्वदर्शी।

धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।

तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

य....शरीरान्तरोपार्जिता धर्मादयो न तावत्कारणम्। बुद्धिः........मुपसंप्राप्ता अकृतार्थत्वाद् बुद्धिश्च प्रधानं तदा तिष्ठत्ययं नानात्वदर्शी तस्य संस्कारस्य सामर्थ्यात्। को दृष्टान्तः? चक्रभ्रमवद्धृतशरीरः। तद्यथा कुम्भकारप्रयत्नविशिष्टेन दण्डेन घटादि-निष्पत्तियोग्यक्रिया चक्रस्य भ्रमः। तेन तुल्यं चक्रभ्रमवत्। यथा चक्रभ्रमणं घटार्थम्। निष्पन्ने घटे पूर्वसंस्कारानुरोधान्न निवर्तते न च तदा निवृत्तमिति कृत्वा संस्कारक्षयेऽप्य-वतिष्ठते, एवं सम्यग्दर्शनार्थं शरीरं सम्यग्ज्ञानाऽधिगमेऽपि न निवर्तते पूर्वसंस्कारवशात्। न च तदा निवृत्तमिति कृत्वा संस्कारक्षयेऽप्यवस्थाप्यत इति ॥ ६७ ॥

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।

ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

अन्वयः—शरीरभेदे, प्राप्ते, चरितार्थत्वात्, प्रधानविनिवृत्तौ, (सः), ऐकान्तिकम्, आत्यन्तिकम्, उभयम्, कैवल्यम्, आप्नोति ॥ ६८ ॥

शब्दार्थः—शरीरभेदे=शरीर-पात, प्राप्ते=हो जाने पर, चरितार्थत्वात्=प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने के कारण, प्रधानविनिवृत्तौ=प्रकृति के (ज्ञानी के प्रति) परिणाम बन्द कर देने पर, (सः=वह ज्ञानी), ऐकान्तिकम्=ऐकान्तिक, आत्यन्तिकम्=आत्यन्तिक, उभयम्=दोनों प्रकार का, कैवल्यम्=मोक्ष, आप्नोति=प्राप्त करता है ॥ ६८ ॥

अर्थः—शरीर-पात हो जाने पर भोग और अपवर्ग—दोनों ही प्रयोजनों (पुरुषार्थों) के पूण हो जाने के कारण प्रकृति के (ज्ञानी के प्रति) परिणाम बन्द कर देने पर वह (ज्ञानी) ऐकान्तिक और आत्यन्तिक—दोनों प्रकार का मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ६८ ॥

त० प्र०—भोगेन प्रारब्धविनाशात् शरीरस्य भेदो नाशस्तस्मिन् प्राप्ते सति, लिङ्ग-भौतिके उभयविधे शरीरे विनष्टे यथासम्भूते विलीने इत्यर्थः, चरितार्थत्वात् भोगापवर्ग-

रूपार्थस्य सम्पादनेन कृतकृत्यात् प्रधानस्य प्रकृतेः विनिवृत्तौ प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिमन्तं पुरुषं प्रति विरतपरिणामायां सः पुरुषः ऐकान्तिकमवश्यम्भावि आत्यन्तिकमविनाशि, इत्युभयगुणविशिष्टं कैवल्यं दुःखत्रयविगमनरूपम् आत्मस्वरूपभावम् आप्नोति प्राप्नोति। अधिगतात्मसाक्षात्कारवान् निर्मलः पुरुषः भोगेन प्रारब्धे विनष्टे सति अवश्यमात्यन्तिकं दुःखविनाशं प्राप्नोतीति सारांशः ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—ऐकान्तिकम्—निश्चितरूप से; आत्यन्तिकम्—अविनाशी (अर्थात् नित्य) ॥ ६८ ॥

युक्ति०—यदा तु संस्कारक्षये तन्निमित्तस्य शरीरस्य भेदः, अतः

प्राप्ते शरीरभेदे

धर्माधर्मौ कृतार्थौ कारणे बुद्धिलक्षणे लयं गच्छतः। यश्चास्य भूतावयवः शरीरारम्भकः स सर्वभूतेषु भूतानि तन्मात्रेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्राणि चाहंकारे, अहंकारो बुद्धौ बुद्धिरव्यक्ते। सेयं तत्त्वानुपूर्वी तदर्थं प्रधानादुत्पन्ना परिसमाप्ते पुनः प्रधाने प्रलयं गच्छति। प्रधानमप्यर्थवशादेवास्य शरीराणि तेषु तेषु जात्यन्तरपरिवर्तेषु करोति। स चार्थश्चरितार्थः। अतः

चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।

अतीन्द्रियमसंवेद्यं लघु सर्वत्र सन्निहितं प्रशस्तमनिर्मितं विशुद्धमक्षयं निरतिशयम्

एकान्तमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

एतच्चावस्थानं बौद्धैर्निरुपधिशेषनिर्वाणलक्षणमवर्गो व्याख्यातः। एतत्परं ब्रह्म ध्रुवममलमभयमत्र सर्वेषां गुणधर्माणां प्रतिप्रलयः। एतत्प्राप्य सर्वायासैः सर्वबन्धनैरनादिकालप्रवृत्तरागद्वेषवियुक्तो मुक्तो भवति। एतदर्थं ब्राह्मणा दयितपुत्रदारधनसम्बन्धमपहाय गुरुशुश्रूषापराः शरीरमरण्येषु यातयन्ति। कथं नामैकान्तिकमात्यन्तिकं च कैवल्यं स्यादिति। यत्रैवोत्थानं शास्त्रस्य तत्रैवोपसंहार आचार्येण कृतः ॥ ६८ ॥

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—गुह्यम्, इदम्, पुरुषार्थज्ञानम्, परमर्षिणा, समाख्यातम्, (अस्ति); यत्र, भूतानाम्, स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः, चिन्त्यन्ते ॥ ६९ ॥

शब्दार्थः—गुह्यम्=अत्यन्त कठिन, इदम्=यह, पुरुषार्थज्ञानम्=पुरुष के अपवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला ज्ञान, परमर्षिणा=महर्षि कपिल के द्वारा, समाख्यातम्=कहा गया (अस्ति=है), यत्र=जिस ज्ञान में, भूतानाम्=भूतों की, स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः=सृष्टि, स्थिति तथा विनाश, चिन्त्यन्ते=विचारे जाते हैं ॥ ६९ ॥

अर्थः—पुरुष के अपवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला, अत्यन्त कठिन, यह

ज्ञान महर्षि कपिल के द्वारा कहा गया है। जिस ज्ञान (अर्थात् जिस ज्ञान की प्राप्ति के लिये) भूतों की सृष्टि, स्थिति तथा विनाश का विचार किया जाता है ॥ ६६ ॥

त० प्र०—पुरुषार्थज्ञानमिति—गुह्यं साधारणजनानां दुरवबोधमिदं सांख्यपरिभाषितं पुरुषार्थज्ञानं पुरुषस्य अर्थः मोक्षरूपं प्रयोजनं येन तादृशं ज्ञानं परमर्षिणा भगवता कपिलेन समाख्यातं सम्यगुक्तमस्ति। यत्र ज्ञाने भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः अवस्थानाविर्भावतिरोभावाः चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते, तेषां सम्यगनुशीलनात् पञ्चविंशतितत्त्वविवेचनात्मकं ज्ञानं सम्पद्यते इति ॥ ६६ ॥

युक्ति०—आह, किमर्थं पुनरिदं शास्त्रं केन वा पूर्वं प्रकाशितमिति ? उच्यते—यदुक्तं किमर्थमिति—

पुरुषार्थार्थमिदम्

कथं नामाज्ञानवशात्तत्संस्कारोपनिपतितानां प्राणिनामपवर्गः स्यादित्येवमर्थमिदं शास्त्रं व्याख्यातम्। यत्तूक्तं केनेति उच्यते—

गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।

गुह्यमिति गूहनीयम्। रहस्यमकृतात्मनां यमनिमेष्वनवस्थितानामादरादप्यनध्येयम्। परमर्षिभगवान्सांसिद्धिकैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैराविष्टपिण्डो विश्वाग्रजः कपिलमुनिः। तेन कपिलमुनिना समाख्यातम्। सम्यगाख्यातम्, चिराभ्यस्तस्य विद्यास्रोतसो निर्वचनसामर्थ्यात् स्यादेतत्, कथमिदं गुह्यमिति ? उच्यते—कथं वेदं गुह्यं न स्यात् ? भवाग्रोत्पन्नैरपि सनकसनातनसनन्दनसनत्कुमारप्रभृतिभिरनित्यानां

स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते च यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

तत्र स्थितिस्तावद्रूपप्रवृत्तिफलनिर्देशेनोत्पत्तिरपि प्रकृतेर्महानित्यादिः। प्रलयोऽप्यविभागाद्वैश्वरूप्यस्येति वचनात्। औत्सुक्याऽनुपरमात्प्रकृतिपुरुषयोः स्थितिरुत्पत्तिर्दृश्यदर्शनशक्त्योः सापेक्षत्वात्। तथा चोक्तं—

पुरुषस्य दर्शनार्थः कैवल्यार्थस्तथा प्रधानस्य।
षङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ इति (का० २१)

प्रलयः प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्ताविति (का० ६८)। अथवा स्थितिक्षणभङ्गप्रतिषेधात्कालान्तरेष्वस्यानाशादुत्पत्तिर्विपरिणामान्नाभूतप्रादुर्भावादकस्मादसम्भवात्, प्रलयोऽपि निमित्तान्तरात्तत्स्वाभाव्यादेव भूतानामपि व्यक्तानां निष्पत्तिमतामिति यावत्। एवं च महदादयोऽपि परिगृहीता इति। आह, पुरुषादयस्तर्हि परित्यक्ताः। कथं वा भूतशब्द इति ? उच्यते—वितथप्रतिषेधार्थत्वात्। यावत् किञ्चिदवितथं भूतं तस्य सर्वस्येह स्थित्यादय उच्यन्त इति। उत्पत्तिविनाशप्रतिषेधाविशेषात्। एवमपि पुरुषादीनामुत्पत्तिप्रलयावपि प्राप्नुतः। किं कारणम् ? अविशेषादिति। उच्यते—सम्भवतो विशेषणं भवति। तत्र स्थितिरेव पुरुषादीनाम्। इतरेषां तु स्थित्युत्पत्तिप्रलया इति विज्ञास्यामः ॥ ६९ ॥

एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

अन्वयः—मुनिः, अनुकम्पया, एतत्, पवित्रम्, अग्र्यम्, तन्त्रम्, आसुरये, प्रददौ, आसुरिः, अपि, पञ्चशिखाय, (प्रददौ), च, तेन, बहुधा, कृतम् ॥ ७० ॥

शब्दार्थः—मुनिः=महर्षि कपिल ने, अनुकम्पया=कृपा करके, एतत्=इस, पवित्रम्=पवित्र, अग्र्यम्=श्रेष्ठ, तन्त्रम्=दर्शन को, आसुरये=आसुरि को, प्रददौ=दिया; आसुरिः=आसुरि ने, अपि=भी, पञ्चशिखाय=पञ्चशिख को (प्रददौ=दिया), च=तथा, तेन=उनके द्वारा, बहुधा=खूब विस्तृत, कृतम्=किया गया ॥ ७० ॥

अर्थः—महर्षि कपिल ने कृपा करके इस पवित्र एवं श्रेष्ठ दर्शन को (ज्ञान को) आसुरि को दिया, आसुरि ने भी पञ्चशिख को दिया और उन्होंने इसे खूब फैलाया ॥ ७० ॥

त० प्र०—भगवान् परमकारुणिकः कपिलमुनिः अनुकम्पया दयया एतत् वर्णितं पतनात्त्रायते इति पवित्रम् अग्र्यं सर्वेभ्यो दर्शनेभ्यः प्राचीनं सर्वेभ्यो पवित्रेभ्यो मुख्यमपि तन्त्रं तन्त्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते पदार्थाः यस्मिन् तत् तन्त्रं सांख्यदर्शनं सांख्यज्ञानं आसुरये 'आसुरि' नाम्ने शिष्याय प्रददौ, आसुरिरपि स्वशिष्याय पञ्चशिखाय मुनये प्रददौ, तेन च पञ्चशिखेनर्षिणा बहुधा कृतं बहुषु शिष्येषु विस्तारितमिति ॥ ७० ॥

टिप्पणी—तन्त्रम्—'तन्त्र' का अर्थ होता है—सिद्धान्त, दर्शन, ज्ञान ॥ ७० ॥

युक्ति०—आह, कस्मै पुनरिदं शास्त्रं परमर्षिणा प्रकाशितमिति ? उच्यते—

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।

तत्र पवित्रं पावनात् । अग्र्यं सर्वदुःखक्षपणसमर्थत्वात् । पवित्रान्तराणि पुनरेकदेशं क्षालयन्त्यघमर्षणगङ्गादीनि । तस्मादिदमेवाग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ । आह, सम्प्रदानस्याकस्मिकत्वम्, धर्मादिनिमित्ताऽनुपपत्तेः । न तावत्परमर्षेर्धर्मार्थं शास्त्रप्रदानमुपपद्यते, फलेनाऽनभिष्वङ्गात् । नार्थकामार्थम्, शिष्याणामनायासप्रसंगात् । न मोक्षार्थम्, सांसिद्धिकेनैव ज्ञानेन तत्प्राप्तेः । तस्माद्विपरीतार्थाऽसम्भवात् परिशेषादकस्मादाचार्यः शास्त्रनिधानं प्रददाविति । उच्यते नाऽकस्मात्, किं तर्हि अनुकम्पया प्रददौ । आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकैर्दुःखैः पीड्यमानमासुरिमुपलभ्य स्वात्मनि च ज्ञानसामर्थ्यात्सति कार्यकारणसम्प्रयोगे दुःखानामप्रवृत्तिं परिज्ञाय शिष्यगुणांश्च कथं नाम यथा मम सुखदुःखेषु ज्ञानोपनिपातात्साम्यमेवमासुरेरपि स्यात्तद्द्वारेणाऽन्येषामपि पुरुषाणामेवमनुकम्पया भगवान्परमर्षिः शास्त्रमाख्यातवान् । यथा च परमर्षिरासुरये तथा

आसुरिरपि

दशमाय कुमाराय भगवत्—

पञ्चशिखाय

तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

बहुभ्यो जनकवशिष्ठादिभ्यः समाख्यातम् । अस्य तु शास्त्रस्य भगवतोऽग्रे प्रवृत्तत्वान्न शास्त्रान्तरवद् वंशः शक्यो वर्षशतसहस्रैरप्याख्यातुम् ॥ ७० ॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
सङ्क्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥

अन्वयः— शिष्यपरम्परया, आगतम्, एतत्, सिद्धान्तम्, आर्यमतिना, ईश्वरकृष्णेन, सम्यक्, विज्ञाय, आर्याभिः, सङ्क्षिप्तम् ॥ ७१ ॥

शब्दार्थः—शिष्यपरम्परया=शिष्यों की परम्परा से, आगतम्=आया हुआ, एतत्=यह, सिद्धान्तम्=सिद्धान्त (ज्ञान), आर्यमतिना=विशुद्ध बुद्धिवाले, ईश्वरकृष्णेन=ईश्वरकृष्ण के द्वारा, सम्यक्=भलीभाँति, विज्ञाय=जानकर, आर्याभिः=आर्या छन्द के माध्यम से, सङ्क्षिप्तम्=संक्षेप में कहा गया है ॥ ७१ ॥

अर्थः—शिष्यों की परम्परा से आया हुआ यह सिद्धान्त (ज्ञान) विशुद्ध बुद्धिवाले ईश्वरकृष्ण के द्वारा भलीभाँति जानकर आर्या छन्द में संक्षिप्तरूप से कहा गया है ॥७१॥

त० प्र०—शिष्यपरम्परया शिष्यक्रमेण आगतं प्राप्तमधिगतं वा एतत्सांख्यसिद्धान्तमार्यमतिना आर्या विशुद्धा मतिः बुद्धिः यस्य तेन ईश्वरकृष्णेन सम्यग्विज्ञाय अध्ययनभावनाभ्यां सम्यगालोच्येत्यर्थः, आर्याभिः आर्याछन्दवद्धैः पद्यैरित्यर्थः, संक्षिप्तं संक्षिप्य प्रतिपादितमिति ॥ ७१ ॥

युक्ति०—संक्षेपेण तु द्वाव....हारीतवाद्धलिकैरातपौरिकार्षभेश्वरपञ्चाधिकरणपतञ्जलिवार्षगण्यकौण्डिन्यमूकादिक—

शिष्यपरम्परयाऽऽगतम्

भगवानीश्वरकृष्णश्च साहायकं शास्त्रम् । पूर्वाचार्यसूत्रप्रबंधे गुरुलाघवमनाद्रियमाणः पौरस्त्यान्याख्यानव्या....नगर्भमतिप्रमादं ददातीति ग्रन्थभूयस्त्वमुपजायते । तच्चेदानीन्तनैः प्राणिभिरल्पत्वादायुषो ग्रन्थत एव न सूपपादं किं पुनः श्रवणप्रयोगाभ्याम् । आह च—चतुर्भिः प्रकारैर्विद्या सूपयुक्ता भवति—आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रयोगकालेन च । तत्र चास्यागमकालेनैवायुः पर्युपयुक्तं स्यात्ततश्च शास्त्रानर्थक्यम् । इत्यस्य मन्दधियामप्याशु ग्रहणधारणप्रयोगसम्पत्स्यादिति षष्टितन्त्रादुपाख्यानगाथाव्यवहितानि वाक्यान्येकत उपमृद्य शिष्यानुकम्पार्थं यावत्

ईश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।

सप्तत्या

संक्षिप्तमार्यमतिना

सर्वसत्त्वहितप्रवृत्तेन

सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥

कथं चाऽस्य सम्यक्सिद्धान्तविज्ञानस्याप्यनेकग्रन्थशतसहस्राख्येयं सांख्यपदार्थं सतत्त्वमखण्डमार्याणां सप्तत्या संक्षिप्तवान् ॥७१॥

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि[1] ॥ ७२ ॥

अन्वयः—आख्यायिकाविरहिताः, च, परवादविवर्जिताः, अपि, सप्तत्याम्, ये, अर्थाः, (वर्णिताः, सन्ति), ते, अर्थाः, किल, कृत्स्नस्य, षष्टितन्त्रस्य, (सन्ति) ॥ ७२ ॥

शब्दार्थः—आख्यायिकाविरहिताः=आख्यायिकाओं से रहित, च=तथा, परवादविवर्जिताः=दूसरों के खण्डन-मण्डन से विरहित, अपि=भी, सप्तत्याम्=सत्तरकारिकाओंवाली इस सांख्यकारिका में, ये=जो, अर्थाः=पदार्थ, तत्त्व, (वर्णिताः=कहे गये, सन्ति=हैं), ते=वे, अर्थाः=पदार्थ, तत्त्व, किल=निश्चय ही, कृत्स्नस्य=समग्र, षष्टितन्त्रस्य=षष्टितन्त्र के, (सन्ति=हैं) ॥ ७२ ॥

अर्थः—आख्यायिकाओं से रहित तथा दूसरों के खण्डन-मण्डन से भी विहीन, सत्तरकारिकाओं वाली इस सांख्यकारिका में, जो पदार्थ (तत्त्व) कहे गये हैं, वे सभी पदार्थ सम्पूर्ण 'षष्टितन्त्र' के हैं ॥ ७२ ॥

त० प्र०—आख्यायिकाविरहिताः कथागतदृष्टान्तादिविहीनाः तथा परवादविवर्जिताः परमतोद्धरणखण्डनरहिताश्चापि सप्तत्यां कारिकासप्तत्यां ये अर्थाः पदार्थाः वर्णिताः सन्ति ते सर्वे पदार्थाः कृत्स्नस्य समग्रस्य, अनेन सांख्यकारिका निखिलषष्टितन्त्रसारभूतेति सूचितम्, षष्टितन्त्रस्य षष्टि पदार्थाः यस्मिन् शास्त्रे तन्त्र्यन्ते तत् षष्टितन्त्रं तस्य पुरुषप्रकृत्यादिषष्टिपदार्थव्युत्पादनपरस्येत्यर्थः । ग्रन्थान्तरे षष्टिपदार्थाः इत्थं गणिताः,—

"पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिरहङ्कारो गुणास्त्रयः ।
तन्मात्रमिन्द्रियं भूतं मौलिकार्थाः स्मृताः दश ॥
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ।
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम् ॥
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ।" इति शम् ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—षष्टितन्त्रस्य—'षष्टितन्त्र' उस ग्रन्थ को कहते हैं, जिसमें साठ तत्त्वों का वर्णन या विवरण हो ॥ २७ ॥

ग्रामोऽस्ति गम्भीरपुरं मीरजापुरमण्डले ।
विन्ध्यक्षेत्राङ्किते यत्र त्रिपाठिब्राह्मणान्वये ॥ १ ॥
जातो रामसुमेराह्वो बुधः परमधार्मिकः ।
तस्य भार्याऽञ्जनानाम्नी शङ्करस्य सती यथा ॥ २ ॥

---

१. चेति—माठर०

प्रासूत चतुरः पुत्रान् प्राणौपम्येन संस्मृतान् ।
येषां ज्येष्ठो रामरूपो दयाधर्मान्वितः सुधीः ॥ ३ ॥
त्रिवेणीशङ्करः ख्यातः पण्डितोऽस्ति द्वितीयकः ।
रमाशङ्करनामाऽहं व्याख्याकृत्तु तृतीयकः ॥ ४ ॥
वात्सल्यभाङ्नः सततं चतुर्थो हरिशङ्करः ।
सहायभूतः सर्वेषामेषां स्नेहानुवर्धितः ॥ ५ ॥
सोऽहं सम्प्रार्थये मूलं परमात्मानमीश्वरम् ।
हृदयग्राहिणी भूयात् कृतिः कान्ता विदां मम ॥ ६ ॥

"ॐ नमः शिवाय:"

युक्ति०—आह च—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥७२॥

यतश्च नारायणमनुजनकवशिष्ठद्वैपायनप्रभृतिभिराचार्यैः प्रधानपुरुषादयः पदार्थाः परिगृहीताश्चोपदिष्टाश्च प्रशस्ताश्चातः स्वभावतः प्रसिद्धमैश्वर्यस्य फलत ऋद्धया आर्यमार्गमलंकर्तुमिति भगवदीश्वरकृष्णेन पदार्थस्वरूपनिरूपणनिपुणसारमतिना परमर्ष्यादियथोक्तागमेन प्रमाणत्रयं पुरस्कृत्य तर्कदृशा विचारः कृतः । न चास्य मूलकनकपिण्डस्येव स्वल्पमपि दोषजातमस्तीति ॥ ७२ ॥

आह च—

अज्ञानध्वान्तशान्त्यर्थमृषिचन्द्रमसश्च्युता ।
मलिनैस्तीर्थजलदैश्छाद्यते ज्ञानचन्द्रिका ॥
इति सद्भिरसम्भ्रान्तैः कुदृष्टितिमिरापहा ।
प्रकाशिकेयं सर्गस्य धार्यतां युक्तिदीपिका ॥

स्फुटाभिधेया मधुरापि भारती मनीषिणो नोपखलं विराजते ।
कृशानुगर्भाऽप्यभितो हिमागमे कदुष्णतां याति दिवाकरद्युतिः ॥
नयन्ति सन्तश्च यतः स्वशक्तितो गुणं परेषां तनुमप्युदारताम् ।
इति प्रयात्वेष मम श्रमः सतां विचारणाऽनुग्रहमात्रपात्रताम् ॥

॥ इति युक्तिदीपिकायां सांख्यसप्ततिपद्धतौ चतुर्थं प्रकरणमेकादशं चाह्निकं सम्पूर्णम् ॥

कृतिरियं श्रीवाचस्पतिमिश्राणां (?)